First Edition : 1000 Copies

Copies of this book can be had direct from Jain Samskrti Samrakshaka Sangha Santosha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs. 6/-per copy, exclusive of postage

जीवराज जैन ग्रन्थमालाका परिचय

सोलापूर निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचदजी दोशी कई वर्षोसे ससार से उदासीन होकर धर्मकार्य मे अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० मे उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित सपत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमे करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोसे साक्षात् और लिखित सम्मतियाँ इस बातकी सग्रह कीं कि कौनसे कार्यमे सपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुट मतसचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्म कालमे ब्रह्मचारीजीने तीर्थ-क्षेत्र गजपथा (नासिक) के शीतल वातावरणमे विद्वानोकी समाज एकत्र की और ऊहापोह पूर्वक निर्णयके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन सस्कृति तथा साहित्यके समस्त अगोंके सरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतुसे 'जैन सस्कृति सरक्षक सघ' की स्थापना की और उसके लिए ३००००) तीस हजारके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रह-निवृत्ति बढ़ती गई, और सन् १९४४ मे उन्होने लगभग २,००,०००) दो लाखकी अपनी सपूर्ण सपत्ति सघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी। इस तरह आपने अपने सर्वस्वका त्याग कर दि. १६-१-५७ को अत्यन्त सावधानी और समाधानसे समाधिमरणकी आराधना की। इसी संघके अतर्गत 'जीवराज जैन ग्र थमाला' का सचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी ग्रन्थमालाका नौवा पुष्प है।

प्रकाशक

गुलाबचद हीराचद दोशी,
जैन सस्कृति सरक्षक सघ,
सोलापूर

मुद्रक

शिवनारायण उपाध्याय
नया ससार प्रेस,
भदैनी, वाराणसी
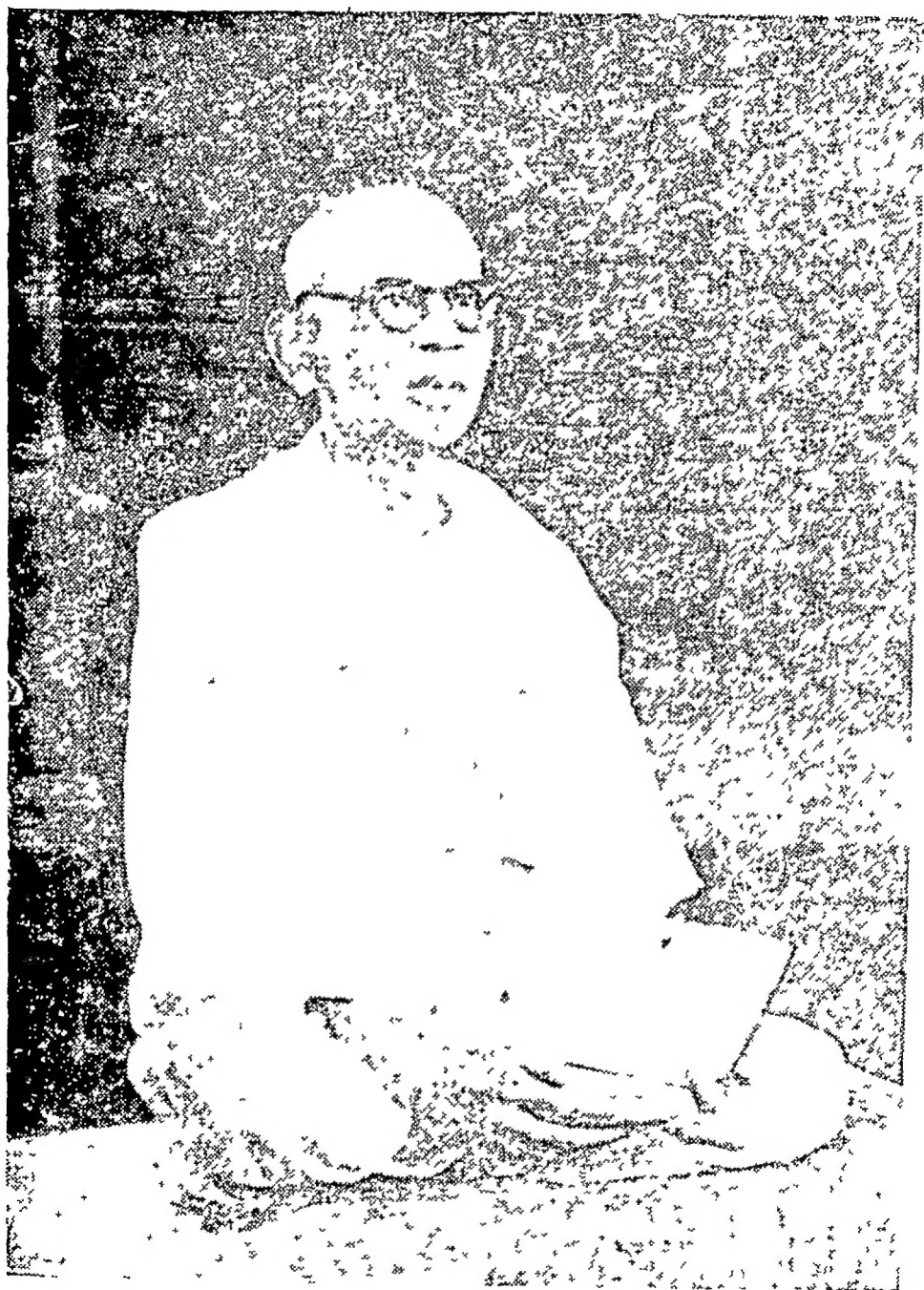
स्व. ब्र. जीवराज गौतमचन्द्र जी

कुन्द-कुन्द प्राभृत संग्रह

[कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार और षट्प्राभृत, से विषयवार संकलित तथा द्वादशानुप्रेक्षा, दशभक्ति और समयसार सम्पूर्ण, हिन्दी अनुवाद सहित]

सम्पादक—

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री,

प्रधानाचार्य श्री स्याद्वाद महाविद्यालय

वाराणसी ।

वीर संवत २४८६] मूल्य ६) रुपये [१९६०

ग्रन्थमाला के सम्पादकों का वक्तव्य

आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं का जैन साहित्य में अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक तो इन रचनाओं में आध्यात्मिक तत्त्व का जैसा प्ररूपण पाया जाता है वैसा अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। काल की दृष्टि से भी ये रचनाएँ डेढ हजार वर्ष से कम प्राचीन नहीं है। उनकी प्राकृत भाषा व शैली भी अपना वैशिष्ट्य रखती है। उनकी उपलभ्य रचनाओं की संख्या भी १०–१२ है। दिगम्बर सम्प्रदाय में इन आचार्य की प्रतिष्ठा इतनी है कि वे तीर्थंकर महावीर और उनके प्रमुख गणधर गौतम स्वामी के पश्चात् ही मंगल रूप से स्मरण किये जाते है।

कुन्दकुन्द की रचनाओं मे जैन धर्म व सिद्धान्त की सभी प्रमुख बातों का समावेश हो गया है। किन्तु ये सब विषय वहाँ बिखरे हुए पडे है। किसी प्रस्तुत विषय पर उन्होंने कहाँ क्या अभिमत व्यक्त किया है इसका पता लगाना सहज नही है। इन ग्रन्थों का ऐतिहासिक व विषयात्मक परिचय इस ग्रन्थमाला के सम्पादकों में से एक (डा० एन एन० उपाध्ये) द्वारा प्रवचनसार की प्रस्तावना में विस्तार से कराया जा चुका है। किन्तु समस्त वस्तु का विषय-वार वर्गीकरण का कार्य शेष रहा था। इसकी प्रस्तुत ग्रन्थ मे पूर्ति करने का प्रथम बार प्रयत्न किया जा रहा है। इस प्रयास के गुण भी है और दोष भी। एक बडा गुण तो यह है कि उससे एक-एक विषय पर कर्त्ता के समस्त विचार पाठक को एकत्र प्राप्त हो जाते है। किन्तु इसमें दोष यह है कि कर्त्ता ने जिस किसी बात को जिस प्रसंग में कही है उसे उस प्रसंग से निकाल कर भिन्न प्रसंग में जोड़ने से कुछ भ्रान्ति भी उत्पन्न हो सकती है। जिन गाथाओं को नियत विषयों में से कहीं भी संगृहीत नहीं किया जा सका और छोड़ दिया गया उनके कारण भी ऐसे संकलनों पर से यह दावा करना कठिन है कि यहाँ कर्त्ता द्वारा प्रतिपादित समस्त सिद्धान्त का विधिवत् वर्गीकरण हो गया। इसका प्रमाण स्वयं इस संकलन में ही वर्तमान है। अन्य ग्रंथों में से तो कांट-छांट करके उद्धरणों का चुनाव किया गया है, किन्तु समयसार को यहाँ अविकल रूप से जैसा का तैसा उद्धृत कर दिया गया है, क्योंकि उसमें कमी-वेशी व प्रकरणों के स्थानान्तरण से अनर्थ उत्पन्न होने की सभावना का निवारण नहीं किया जा सकता था।

किन्तु इस सब के होते हुए भी पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री का कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओं का यह विषयवार संकलन, सुबोध हिन्दी अनुवाद सहित, एक बडी आवश्यकता की पूर्त्ति करेगा ऐसी हमें आशा है। कर्त्ता और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में सभी ज्ञातव्य विषयों का पंडित जी ने अपनी प्रस्तावना में विस्तार से विवेचन किया है जिससे उन पाठकों को विशेष रूप से लाभ होगा जो प्रवचनसार की उक्त अंग्रेजी प्रस्तावना का उपयोग नहीं कर सकते। प्रवचनसार का वह संस्करण अब दुष्प्राप्य भी हो गया है और इस कारण भी प्रस्तुत ग्रंथ की प्रस्तावना का स्वागत करने योग्य है। यहाँ विषय का विवेचन भी पण्डित जी ने अधिक विस्तार से किया है जो बडा महत्वपूर्ण है। इस ग्रंथ के द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य के सिद्धान्तों के अध्ययन की एक नई सुविधा उत्पन्न हुई है। इसके लिये हम विद्वान सम्पादक के बहुत कृतज्ञ है तथा जीवराज ग्रन्थमाला समिति ने जो इसे प्रकाशित करना स्वीकार किया इसके लिये उन्हे भी धन्यवाद है।

मुजफ्फरपुर—१६।३।६०
कोल्हापुर —२४।३।६०

हीं० ला० जैन
आ० ने० उपाध्ये
ग्रन्थमाला सम्पादक

सम्पादक के दो शब्द

१९५२ की बात है। पूज्य क्षुल्लक श्री प० गणेश प्रसाद जी वर्णी श्री सम्मेद शिखर की ओर पैदल विहार करते हुए मार्ग में डालमियानगर ठहरे हुए थे। उस अवसर पर दानवीर साहू शान्ति प्रसाद जी भी वहाँ धार्मिक चर्चा में निमग्न थे। प्रति दिन कुन्दकुन्दाचार्य के पट् प्राभृत का वाचन चलता था; और साहू जी बिना किसी विस्तार के मूल गाथा का अर्थ मात्र श्रवण करते थे। उसमें उनका अभिप्राय ग्रन्थकार का मात्र हार्द समझना था।

वहीं से मेरे चित्त में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का मूलानुगामी अनुवाद मात्र करने का विचार उत्पन्न हुआ, और जहाँ तक भी शक्य हो उनके कथन के सम्बन्ध में अपनी ओर से विशेष कुछ लिखना उचित नहीं समझा, जिससे पाठक अनुवादक के द्वारा किये गये विवरणों के बोझ से बोझिल न होकर स्वतंत्र रूप से कुन्दकुन्द के कथनों के सम्बन्ध में ऊहापोह कर सकें।

उसके पश्चात् कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में जैन सिद्धान्त, जैन आचार के किन किन विषयों पर क्या क्या कहा है, यह मेरी जिज्ञासा हुई; क्योंकि कुन्दकुन्द जैन परम्परा के एक महान और प्राचीन ग्रन्थकार हैं। अतः जैन तत्त्वज्ञान का और जैनाचारके क्रमिक विकास के अध्येता के लिये उनके मन्तव्यों को जानना आवश्यक है।

इसलिये मैने जो ग्रन्थ निर्विवाद रूप से कुन्दकुन्दकृत माने जाते हैं, उनमें प्रतिपादित विषयों का विषयवार सकलन करके तब अपना अनुवाद कार्य प्रारम्भ किया। इसके लिए मैंने कुन्दकुन्द के पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार नियमसार, बारह अनुप्रेक्षा, दशभक्ति, और षट्प्राभृतों (दर्शन प्राभृत, चारित्र प्राभृत, सूत्र प्राभृत, बोध प्राभृत, भाव प्राभृत और मोक्ष प्राभृत) को चुना। और समयसार को मैने अन्त में अविकल ही देना उचित समझा क्योंकि वह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें काट छांट करने से अर्थ का अनर्थ होना भी सभव है। दूसरे इस संकलन का मेरा एक उद्देश्य मात्र समयसार प्रेमियों के सामने कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों को रखना भी है। आजकल ऐसा देखा जाता है कि कुछ भाई समयसार का तो स्वाध्याय करते हैं किन्तु कुन्दकुन्द के ही अन्य ग्रन्थों की ओर ध्यान नहीं देते। एक ही ग्रन्थकार के

द्वारा विभिन्न ग्रन्थों में किये गये कथनों को न देखने से और मात्र समयसार का ही अवलोकन करने से स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य के भी अभिप्राय को समझने में भ्रम होने की सभावना रहती है और उससे अर्थ का अनर्थ भी होना सम्भव है।

अतः समयसार का प्रत्येक प्रेमी पाठक एक बार कुन्दकुन्द के ही अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित वस्तु तत्त्वकी झलक ले सके, इस दृष्टि से भी समयसार को अन्त में अविकल देकर उससे पहले संकलित भाग को दिया है।

जो गाथा कुन्दकुन्द के जिस ग्रन्थ से ली गई है, उसके नीचे उसकी क्रमसंख्या के साथ उस ग्रन्थ का संक्षिप्त नाम भी साथ में दे दिया गया है। इससे पाठक को उसे मूलग्रन्थ में देखने में कठिनाई नहीं होगी।

संशोधन—संकलन करते समय पञ्चास्तिकाय, आदि मुद्रित ग्रन्थों का ही उपयोग किया गया है। समयसार का जो मूल पाठ जयसेनाचार्य के सामने था, उसके पाठों में अमृतचन्द्र की टीकावाली प्रतियों में पाये जाने वाले पाठ से अन्तर है। अतः जयसेन की टीका तात्पर्यवृत्ति के विशेष पाठों को पाद टिप्पण में 'ता० वृ०' के संकेत के साथ दे दिया है।

षट् प्राभृतों का संशोधन नीचे लिखी प्रतियों के आधार से किया गया है। दि० जैन पंचायती मन्दिर देहली से प्राप्त प्रति नं० ऊ ३, ऊ ४ (ख) और ऊ ४ (ग)।

१—प्रति न० ऊ ३ का संकेत 'ऊ' है। यह मूल प्रति शुद्ध है। यह वि० सं० १५८१ की लिखी हुई है। इसके अन्त की लेख प्रशस्ति इस प्रकार है—

'अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्री विक्रमादित्य राज्ये सवत् १५८१ वर्षे मार्गसिर शुदी ११ शुभदिने मंगलवासरे हिसार वेरोजाकोट्टे सुरित्राण इबराहिम साहिराज्य प्रवर्तमाने श्रीकाष्टासंघे ब्रह्म जू लिखापित इदं शास्त्रं।'

२—प्रति ऊ ४ (ख) और ऊ ४ (ग) का संकेत 'ग' है। ये दोनों प्रतियां समान हैं। दोनों में मूल गाथाओं का सस्कृत में शब्दार्थ मात्र दिया है। ऊ ४ (ग) सम्वत् १७४८ में उग्रसेनपुर में लिखी गई है।

यथा—सम्वत् १७४८ वर्षे जेष्ठ शुदि ६ तिथीन्दुवारे लिखी श्री उग्रसेनपुरे विजयगच्छे मुनिश्री ५ गोवर्द्धन जीका सा शिष्य खेमचन्द्रेण स्ववाचनाय। और प्रति ऊ४ (ख) सं० १७४३ में लिखी गई है।

३ 'आ' प्रति श्रीमहावीर जी की है। इसमें जो सं० टीका है, यद्यपि वह

श्रुतसागर की टीका का ही संक्षिप्त रूप है। किन्तु कहीं-कहीं, जहाँ श्रुतसागर की टीका मूल के अनुरूप नही है वहाँ उससे इसमें अन्तर भी है।

देहलीके दि०जैन पंचायती मन्दिरकी प्रतियां लाला पन्नालालजी अग्रवाल दिल्लीके द्वारा प्राप्त हुई थीं। तथा श्री महावीरजीकी प्रति भारतीय ज्ञानपीठ काशी के व्यवस्थापक श्री बाबूलालजी फागुल्ल के द्वारा प्राप्त हुई थी। इसके लिए मै इन दोनों महाशयों तथा उक्त भण्डारों के व्यवस्थापकों का आभारी हू।

जीवराज जैन ग्रन्थमाला के मंत्री डा० ए० एन० उपाध्ये तथा उनके सहयोगी डा० हीरालालजी जैन के प्रयत्न से श्री जीवराज जैनग्रन्थमाला की प्रबन्ध समिति ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित करना स्वीकार किया इसके लिए मैं प्रबन्ध समिति का तथा डा० उपाध्ये तथा डा० हीरालालजी का आभारी हूं। डा० उपाध्ये ने इसका अन्तिम प्रूफ देखकर ग्रन्थ के मूल प्राकृत भाग का संशोधन करने का भी कष्ट उठाया है तथा प्रवचनसार की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावना का उपयोग करने की स्वीकृति दी। इसके लिये मै उनका विशेष रूप-से आभारी हूँ।

जीवराज ग्रन्थमाला के व्यवस्थापक श्री सुभापचन्द अकोले तथा नया संसार प्रेस वाराणसी के सचालक पं० शिवनारायण उपाध्याय ने भी ग्रन्थ के प्रकाशन मुद्रण आदि की व्यवस्था में पूरा सहयोग किया है एतदर्थ उनका भी आभारी हूँ।

मेरे इस प्रयत्न के फलस्वरूप यदि स्वाध्याय प्रेमीजनों ने कुन्द कुन्दाचार्य के समयसार की ही तरह उनके अन्य ग्रन्थों का भी अनुगम करने की ओर लक्ष्य दिया तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूँगा।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी
वी. नि.सं. २४८६, वि. स.२०१६
भदैनी, वाराणसी।

कुंदकुन्दाचार्य के चरणारविन्द का चञ्चरीक
कैलाशचन्द्र शास्त्री

भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यकी अमृतमयी वाणीका

रसपान करनेमें निमग्न

मुमुक्षुजनोंके कर-कमलोंमें

सादर समर्पित—

प्रस्तावना

[1]आचार्य श्री कुन्दकुन्द

जैन परम्पराके आचार्योंमें श्री कुन्दकुन्दका जो महत्त्व है वह अनुपम है। उनके महत्त्वका ख्यापन करने वाला एक श्लोक अति प्रसिद्ध है—

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

'भगवान महावीर मङ्गलरूप हैं, गौतम गणधर मङ्गलरूप है, कुन्दकुन्दाचार्य मङ्गलरूप हैं, और जैन धर्म मङ्गलरूप है।

इसमें भगवान महावीर और उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरके पश्चात् कुन्दकुन्दको स्थान दिया गया है, जो इस बातका सूचक है कि कुन्द-कुन्द का स्थान जैनाचार्योंमें सर्वोपरि माना गया है। दक्षिणसे प्राप्त जैन शिला-लेखोंमेंसे अधिकांशमें कुन्द'कुन्दान्वयका निर्देश मिलता है जो इस बातका सूचक है कि जैन परम्पराके आचार्य वगैरह अपनेको कुन्दकुन्दान्वयका कहलानेमें गौरव अनुभव करते थे। आज भी जैन परम्परामें आचार्य कुन्दकुन्द-का मान सर्वोपरि है। और एक कविके शब्दोंमें उस परम्पराके अनुयायियों की यह आम धारणा है कि—'हुए, न है न होहिंगें मुनींद कुन्दकुन्दसे।

कुन्दकुन्दके इस महत्त्वके कारणोंके अनुसंधानके लिये हमें उनके इतिहास और साहित्यका परिशीलन करना होगा।

---

१ दि० जैन परम्पराके चार संघ अति प्रसिद्ध है—द्रविड़, नन्दि, सेन और काष्ठा सघ। अंगदिसे प्राप्त शिलालेख नं०१६६ में द्रविड़ सघ कोण्डकुन्दा-न्वय का निर्देश है। जै० शि० स० भाग० ३ के शिलालेख नं० ५३८में सेन गणके साथ कुन्दकुन्दान्वय जुड़ा है। देशियगण तो कुन्दकुन्दान्वयसे सम्बद्ध ही था। नन्दिगण भी मूलसघ कुन्दकुन्दान्वय, देशिय गण, पुस्तक गच्छसे सम्बद्ध था।

ऐतिहासिक[1] परिशीलन

कुन्दकुन्दाचार्यके सम्बन्धमें उनके ग्रन्थों, टीकाकारों, ऐतिहासिक लेखों तथा परम्परागत कथाओंसे जो जानकारी प्राप्त होती है वह इस प्रकार है—

१ आचार्य कुन्दकुन्दने बारस अणुवेक्खा (द्वादश अनुप्रेक्षा) के सिवाय अन्य किसी ग्रंथमें अपना नाम तक नहीं दिया। केवल बोधप्राभृतके[3] अन्तमें अपनेको भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है।

२ कुन्दकुन्दके प्रथम टीकाकार अमृतचन्द्र सूरिने भी अपनी टीकाओंमें ग्रन्थकर्ताके नाम तकका भी निर्देश नहीं किया। हां, जयसेनाचार्यने, जिनका समय ईसाकी बारहवी शताब्दीका उत्तरार्ध है, पञ्चास्तिकायकी[4] टीकाके आरम्भमें लिखा है कि, कुन्दकुन्द कुमारनन्दि सिद्धान्त देवके शिष्य थे। उनके दूसरे नाम पद्मनन्दि आदि थे। प्रसिद्ध कथाके अनुसार उन्होंने पूर्व विदेहमें जाकर श्रीमंदर स्वामी तीर्थङ्करके मुखसे निकली हुई दिव्यध्वनिको सुनकर शुद्ध आत्मतत्त्वके साररूप अर्थको ग्रहण किया था। और वहांसे लौटकर शिवकुमार महाराज आदिके प्रतिबोधके लिये पञ्चास्तिकाय प्राभृतकी रचना की थी।'

जयसेनने समयसारकी टीकाके अन्तमें भी दो गाथाओंके द्वारा पद्मनन्दिका गुणगान किया है।

३ इन्द्रनन्दिने, जिन्हें विक्रमकी दसवी शताब्दीके अन्तिम चरणका विद्वान् माना जाता है, अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि षट् खण्डागम और

१—इस ऐतिहासिक परिशीलनमें प्रवचनसारकी डा० ए० एन० उपाध्ये लिखित अंग्रेजी प्रस्तावनासे साहाय्य लिया गया है।

२—इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुंदकुंद मुणिणाहे। जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाण ॥९१॥

३—'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं। सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥ बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं। सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ ॥६१॥" –बो० प्रा०।

४—'अथ श्री कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवशिष्यै। प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्व विदेह गत्वा वीतरागसर्वज्ञ श्रीमंदरस्वामितीर्थङ्करपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयै·........ .... शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचितपञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे'।

कषायप्राभृत ये दोनों सिद्धान्तग्रन्थ गुरुपरिपाटीसे कुण्डकुन्दपुरमें श्री पद्मनन्दि मुनिको प्राप्त हुए। उन्होंने षट्खण्डोंमेंसे आदिके तीन खण्डोंपर बारह हजार प्रमाण परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा।

उक्त जानकारीसे कुन्दकुन्दके सम्बन्धमें नीचे लिखी बाते प्रकाशमें आती है—

१ वे कुण्डकुन्द पुरके वासी थे और पद्मनन्दि आदि उनके अनेक नाम थे।

२ वे भद्रबाहुके शिष्य थे।

३ वे पूर्व विदेह गये और उन्होंने श्री मन्दिर स्वामीके मुखसे दिव्यध्वनिका श्रवण किया था।

४ उन्होंने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा था।

५ वे शिवकुमार महाराजके समकालीन थे

उक्त बातों पर क्रमसे विचार करनेसे पूर्व हम उन कथाओंको भी दे देना उचित समझते है जो उनके सम्बन्धमें पाई जाती हैं—

कुन्दकुन्दाचार्यकी कथा

श्री युत[1] प्रेमी जीने 'ज्ञानप्रबोध' से एक कथा इस प्रकार दी है—

मालवा देशके वारापुर नगरमें राजा कुमुद चन्द्र राज्य करता था। उसकी रानीका नाम कुमदचन्द्रिका था। उसके राज्यमें कुन्द श्रेष्ठी नामका एक वणिक् रहता था। उसकी सेठानीका नाम कुन्दलता था। उनके एक पुत्र था। उसका नाम कुन्दकुन्द था। एक दिन वह बालक अपने मित्र बालकोंके साथ खेलता था। उसने उद्यानमें एक मुनिराजको बैठे हुए देखा। मुनिराज नरनारियोंको उपदेश दे रहे थे। बालकने उनका उपदेश बडे ध्यानसे सुना। बालक उससे इतना प्रभावित हुआ कि वह उनका शिष्य होगया। उस समय उसकी अवस्था केवल ग्यारह वर्षकी थी।

मुनिराजका नाम जिनचन्द्र था। उन्होंने तेतीस वर्षकी उम्रमें उस कुन्द-कुन्द नामके बालकको आचार्य पद प्रदान किया। एक बार आचार्य कुन्दकुन्द-

१ यह कथा जैनहितैषी भाग १०, पृ० ३६६ पर प्रकाशित हुई है। किन्तु उसके प्राप्त न हो सकनेसे हमने डा० उपाध्येकी अंग्रेजी प्रस्तावनासे अनुवाद करके उसे यहा दिया है।

को जैन तत्त्व ज्ञानके सम्बन्धमें कोई शङ्का उत्पन्न हुई। एक दिन ध्यान करते समय उन्होंने शुद्ध मन वचन कायसे श्रीमन्दरस्वामीको नमस्कार किया। उन्हें सुनाई दिया कि समवसरणमें विराजमान श्रीमंदर स्वामीने उन्हे आशीर्वाद दिया 'सद्धर्म वृद्धिरस्तु'। समवसरणमें उपस्थित श्रोताओंको बडा अचरज हुआ कि इन्होंने किसको आशिर्वाद दिया है क्यों कि यहां उन्हे नमस्कार करने वाला तो कोई दिखाई नही देता। श्रीमंदर स्वामीने वतलाया कि उन्होंने भारत वर्षके कुन्दकुन्द मुनिको आशिर्वाद दिया है। दो चारण मुनि जो पूर्व जन्ममें कुन्दकुन्दके मित्र थे, कुन्दकुन्दको श्रीमन्दरस्वामीके समवसरणमें ले गये। जब वे उन्हे आकाश मार्गसे ले जारहे थे तो कुन्दकुन्दकी मयूर पिच्छिका गिर गई। तव कुन्दकुन्दने गृद्धके पंखोंसे काम चलाया। कुन्दकुन्द वहां एक सप्ताह रहे और उनकी शंकाएं दूर हो गईं। लौटते समय वह अपने साथ एक पुस्तक लाये थे किन्तु वह समुद्रमें गिर गई। बहुतसे तीर्थोकी यात्रा करते हुए वे भारत वर्ष लौट आये और उन्होंने धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया और सात सौ स्त्री पुरुषोंने उनसे दीक्षा ली।

कुछ समय पश्चात् गिरनार पर्वत पर उनका श्वेताम्बरोंसे विवाद हो गया। तव ब्राह्मी देवी ने यह स्वीकार किया कि दिगम्बर निग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है। अन्तमें अपने शिष्य उमास्वातिको आचार्य पद प्रदान करके वे स्वर्गवासी हुए।'

एक कथा डा० चक्रवर्तीने पञ्चास्तिकायकी अपनी प्रस्तावनामें दी है—डा० चक्रवर्तीके लेखानुसार कुन्दकुन्दाचार्यकी यह कथा पुण्यास्रवकथा नामक ग्रन्थमें शास्त्र दानके फलके उदाहरणके रूपमें दी गई है। कथा इस प्रकार है—

भारत खण्डके दक्षिण देशमें 'पिडथनाडु' नामका प्रदेश है। इस प्रदेशके अन्तर्गत कुरुमरई नामके ग्राममें करमण्डु नामका धनिक वैश्य रहता था। उसकी पत्नीका नाम श्रीमती था। उनके यहां एक ग्वाला रहता था जो उनके पशु चराया करता था। उस ग्वालेका नाम मथिवरन था। एक दिन जब वह अपने पशुओंको एक जंगलमें लेजा रहा था, उसने बडे आश्चर्यसे देखा कि सारा जंगल दावाग्निसे जल कर भस्म होगया है किन्तु मध्यके कुछ वृक्ष हरे भरे है। उसे उसका कारण जाननेकी वडी उत्सुकता हुई। वह उस स्थानपर गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह किसी मुनिराजका निवास स्थान है और वहाँ एक पेटीमें आगम ग्रन्थ रखे है। वह पढा लिखा नही था। उसने सोचा कि इस आगम ग्रन्थके कारण ही यह स्थान आगसे वच गया है। अतः वह उन्हें

बड़े आदरसे घर ले आया। उसने उन्हें अपने मालिकके घरमें एक पवित्र स्थान पर विराजमान कर दिया और प्रति दिन उनकी पूजा करने लगा।

कुछ दिनोंके पश्चात् एक मुनि उनके घर पर पधारे। सेठने उन्हें बडे भक्तिभावसे आहार दिया। उसी समय उस ग्वालेने वह आगम उन मुनिको प्रदान किया। उस दानसे मुनि बडे प्रसन्न हुए और उन्होंने उन दोनोंको आशिर्वाद दिया कि यह ग्वाला सेठके घरमें उसके पुत्र रूपमे जन्म लेगा। तब तक सेठके कोई पुत्र नहीं था। मुनिके आशिर्वादके अनुसार उस ग्वालेने सेठके घरमें पुत्र रूपसे जन्म लिया। और बडा होने पर वह एक महान् मुनि और तत्त्व ज्ञानी हुआ। उसका नाम कुन्दकुन्दाचार्य था। उनके चारणोंके साथ पूर्व विदेह जानेकी कथा पूर्ववत् वर्णित है।

एक कथा शास्त्र दानके फलके उदाहरण रूपमें ब्रह्मनेमिदत्तके आराधना कथा कोशमे है, जो प्रो० चक्रवर्ती वाली कथासे मिलती हुई है। कथा इस प्रकार है—

'भरतक्षेत्रमें कुरुमरई गांवमे गोविन्द नामका एक ग्वाला रहता था। एक बार उसने एक जंगलकी गुफामें एक जैन शास्त्र रखा देखा। उसने उस शास्त्रको उठा लिया और पद्मनन्दी नामके मुनिको भेट कर दिया। उस शास्त्रकी विशेषता यह थी कि अनेक महान् आचार्योंने उसे देखा था और इसकी व्याख्या लिखी थी और फिर उसे गुफामें रख दिया था। इसीलिए पद्म नन्दि मुनिने भी उसे उसी गुफामें रख दिया। ग्वाला गोविन्द बराबर उसकी पूजा करता रहा। एक दिन उसे व्यालने खा डाला। मर कर वह ग्वाला निदानवश ग्रामपतिके घरमें उत्पन्न हुआ। बडा होनेपर एक बार उसने पद्म नन्दि मुनिके दर्शन किये और उसे अपने पूर्व जन्मका स्मरण हो आया। उसने जिन दीक्षा धारण कर ली और समाधि पूर्वक मरण करके राजा कौण्डेश हुआ। वहाँ भी सब सुखोंका परित्याग करके उसने दीक्षा ले ली। उसने जिनदेवकी पूजा की थी और गुरुओंकी सेवा की थी अतः वह श्रुत-केवली हुआ।

रत्न करंड श्रावकाचार (श्लो० ११८) में शास्त्रदानमे 'कौण्डेशका नाम दिया है। और उसकी संस्कृत टीका में उक्त कथा दी है।

पं० आशाधरजीने (वि० सं० १३००) अपने सागार[1] धर्मामृतमें

१—'कौडेशः पुस्तकार्चावितरणविधिनाप्याागमाम्भोधिपारम् ॥

शास्त्रदानका फल बतलाते हुए कौण्डेशका उदाहरण दिया है और अपनी टीकाने उसे पूर्व जन्ममे गोविन्द नामका ग्वाला बतलाया है।

इस कथाके सम्बन्धमे डा० उपाध्येने लिखा है कि नामोंकी समानताके कारण गलतीसे इसे कुन्दकुन्दकी कथा समझ लिया गया है। किन्तु यथार्थमें यह कथा भी कुन्दकुन्दसे ही सम्बद्ध होनी चाहिये, यह बात 'कौण्डेश' नामसे व्यक्त होती है। किन्तु ये सब कथाएँ पीछेकी उपज जान पड़ती है। हरिषेणके वृहत्कथा कोशमे जो शक सं०८५३ (वि० सं० ९८९) में रचकर पूर्ण हुआ था, कुन्दकुन्दका नाम तक भी नहीं है। फिर भी इन कथाओंसे उस कालमे कुन्दकुन्दाचार्यकी बढती हुई लोकप्रियता और महानताका आभास मिलता है। उनके सम्बन्धमे प्रचलित कुछ घटनाओंके आधारपर ही उक्त कथाओंका शरीर निर्मित हुआ जान पडता है। इसलिये उन्हे एक दम मनघडन्त नहीं कहा जा सकता। अस्तु,

अब हम साहित्यिक अभिलेखोंसे ज्ञात उक्त पाँच बातोंके सम्बन्धमें विचार करेंगे।

कुन्दकुन्दके नाम

पञ्चास्तिकायके टीकाकार जयसेनाचार्यने लिखा है कि कुन्दकुन्दाचार्यके पद्मनन्दी आदि नाम थे। और षट्प्राभृतके टीकाकार श्रुतसागर सूरिने (विक्रमकी १६ वीं शती) अपनी टीकाके अन्त[1]में उनके पांच नाम बतलाये हैं—पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य। शिला लेखोंसे भी इन नामोंका समर्थन होता है। नन्दिसंघसे सम्बद्ध विजय नगरके शिलालेखमें जो लगभग १३८६ ई० का है, उक्त पांच नाम बतलाये है। तथा नन्दिसघकी एक पट्टावलीमे[2] भी उक्त पांच नाम बतलाये है। किन्तु

१—श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्य-गृध्द्रपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकणीनगरवन्दितसीमन्धरापरनाम स्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसम्बोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे.. ।'

२—'श्रीमूलसऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणे ऽतिरम्य । तत्रापि सारस्वतनाम्निगच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी ॥३॥ आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनि.। एलाचार्यो गृद्धपिच्छो इति तन्नाम पंचधा ॥४॥' जै०सि० भा० भा०१, कि० ४ पृ० ८० ।

अन्य शिला लेखोंमें उनके दो ही नाम मिलते हैं—पद्मनंदी और कुंदकुंद या कोण्डकुंद। उनमें भी उनका प्रथम नाम पद्मनदि था। वि० स० ६६० में रचे गये दर्शन सारमें देवसेनने इसी नामसे उनका उल्लेख किया हैं। और जिस नामसे वह ख्यात हैं वह नाम उनके जन्म स्थानसे सम्बद्ध है। शेष तीनों नामों की स्थिति चिन्त्य है। उनके सम्बंधमें डा० उपाध्येने अपनी प्र० सा० की प्रस्तावनामें अन्वेषणात्मक दृष्टिसे विचार किया है। उनका मन्तव्य है कि जिन शिलालेखोंमें वक्रग्रीवका नाम आया है उनमे प्रथम तो यह नहीं कहा गया कि यह कुन्दकुन्दका नाम है। दूसरे जिन शिला लेखोंमें वक्रग्रीवके साथ संघ गण गच्छका उल्लेख है, उनमें द्रविड संघ, नन्दिगण और अरुङ्गलान्वयका उल्लेख है। अतः वक्रग्रीवाचार्य कुन्दकुन्दसे भिन्न थे। इसी तरह एलाचार्य नामका समर्थन भी अन्यत्रसे नहीं होता। रहा गृद्धपिच्छाचार्य नाम। सो श्रवणवेल गोलाके अनेक शिलालेखोंमे उमास्वातिको गृद्धपिच्छाचार्य कहा है। तत्त्वार्थ सूत्रके अन्तमें पाये जाने वाले एक श्लोकमें भी गृद्धपिच्छसे युक्त उमास्वामीको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता कहा है। किन्तु वीरसेन स्वामीने धवला टीकामें गृद्धपिच्छाचार्यको तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता कहा है। उन्होंने उमास्वाति या उमास्वामीका नाम ही नहीं लिया। ज्ञान प्रबोधमें पाई जाने वाली कथामें यह अवश्य लिखा है कि जब कुन्दकुन्द विदेह गये तो मार्गमें उनकी मयूर पिच्छिका गिर गई तब उन्होंने गृद्धके पंखोंकी पिच्छिकासे काम चलाया। संभवतया इसी घटनासे गृद्धपिच्छचार्य ये नाम प्रवर्तित हुआ या नामकी संगति बैठानेके लिये उक्त घटनाकी प्रवृत्ति हुई यह कहना शक्य नहीं है। उमास्वातिके सम्बन्धमें भी श्रवण वेलगोलाके एक शिलालेखमें ऐसा पाया जाता है कि मयूर पिच्छ गिर जाने पर उन्होंने गृद्धपिच्छसे काम लिया। अतः कुन्दकुन्द गिद्धपिच्छाचार्य थे या उमास्वाति गृद्धपिच्छाचार्य थे, अथवा गृद्धपिच्छाचार्य इन दोनोंसे अतिरिक्त तीसरे व्यक्ति थे, यह अनुसन्धेय है।

कुन्दकुन्दका जन्मस्थान

इन्द्रनन्दिने आचार्य पद्म नन्दिको कुन्डकुन्दपुरका बतलाया है। फलतः श्रवणवेलगोलाके कतिपय शिलालेखोंमें उनका नाम कोण्डकुन्द लिखा है। श्री पी. बी देशाईने 'जैनिज्म' इन साउथ इण्डिया' में लिखा है कि गुण्टकल रेल्वे स्टेशनसे दक्षिणकी ओर लगभग चार मील पर एक कोन कोंण्डल नामका

---

१. पृ० १५२–१५७।

गांव है जो अनन्तपुर जिलेके गूटी तालुकेमें स्थित है। शिलालेखोंमें इसका प्राचीन नाम कोण्ड कुन्दे मिलता है। इस प्रदेशके अधिवासी आज भी इसे कोण्डकुन्दि कहते है। कन्नड में कुण्ड और कोण्ड शब्द का अर्थ पहाड़ी होता है। किन्तु जब ये शब्द किसी स्थान के नाम के साथ सम्बद्ध होते हैं तो उनका अर्थ होता है—पहाडी पर या उसके निकट बसा हुआ स्थान। यह अर्थ प्रकृत स्थानके साथ पूरा संघटित होता है। वर्तमानमें भी यह गांव एक पहाड़ी के बिल्कुल निकट है। श्री देसाई इस स्थान पर स्वयं गये थे और उन्होंने पूरी छान-बीन की थी। उन्होंने लिखा है प्राचीनताकी दृष्टिसे इस स्थानका महत्त्व अनुपम है। यहां से अनेक शिला लेख प्राप्त हुए हैं। एक शिला लेख त्रुटित है। पंक्ति ३-१० में स्थान का वर्णन प्रतीत होता है। इसमें पद्म-नन्दि नाम दो बार आया है और उसके साथ में चारण भी है जो अपनी विशेषता रखता है क्योंकि उससे कुन्दकुन्दका ग्रहण होता है। बाद को उसमें कुन्दकुन्दान्वयका भी उल्लेख है। श्री देसाईका कथन है कि कुन्दकुन्दका जन्म स्थान यही है। किन्तु उन्होंने यह नहीं लिखा कि किस प्राचीन शिलालेखमें उक्त स्थानका नाम कोण्डकुन्दे लिखा हुआ है। यह बात सामने आने पर प्रकृत विषयमें एक निश्चय पर पहुँचनेमें विशेष मदद मिल सकती है।

कुन्दकुन्दके गुरु

जयसेनाचार्यने पञ्चास्तिकायकी टीकामें कुन्दकुन्दको कुमारनन्दि सिद्धान्त-देवका शिष्य बतलाया है और नन्दि संघकी पट्टावलीमें उन्हे जिनचन्द्रका शिष्य बतलाया है।

श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० २२७ में कुमारनन्दि भट्टारकका नाम आता है। विद्यानन्दिने भी अपनी प्रमाण परीक्षामे कुमार नन्दिके नामसे एक कारिका उद्धृत की है। किंतु यह कुमारनन्दि दार्शनिक थे और इनका समय भी उतना प्राचीन नहीं है। तथा इनके साथ सिद्धान्तदेवका विशेषण भी नहीं मिलता। इनके सिवाय अन्य किसी कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवका पता नहीं चलता। तथा सिद्धान्त देव उपाधि भी विशेष प्राचीन नहीं है। श्रवण बेलगोलाके शिलालेखोंमें कई विद्वानोंके नामोंके साथ इसका उपयोग हुआ मिलता है। यथा, प्रभाचन्द्र सिद्धांतदेव, देवेन्द्र सिद्धान्त देव, शुभचंद्र सिद्धान्तदेव। ये सभी दसवीं शताब्दीके लगभग हुए है। अतः जयसेनका उक्त कथन ठीक प्रतीत नहीं होता। इसके सिवाय नन्दिसंघकी पट्टावलीमें

जिनचन्द्रको कुन्दकुन्दका गुरु बतलाया है और वे जिनचन्द्र माघनन्दिके शिष्य हैं। जिनचन्द्रके गुरुत्वका भी अन्यत्रसे समर्थन नहीं होता। फिर भी पट्टावलीके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे कुन्दकुन्दके गुरु थे।

किन्तु कुन्दकुन्दाचार्यने अपने बोध पाहुड़के अन्तमें अपने गुरुके रूपमें भद्रबाहुका स्मरण किया है और अपनेको भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है। बोध पाहुडके अन्तकी दो गाथाएं इस प्रकार हैः—

सद्दविआरो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥

बारसअंगवियाणं चउदस पुव्वंग विउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ॥६२॥

पहली गाथामें कहा है कि 'जिनेन्द्रने--भगवान महावीरने--अर्थ रूपसे जो कथन किया है वह भाषा सूत्रोंमे शब्दविकारको प्राप्त हुआ है--अनेक प्रकारके शब्दोंमें गूंथा गया है। भद्रबाहुके मुख शिष्यने उसको उसी रूपमें जाना है और कथन किया है। दूसरी गाथामें कहा है--'बारह अगोंके और चौदह पूर्वोंके विपुल विस्तारके वेत्ता गमकगुरु भगवान श्रुतज्ञानी--श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवन्त हों।

ये दोनों गाथाएं परस्परमें सम्बद्ध है। पहली गाथामें कुन्दकुन्दने अपनेको जिस भद्रबाहुका शिष्य कहा है दूसरी गाथामे उन्हीका जयकार किया है। और वे भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुके सिवाय दूसरे नहीं हैं, यह दूसरी गाथासे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। और इसका समर्थन कुन्दकुन्दके समयप्राभृतकी प्रथम[1] गाथासे भी होता है। उसके उत्तरार्धमें उन्होंने कहा है कि 'श्रुतकेवलीके द्वारा प्रतिपादित समय प्राभृतको कहूँगा।' यह श्रुतकेवली भद्रबाहुके सिवाय दूसरे नहीं हो सकते। श्रवणवेलगोलके अनेक शिलालेखों[2] मे यह बात अंकित है कि अपने शिष्य चन्द्रगुप्तके साथ भद्रबाहु वहाँ पधारे थे और वहीं एक गुफामें उनका स्वर्गवास हुआ था। इस घटनाको अनेक विद्वानोंने ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें स्वीकार किया है। और

---

१ वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते। वोच्छामि समय-पाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥१॥

२. शिला लेख संग्रह भा. १, में लेख नं० १, १७-१८, ४०, ५४, १०८ ॥

कुन्दकुन्दके द्वारा उनका अपने गुरुके रूपमें स्मरण किया जाना उक्त घटनाकी सत्यताको ही प्रमाणित करता है; क्योंकि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहुके समकालीन नहीं प्रतीत होते क्योंकि अंग ज्ञानियोंकी परम्परामें उनका नाम नही है। किन्तु यह बात उन्हे ज्ञात थी कि श्रुतकेवली भद्रबाहु दक्षिण भारतमें पधारे थे और उनके शिष्य-प्रशिष्योंके द्वारा ही दक्षिण भारतमे जैन धर्मके तत्व-ज्ञानका प्रसार हुआ था। इसीसे उन्होंने गमक गुरुके रूपमें उनका स्मरण किया और परम्परासे प्राप्ततत्व ज्ञानको 'श्रुतकेवली भणित' कहा प्रतीत होता है।

अत. बोधप्राभृतकी अन्तिम गाथाओंमे स्मृत भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहु ही होने चाहिए। किन्तु श्री जुगलकिशोर जी मुख्तारने उक्त दोनों गाथाओंको सम्बद्ध रूपमें ग्रहण न करके अलग-अलग ग्रहण किया है। अपने 'समन्तभद्र' नामक ग्रन्थमे उन्होंने उक्त दो गाथाओंमेंसे केवल प्रथम गाथाको उद्धृत करके लिखा है--'इस उल्लेख परसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि 'भद्रबाहु शिष्यका' अभिप्राय यहां ग्रन्थ कर्तासे भिन्न किसी दूसरे व्यक्तिका नहीं है। और इसलिये कुन्दकुन्द भद्रबाहुके शिष्य जान पडते हैं। उन्होंने इस पद्यके द्वारा यदि सचमुच ही यह इस ग्रन्थका पद्य है तो--अपने कथनके आधारको स्पष्ट करते हुए उसकी विशेष प्रमाणिकताको उद्घोषित किया है। अन्यथा कुन्दकुन्दसे भिन्न भद्रबाहुके शिष्य द्वारा जाने जाने और कथन किये जानेकी बातका यहां कुछ भी सम्बन्ध ठीक नही बैठता। टीकाकार श्रुतसागर भी उक्त सम्बन्धको स्पष्ट नही कर सके, उन्होंने 'भद्रबाहु शिष्यके' लिये जो विशाखाचार्यकी कल्पनाकी है वह भी कुछ युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। जान पडता है टीकाकारने भद्रबाहुको श्रुतकेवली समझकर वैसेही उनके एक प्रधान शिष्यका उल्लेख कर दिया है। और प्रकरणके साथ कथनके सम्बन्धादिककी ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया। इसीसे उसे पढ़ते हुए गाथाका कोई सम्बन्ध स्पष्ट नही होता। अब देखना चाहिये कि यह भद्रबाहु कौन हो सकते हैं जिनका कुन्दकुन्दने अपनेको शिष्य सूचित किया है। श्रुतकेवली तो ये प्रतीत नहीं होते; क्योंकि भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य माने जानेसे कुन्दकुन्द विक्रमसे प्रायः २०० वर्ष पहलेके विद्वान ठहरते है और उस वक्त दशपूर्वधारियोंके जैसे महा विद्वान मुनिराजोंकी उपस्थितिमें कुन्दकुन्दाचार्यके प्रतिष्ठित होनेकी बात कुछ जीको नहीं लगती। इसलिए कुन्दकुन्द उन्हीं भद्रबाहुके शिष्य होने चाहिये जिन्हे प्राचीन ग्रन्थकारोंने आचारांग नामक प्रथम अंगके धारियोंमें तृतीय विद्वान सूचित किया है और

पट्टावलीमें जिनके अनन्तर गुप्ति गुप्त, माघनन्दी और जिनचन्द्रकी कल्पनाकी गई है।' (समन्तभद्र—पृ० १८४--१८५)।

इसमें मुख्तार साहबने दूसरी गाथाकी कोई चर्चा ही नहीं की है। किन्तु 'श्री कुन्दकुन्द और यतिवृषभमे पूर्ववर्ती कौन' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने पहली गाथा देकर और उसके सम्बन्धमें उक्त बात संक्षेपमें कहकर दूसरी गाथा दी है और लिखा है--'इस परसे यह कहा जा सकता है कि पहली गाथा (न० ६१) मे जिन भद्रबाहुका उल्लेख है वे द्वितीय भद्रबाहु न होकर भद्रबाहु श्रुतकेवली ही है। और कुंदकुंदने अपनेको उनका जो शिष्य बतलाया है वह परम्परा शिष्यके रूपमें उल्लेख है। परंतु ऐसा नही है। पहली गाथामे वर्णित भद्रबाहु श्रुतकेवली मालूम नही होते क्योंकि श्रुतकेवली भद्रवाहुके समयमे जिन कथित श्रुतमें ऐसा कोई खास विकार नहीं हुआ था। जिसे उक्त गाथामें 'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहियं' इन शब्दों द्वारा सूचित किया है। वह अविच्छिन्न चला आया था'। (अनेकांत, वर्ष २, कि. १)।

मुख्तार साहबने गाथा ६१ के उक्त पूर्वार्द्धका अर्थ इस प्रकार किया है—

'जिनेन्द्रने--भगवान महावीरने--अर्थ रूपसे जो कथन किया है वह भाषासूत्रोंमे शब्द विकारको प्राप्त हुआ है--अनेक प्रकारके शब्दोंमे गूंथा गया है।' इस अर्थमे जिनकथित श्रुतमें विकार आनेका तो संकेत तक नही है। ऐसी स्थितिमें उक्त मिथ्या कल्पनाके आधारपर दूसरे भद्रबाहुकी बात निस्सार प्रतीत होती है।

यह ठीक है कि टीकाकार श्रुतसागरने गाथा नं० ६१ का अर्थ करते हुए भद्रबाहुके शिष्यका अर्थ विशाखाचार्य किया है जो ठीक नही है। किन्तु उससे इतना तो प्रमाणित होता ही है कि श्रुतसागर भी इस गाथामें स्मृत भद्रबाहुको श्रुतकेवली भद्रबाहु ही मानते थे। यदि गाथा ६२ न होती तो यह बात विचारणीय थी कि किस भद्रबाहुके शिष्य कुन्दकुन्द थे। गाथा ६२ के होते हुए तो उसमें विचारकी कोई बात ही नहीं रहती। गाथा ६१ मे अन्य भद्रबाहुका उल्लेख हो और गाथा ६२ में गुणगान किया जाये दूसरेका, यह तो वही मसल हुई, विवाह किसीका और गीत किसीके।

अतः यह बात असन्दिग्ध है कि कुन्दकुन्दने अपने गुरु रूपसे भद्रबाहु श्रुतकेवलीका उल्लेख किया है। उन्होंने गाथा ६२ में श्रुतकेवली भद्र-बाहुको 'गमक गुरु' कहा है। गमकका व्याकरण सिद्ध अर्थ होता है—प्रबोधक—प्रबोध करने वाले गुरु। उससे भी यही प्रमाणित होता है कि

प्रशंसा करते हुए लिखा है कि उनको अनुपम औषध ऋद्धि प्राप्त थी, विदेह क्षेत्रमें स्थित जिनदेवके दर्शनसे उनका शरीर पवित्र हो गया था तथा उनके चरणोंके धोये हुए जलके स्पर्शसे उस समय लोहा सोना हो गया था।

उमा स्वामि और पूज्यपाद विषयक उक्त उल्लेख दर्शनसारसे बहुत अर्वाचीन है। पूज्यपाद विषयक उक्त शिला लेख तो विक्रम सं० १४६० का है अर्थात् दर्शनसारसे ५०० वर्ष पश्चात्का है। इसलिये प्राचीनतम कथन तो कुन्द-कुन्दके विषयमें ही पाया जाता है। तथापि अभी उसे ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसके लिये अभी और भी अनुसंधानकी आवश्यकता है।

कुन्द-कुन्दका समय

आचार्य श्रीकुंदकुंदके समयके विषयमें प्रवचनसारकी अपनी प्रस्तावनामें डा० उपाध्येने अपनेसे पूर्वके मतोंका दिग्दर्शन कराते हुए विस्तारसे विचार किया है।

परम्परागत मत—नंदीसंघकी पट्टावलीके अनुसार विक्रम सम्वत् ४९ में कुंदकुंद स्वामी पट्ट पर बैठे। पट्टावलीकी विभिन्न प्रतियोंमे अंतर भी पाया जाता है। डा० हार्नले के द्वारा इण्डियन ऐण्टीक्वेरी जि० २१ में प्रकाशित तीन दिगम्बर पट्टावलियोंमें से 'इ' पट्टावलीमे कुंदकुंदके पट्टाभिषेकका समय वि० स० १४९ दिया है। अर्थात् दोनोंमे एकसौ वर्षोंका अंतर है।

विद्वज्जन बोधकमें एक श्लोक उद्धृत है जिसमे कुदकुंद और उमास्वामीको समकालीन बतलाया है और उनका समय वीर निर्वाण सम्वत् ७७० (विक्रम सं० ३००) बतलाया है। इनमेंसे वि० स० ४९ वाली मान्यता ही जैन परम्परामें विशेष रूपसे प्रचलित है। इस तरह यह कुंदकुंदके समयके विषयमें परम्परागत मत है।

श्रीप्रेमीजीका मत—जैनहितैषी भाग १० में आजसे कई दशक पूर्व श्री युत प्रेमीजीने आचार्य कुंदकुंदके सम्बन्धमें एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके आधारपर उनका समय निर्धारण करते हुए लिखा था कि वीर निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष तक अंग ज्ञानकी परम्परा चालू रही। उसके पश्चात् श्रुतावतारके अनुसार चार आचार्य हुए जो अंगों और पूर्वोंके एक देशके ज्ञाता थे। उनके पश्चात् क्रमसे अर्हद्बली, माघनन्दि और धरसेन हुए। धरसेन महाकर्म प्रकृति प्राभृतके ज्ञाता थे। उन्होंने भूतबली

और पुष्पदन्तको महाकर्म प्रकृति प्राभृत पढाया और उन दोनोंने षट्खण्डागमके सूत्रोंकी रचनाकी और उन्हें लिपिबद्ध कर लिया।

उधर गुणधर आचार्यने कसाय पाहुडको गाथा सूत्रोंमें निबद्ध किया और आर्यमंक्षु तथा नागहस्तीको पढाया। उनसे उन गाथासूत्रोंको पढकर यतिवृषभने उनपर छह हजार प्रमाण चूर्णिसूत्रोंकी रचना की। उच्चारणाचार्यने उन्हें पढकर उनपर १२ हजार श्लोक प्रमाण उच्चारणा वृत्ति रची।

ये दोनों सिद्धान्त ग्रथ कुंदकुंदपुरवासी पद्मनन्दिको प्राप्त हुए और उन्होंने षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका रची।

इससे यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष बाद हुए। अतः ६८३ वर्षके पश्चात् होने वाले धरसेन आदि आचार्योंका अनुमानित रूपमें थोडा सा समय निर्धारित करके प्रेमी जी इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि कुन्दकुन्द विक्रमकी तीसरी शताब्दीके अन्तिम चरणमें हुए होंगे।

प्रेमी जीके निर्णयका दूसरा आधार वह किम्वदन्ती है जिसके अनुसार उर्जयन्त गिरिपर कुन्दकुन्दका श्वेताम्बरोंके साथ विवाद हुआ था।

कुंदकुंदके ग्रन्थोंसे, विशेषतया सुत्तपाहुडसे यह ज्ञात होता है कि कुंदकुंदके समय में जैन परम्परामें श्वेताम्बर और दिगम्बर भेद हो गया था।

देवसेन के दर्शन सारके अनुसार श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद हुआ था। प्रेमी जीने दर्शनसारमें प्रदत्त कालको शालिवाहन शक समझकर श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्तिका समय १३६ + १३५ = २७१ विक्रम सम्वत् निर्धारित किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि कुंदकुंद अवश्य ही इस समयके पश्चात् हुए हैं। अतः इस हिसाब से भी कुंदकुंद का समय विक्रम सम्वत् की तीसरी शताब्दीका अन्तिम चरण होता है। यह प्रेमी जीके मतका[1] सार है। उनके मतानुसार कुन्दकुन्द किसी भी तरह वीर निर्वाण ६८३ से पूर्व नहीं हो सकते।

डा० पाठकका[2] मत—जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्थासे प्रकाशित समय-

---

१. नये तथ्योंके प्रकाशमें आनेसे प्रेमीजीका उक्त मत परिवर्तित हो गया था यह उनके षट्प्राभृतादि संग्रह की भूमिका से प्रकट होता है। प्रेमी जी के उक्त मतको हमने प्रवचनसारकी डा० उपाध्ये लिखित प्रस्तावना से दिया है।

२. यह मत षट्प्राभृतादि संग्रह (मा० ग्र० मा० बम्बई) की प्रेमी जी लिखित भूमिका से उद्धृत किया गया है।

प्राभृतकी भूमिकामें स्व० डा० के० बी० पाठकका यह मत प्रकाशित हुआ था कि कुंदकुन्दाचार्य वि० सं० ५८५ के लगभग हुए हैं। अपने मतकी पुष्टिमें उन्होंने लिखा है कि जिस समय राष्ट्र कूटवंशी राजा तृतीय गोविन्द राज्य करता था उस समयका शक सम्वत् ७२४ का लिखा हुआ एक ताम्रपत्र मिला है। उसमें निम्नलिखित पद्य दिये हैं—

कोण्डकोन्दान्वयोदारो गणोऽभूद् भुवनस्तुतः।
तदैतद् विषयविख्यातं शाल्मलीग्राममावसम् ॥
आसीद (?) तोरणाचार्यस्तपःफलपरिग्रहः।
तत्रोपशमसभूतभावनापास्तकल्मशः ॥
पण्डितः पुष्पनन्दीति वभूव भुवि विश्रुतः।
अन्तेवासी मुनेस्तस्य सकलश्चद्रमा इव ॥
प्रतिदिवसभवद्वृद्धिर्निरस्तदोषो व्यपेतहृदयमलः।
परिभूतचन्द्रविम्बस्तच्छिष्योऽभूत्प्रभाचन्द्रः ॥

उक्त तृतीय गोविन्द महाराजके ही समयका शक सं० ७१६ का एक और ताम्रपत्र मिला है जिसमें नीचे लिखे पद्य हैं—

आसीद (? तोरणाचार्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्भवः।
स चैतद्विषये श्रीमान् शाल्मलीग्राममाश्रितः ॥
निराकृततमोऽराति स्थापयन् सत्पथे जनान्।
स्वतेजोद्योतितक्षौणिश्चण्डार्चिरिव यो बभौ ॥
तस्याभूत् पुष्पनन्दी तु शिष्यो विद्वान् गणाग्रणीः।
तच्छिष्यश्च प्रभाचन्द्रस्तस्येयं वसतिः कृता ॥

इन दोनों लेखोंका अभिप्राय यह है कि कोण्डकोन्दान्वयके तोरणाचार्य नामके मुनी इस देशमें शाल्मली नामक ग्राममें आकर रहे। उनके शिष्य पुष्पनन्दि और पुष्पनन्दिके शिष्य प्रभाचन्द्र हुए।

पाठकजीका कहना है कि पिछला ताम्रपत्र जब शक सम्वत् ७१६ का है तो प्रभाचन्द्रके दादागुरु तोरणाचार्य शक स० ६०० के लगभग रहे होंगे। और तोरणाचार्य कुंदकुंदान्वयमें हुए है। अतएव कुंदकुंदका समय उनसे १५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक सं० ४५० के लगभग माननेमें कोई हानि नहीं।

चालुक्यवंशी कीर्ति महाराजने बादामी नगरमें शक सम्वत् ५०० में प्राचीन कदम्बवंशका नाश किया था। और इसलिये इससे लगभग ५० वर्ष पूर्व

कदम्बवंशी महाराज शिवमृगेशवर्मा राज्य करते थे ऐसा निश्चित होता है। पंचास्तिकायके कनड़ी टीकाकार बालचन्द्र और संस्कृत टीकाकार जयसेनाचार्यने लिखा है कि यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके प्रतिबोधके लिये रचा था और ये शिवकुमार शिवमृगेशवर्मा ही जान पडते हैं। अतएव भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यका समय शक सम्वत् ४५० (वि० सं० ५८५) सिद्ध होता है। यह स्व० डा० के० बी० पाठकका मत है।

डा० ए० चक्रवर्तीका मत—प्रो० ए० चक्रवर्तीने पञ्चास्तिकायकी अपनी प्रस्तावनामें प्रो० हार्नले द्वारा सम्पादित नन्दि संघकी पट्टावलियोंके आधार पर कुन्दकुन्दको पहली शताब्दीका विद्वान माना है और यह सूचित किया है कि कुन्दकुन्द वि० सं० ४९ में आचार्य पदपर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्षकी अवस्थामें उन्हें आचार्यपद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पदपर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० महीने १५ दिन थी।

अपने इस मतके समर्थनका प्रयत्न करते हुए प्रो० चक्रवर्तीने इस बातपर जोर दिया है कि कुन्दकुन्द द्रविड़ संघके थे। उन्होंने मंत्रलक्षण नामक एक पुस्तकसे नीचे लिखा श्लोक उद्धृत किया है—

दक्षिणदेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्मासीत्।
एलाचार्यो नाम्ना द्रविलगणाधीशो धीमान्॥

प्रो० चक्रवर्तीका कहना है कि श्लोकमें कथित प्रदेश द्रविड देशमें खोजे जा सकते हैं। और कुन्दकुन्द द्रविड देशके वासी थे तथा उनका एक नाम एलाचार्य था। जैन परम्पराके अनुसार एलाचार्य प्रसिद्ध तमिलग्रन्थ कुरलके रचयिता थे। एलाचार्यने कुरलको रचा और अपने शिष्य तिरुवल्लुवरको दे दिया और उसने उसे मदुरासंघको भेंट कर दिया। एलाचार्यका दूसरा नाम एलालसिंघ था। एलालसिंह तिरुवल्लुवरका साहित्यिक संरक्षक माना जाता है। कुरलका जैनगुरु एलाचार्यके द्वारा रचित होना अन्य तथ्योंसे भी समुचित प्रतीत होता है। यथा—कुरलका नैतिकस्वर, सर्वोत्तम धन्धेके रूपमें कृषिकी वल्लुव लोगोंसे जिससे द्रविड देशमें जैन धर्मके प्राथमिक अनुयायी बनाये, प्रशंसा।

कुरलके कर्ताके साथ एलाचार्य अथवा कुन्दकुन्दकी एकरूपता कुरलको ईसाकी प्रथम शताब्दिमें ला रखती है। किन्तु यह सर्वथा असंभव नहीं है। कुरल शिलप्पदिकारम् और मणिमेखलासे प्राचीन है। 'शिलप्पदिकारम्' की रचना वंजीके चेरवंशी राजा सेंगुत्तुवन् सेषके छोटे भाईने की थी और मणिमेखलै

की रचना उसीके समकालीन मित्र कुल वनिकन् सत्तनर ने की थी। देवी मन्दिर (शिलप्पदिकारम्) की प्रतिष्ठाके समय श्रीलंकाका गजवाहु उपस्थित था। अतः कुरल उससे भी प्राचीन है। इसलिये इससे भी कुन्दकुन्दके पट्टावली प्रतिपादित समयका ही समर्थन होता है।

आगे प्रो० चक्रवर्तीने डा० पाठकके मतका निराकरण किया है। डा० पाठकने प्राचीन कदम्ब नरेश श्री विजय शिव मृगेश महाराजको पंचास्तिकायमें निर्दिष्ट शिवकुमार महाराज बतलाया है; क्योंकि उसके समयमें जैनधर्म श्वेताम्बर और दिगम्बर रूपमें विभाजित हो गया था और कुन्दकुन्दने स्त्री मुक्तिका निषेध करके श्वेताम्बर मान्यतापर प्रहार किया है।

प्रो० चक्रवर्तीने डा० पाठककी इस बातको तो मान्य किया है कि कुन्दकुन्द श्वेताम्बर दिगम्बर भेदके पश्चात् हुए हैं। किन्तु प्राचीन कदम्बनरेश शिवमृगेश महाराजको शिवकुमार महाराज माननेसे इंकार किया है क्योंकि कुन्दकुन्दके समयसे कदम्बराजवंशका समय बहुत बादका है। प्रो० चक्रवर्तीने पल्लववंशके शिवस्कन्दको शिवकुमार महाराज बतलाया है; क्योंकि स्कन्द और कुमार शब्द एकार्थक है। तथा उसे युव महाराज भी कहते थे जो कुमार महाराजका ही समानार्थक है।

पल्लव नरेश थोण्डमण्डलम् पर राज्य करते थे। उनकी राजधानी कांजीपुरम् थी। कांजीपुरम्के राजा शिक्षा प्रेमी थे। तथा थोण्डमण्डलम् विद्वानों की भूमि था। अनेक महान् द्रविड विद्वान, जैसे कुरलके कर्ता आदि थोण्डमण्डलम्के थे। ईस्वी सन्की दूसरी शताब्दीमें कांजीपुरम्की बड़ी ख्याति भी थी। उसके आस पास जैनधर्मका फैलाव था। अतः यदि ईसाकी प्रथम शताब्दीमें काञ्जीपुरम्के पल्लव नरेश जैनधर्मके संरक्षक रहे हों अथवा स्वयं जैनधर्मके पालक रहे हों तो यह असंभव नहीं है, इसके सिवाय मयिदावोल दान पत्रकी भाषा प्राकृत है और वह दान काञ्जीपुरम्के शिवस्कन्दवर्माने दिया था। इस दान पत्रका आरम्भ 'सिद्धाणं' से होता है। तथा मथुराके शिलालेखोंसे इसकी गहरी समानता है। ये बातें दाता नरेशके जैनधर्मकी और झुकावकी सूचक हैं। अन्य भी अनेक शिला लेखोंसे स्पष्ट है कि पल्लव नरेशोंके राज्यकी भाषा प्राकृत थी। और कुन्दकुन्दने अपने ग्रंथ प्राकृतमें ही रचे थे। अतः प्रो० चक्रवर्तीने यह निष्कर्ष निकाला है कुंदकुंदने जिस शिव कुमार महाराजके लिये प्राभृत रचे थे वह पल्लव नरेश शिवस्कंद थे यह बहुत कुछ संभाव्य है।

पं० जुगल किशोर जी मुख्तारका मत—श्री पं० जुगल किशोर जी मुख्तार ने 'समन्तभद्र' नामक अपने निबन्धमें समन्तभद्रके काल निर्णयके प्रसंगसे कुन्दकुन्द स्वामीके काल पर भी विस्तारसे विचार किया है। सबसे प्रथम उन्होने विद्वज्जन बोधकमें उद्धृत श्लोककी चर्चा की है जिसमें लिखा है कि वीर निर्वाणसे ७७० वर्ष बाद उमास्वाति तथा कुन्दकुन्द हुए। और अनेक विप्रत्तिपत्तियां दिखाते हुए नन्दिसंघकी पट्टावलीमें दिये काल वि० सं० ४९-१०१ को भी पट्टावलीकी हालत देखते हुए सहसा विश्वसनीय नहीं माना है। और इस लिये इन आधारोंको उन्होंने प्रकृत विषयके निर्णयार्थ उपयोगी नहीं स्वीकार किया है। ऐसी दशामें दूसरे किसी मार्गसे कुंदकुंदका ठीक समय उपलब्ध करनेके लिये उन्होंने भी इंद्रनंदिके श्रुतावतारको आधार बनाया है तथा प्रेमी जीकी तरह वह भी इसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि कुंदकुंदाचार्य वीर निर्वाण सम्बत् ६८३ से पहले नहीं हुए, पीछे हुए हैं। किंतु कितने पीछे हुए हैं यह स्पष्ट करनेके लिए उन्होंने लिखा है कि यदि अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्यके बाद होनेवाले चार आरातीय मुनियों का एकत्र समय २० वर्षका और अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतवलि तथा कुन्दकुन्दके गुरुका स्थूल समय १०-१० वर्षका ही मान लिया जाये तो यह सहजमें ही कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समयसे ८० वर्ष अथवा वीर निर्वाणसे ७६३ (६८३ + २० + ६०) वर्ष बाद हुए हैं और यह समय उस समयके करीब ही पहुँच जाता है जो विद्वज्जन बोधकमें उद्धृत पद्यमें दिया है। और इसलिए इसके द्वारा उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।

इसके बाद मुख्तार साहबने नन्दिसंघकी पट्टावलीकी चर्चा उठाई है और लिखा है कि उसमें वीरनिर्वाणसे भूतबलि पर्यन्त ६८३ वर्षकी गणना की है। यदि इसे ठीक मान लिया जाये और यह स्वीकार कर लिया जाये कि भूतबलिका अस्तित्व वीरनिर्वाण सम्वत् ६८३ तक रहा है तो भूतबलिके बाद कुन्दकुन्दकी प्रादुर्भूतिके लिए कमसे कम २०-३० वर्षकी कल्पना और भी करनी होगी क्योंकि कुन्दकुन्दको दोनों सिद्धान्तोंका ज्ञान गुरुपरिपाटीके द्वारा प्राप्त हुआ था। इस तरहसे कुन्दकुन्दके समयका प्रारम्भ वीर निर्वाणसे ७०३ या ७१३ के करीब हो जाता है।[१] परन्तु यदि यही मान लिया जाये कि वीर

---

१. मा० ग्र० माला बम्बईसे प्रकाशित रत्नकरण्ड श्रावकाचारके आदिमें 'समन्तभद्र' नामक निबन्ध, पृ० १५८ आदि।

निर्वाणसे ६८३ वर्षके अनन्तर ही कुन्दकुन्द हुए हैं तो यह कहना होगा कि वे विक्रम सम्वत् २१३ के बाद हुए हैं, उससे पहले नहीं। यही पं० नाथूराम जी प्रेमी आदि अधिकांश जैन विद्वानोंका मत है। इसमें मुख्तार सा० ने इतना और जोड दिया है कि वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका देह जन्म मानते हुए, उसका विक्रम संवत् यदि राज्य सम्वत् है तो उससे १९५ वर्ष बाद और यदि मृत्यु सम्वत् है तो उससे १३२ वर्ष बाद कुन्दकुन्दाचार्य हुए हैं।

आगे मुख्तार साहबने डा० पाठकके मतकी समीक्षा करते हुए पञ्चास्तिकायके शिवकुमार महाराज विषयक उल्लेखको बहुत कुछ आधुनिक बतलाया है क्योंकि मूल ग्रन्थमें उसका कोई उल्लेख नहीं है और न अमृतचन्द्राचार्यकी टीका परसे ही उसका समर्थन होता है। फिर भी मुख्तार साहबने शिवमृगेश वर्माके साथ शिवकुमार महाराजके समीकरणकी अपेक्षा पल्लव नरेश शिवस्कन्द वर्माके साथ उनके समीकरणको अच्छा बतलाया है। किन्तु कुन्दकुन्दका एलाचार्य नाम था इस बातको अमान्य किया है। तथा पट्टावलिके आधार पर प्रो० चक्रवर्ती द्वारा निर्धारित किये गये समय ईसाकी प्रथम शताब्दीमें भी अनेक अनुपपतियाँ प्रदर्शित की है। और अन्तमें कुन्दकुन्द कृत बोध पाहुडकी ६१ वी गाथाके आधार पर कुन्दकुन्दको द्वितीय भद्रबाहुका शिष्य स्वीकार किया है। किन्तु पट्टावलीमें जो द्वितीय भद्रबाहुका समय वि० सं० ४ दिया है उसे युक्तियुक्त नही माना।

डा० उपाध्येने अपनी प्र० सा० की प्रस्तावनामें उक्त सब मत देकर उसके आधार पर कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमें नीचे लिखे मुद्दे विचारणीय रखे हैं। हम भी यहाँ उनपर अपने ढंगसे विचार करेंगे।

१—श्वे० दि० संघ भेद हो जानेके पश्चात् कुन्दकुन्द हुए।

२—कुन्दकुन्द भद्रबाहुके शिष्य है।

३—इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके अनुसार दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंका ज्ञान गुरु परम्परासे कुन्दकुन्द पुरमें पद्मनन्दिको प्राप्त हुआ और उन्होंने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डोंपर टीका ग्रन्थ लिखा।

४—जयसेन और बालचन्द्रकी टीकाओंके उल्लेखके अनुसार कुन्दकुन्द शिवकुमार महाराजके समकालीन थे।

५—कुन्दकुन्द तमिल ग्रन्थ कुरलके रचयिता है।

इन पाँचों मुद्दोंको दो भागोंमें रखा जा सकता है। पहले भागमे प्रारम्भके दो मुद्दोंको रखा जा सकता है क्योंकि उन दोनोंका आधार स्वयं कुन्दकुन्दका साहित्य है। और शेष तीन मुद्दोंको दूसरे भागमें रखना उचित होगा क्योंकि उनका आधार अन्यकृत उल्लेखादि है।

संघभेद के पश्चात् कुन्दकुन्द हुए

पहले लिख आये हैं कि कुन्दकुन्दने अपने बोधप्राभृतकी अन्तिम गाथामें श्रुतकेवली भद्रबाहुका जयकार किया है और उससे पहली गाथामें अपनेको भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है। अतः यह निर्विवाद है कि कुन्दकुन्दने अपनेको श्रुतकेवली भद्रबाहुका ही शिष्य बतलाया है। और श्रुतकेवली भद्रबाहुके साथ ही दिगम्बर-श्वेताम्बर भेदकी घटनाका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् तीन केवली हुए गौतम गणधर, सुधर्मास्वामी और जम्बूस्वामी। तथा केवल ज्ञानियोंके पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए। जिनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। भगवान महावीरके तीर्थमें हुए आरातीय पुरुषोंमें भद्रबाहु श्रुतकेवली ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों अपना धर्मगुरु मानते हैं। किन्तु श्वेताम्बर अपनी स्थविर परम्पराको भद्रबाहुके नामसे न चलाकर भद्रबाहुके गुरुभाई संभूतिविजयके शिष्य स्थूलभद्रसे चलाते हैं। और उनकी गणना भी श्रुतकेवलियोंमें करते हैं।

श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें उत्तर भारतमें बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पड़नेकी घटनासे श्वेताम्बर साहित्य भी सहमत है। दिगम्बर परम्पराके अनुसार भद्रबाहु मौर्यसम्राट चन्द्रगुप्तके साथ अपने संघको लेकर दक्षिण भारतको चले गये थे। और वहाँ कटवप्र नामक पहाड़ पर, जो वर्तमानमें चन्द्रगिरि कहलाता है और मैसूर प्रदेशके श्रवण बेलगोला नामक स्थानमें स्थित है, उनका स्वर्गवास हुआ था। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार वे नैपाल देशकी ओर चले गये थे। जब दुर्भिक्ष समाप्त हुआ तो पाटलीपुत्रमें साधुसंघ एकत्र हुआ और सबकी स्मृतिके आधारपर ग्यारह अंगोंका संकलन किया गया। किन्तु बारहवें दृष्टिवाद अंगका संकलन न हो सका; क्योंकि उसका ज्ञाता भद्रबाहुके सिवाय कोई दूसरा न था।

तब संघने भद्रबाहु को बुलानेके लिये दो मुनियोंको भेजा। उन्होंने कहला दिया कि मैंने महा प्राण नामक ध्यानका आरम्भ किया है। उसकी साधना में बारह वर्ष लगेंगे। अत मैं नहीं आ सकता। इस उत्तरसे रुष्ट

होकर संघने पुनः दो मुनियोंको उनके पास भेजा और उनसे कहा कि वह जाकर भद्रबाहुसे पूछना कि जो मुनि संघके शासनको न माने तो उसे क्या दण्ड देना चाहिये। यदि वह कहें कि उसे संघबाह्य कर देना चाहिये तो उनसे कहना कि आप भी इसी दण्डके योग्य हैं। दोनों मुनियोंने जाकर भद्रबाहुसे वही प्रश्न किया और उन्होंने वही उत्तर दिया। 'तित्थोगाली पइन्नय' में लिखा है कि भद्रबाहु के उत्तरसे नाराज होकर स्थविरों ने कहा—संघकी प्रार्थना का अनादर करनेसे तुम्हें क्या दण्ड मिलेगा इसका विचार करो। भद्रबाहुने कहा—मैं जानता हूँ कि संघ इस प्रकार वचन बोलनेवालेका वहिष्कार कर सकता है। स्थविर बोले—तुम संघकी प्रार्थनाका अनादर करते हो...इसलिये श्रमण संघ आजसे तुम्हारे साथ बारहों प्रकारका व्यवहार बन्द करता है।'

अतः यह सुनिश्चित प्रतीत होता है कि भद्रबाहु श्रुत केवलीके समयमें अवश्य ही ऐसी घटना घटी जिसने अखण्ड जैन परम्परामें भेद पैदा कर दिया। और उस भेदका मुख्य कारण साधुओंके द्वारा वस्त्र धारण किया जाना था। यह बात दिगम्बर तथा श्वेताम्बर नामसे ही स्पष्ट होजाती है। स्त्रीकी मुक्ति होने न होने का प्रश्न भी उसीसे सम्बद्ध है। प्रारम्भमें ये ही दो प्रश्न मुख्य रूपसे संघभेदके कारण हुए। और कुन्दकुन्दने अपने प्राभृतोमें इन्हीं दोनों पर जोर दिया है। उदाहरणके लिये सूत्र प्राभृतको उठाकर देखें। उसमें कहा है कि वस्त्रधारी यदि तीर्थंङ्कर भी हो तो जिन-शासनमें उसे मुक्ति नहीं कही है। नग्नता ही मोक्षका मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग है ॥ २३ ॥ स्त्रियोंकी योनि नाभि, काँख और स्तनोंके मध्यमें सूक्ष्म जीव आगममें कहे हैं उनको प्रव्रज्या (जिनदीक्षा) कैसे दी जा सकती है ॥ २४ ॥ अतः यह निश्चित है कि कुन्दकुन्द संघ भेदके पश्चात् हुए हैं।

दर्शन [1]सारमें लिखा है कि विक्रमराजाकी मृत्युसे १३६ वर्ष बीतने पर सौराष्ट्रकी वलभी नगरीमें श्वेतपट संघ उत्पन्न हुआ और श्वेताम्बरोंके अनुसार वीर निर्वाणसे ६०९ वर्ष पश्चात् अर्थात् विक्रम संवत १३९ में बोटिकों का उत्पत्ति हुई। चूँकि जैन ग्रन्थोंमें विक्रम संवत्को विक्रमकी मृत्युसे प्रवर्तित बतलाया है और श्वेताम्बर साहित्यमें वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम

---

१. छत्तीसे वरिस सए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥ ११ ॥—दर्शनसार।

सम्वत् की उत्पत्ति बतलाई है। अतः दोनों कालोंमें केवल ३ वर्षका अन्तर है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं लेना चाहिये कि संघभेद विक्रम संवत् १३६ या १३९ में ही हुआ। संघ भेदका सूत्रपात तो श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें ही हो चुका था। फिर वह धीरे धीरे बढ़ता चला गया। संघभे:के उक्त निर्दिष्टकाल और भद्रबाहुके बीचमें लगभग ४०० वर्षका अन्तर है। इतने सुदीर्घकालमें पनपते पनपते वि०सं० १३६ में उसने स्पष्ट और दृढ़ रूप लेलिया।

दर्शनसारमें लिखा है कि वि० सं० २०५ में यापनीय संघ स्थापित हुआ। यह संघ, जैसा कि इसके नामसे प्रकट होता है, एक निर्वाह परक संघ था जो कुछ बातोंमें दिगम्बर परम्पराका अनुयायी था और कुछ बातोंमें श्वेताम्बर परम्पराका। इसके मुनि नग्न रहते थे मगर यह सम्प्रदाय स्त्री मुक्ति मानता था। उधर कुन्दकुन्दने जहाँ नग्नताका समर्थन किया वहाँ स्त्री को प्रव्रज्या तकका निषेध किया। अतः विक्रम की दूसरी शताब्दीमें अवश्य ही ऐसी स्थिति हो गई थी जब उक्त दोनों विषयों पर खुलकर चर्चा होने लगी थी, इसीसे कुन्दकुन्दने भी अपने ग्रन्थोंमें उनकी चर्चा की है। अतः कुन्दकुन्दका ऐसे समयके लगभग होना ही अधिक सम्भव प्रतीत होता है।

अब हम दूसरे भागके प्रथम मुद्दे पर विचार करेंगे, जिसे श्री प्रेमीजी और मुख्तार साहब जैसे जैन इतिहासज्ञोंने कुन्दकुन्दके समय निर्णयके लिये आधार भूत माना है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि दोनों सिद्धान्तोंकी प्राप्ति कुन्दकुन्द पुरके पद्मनन्दिको हुई। यह कुन्दकुन्दपुरके पद्मनन्दि वही है जिनके सम्बन्धमें यहाँ विचार किया जा रहा है; क्योंकि कुन्दकुन्दपुरके साथ सम्बद्ध दूसरे पद्मनन्दि नहीं है। कुन्दकुन्दपुरके कारण ही पद्मनन्दि कुन्दकुन्द नामसे ख्यात हुए। अतः इन्द्रनन्दिने द्विविध सिद्धान्त ग्रन्थोंकी प्राप्ति होनेका उल्लेख उन्हीके सम्बन्धमें किया है और लिखा है कि उन्होंने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामक ग्रन्थ (ग्रन्थ-परिकर्मकर्ता) रचा। चूँकि वह परिकर्म नामका ग्रन्थ आदिके तीन खण्डों पर रचा गया था इस लिये उसे टीका समझा गया है। मगर इन्द्रनन्दिने उसका निर्देश टीका या व्याख्या शब्दसे नहीं किया, जब कि शामकुण्डाचार्यकी कृतिको पद्धति, तुम्बूलूराचार्यकी कृतिको व्याख्या और समन्तभद्रकी कृतिको टीका स्पष्ट रूपसे कहा है। अस्तु.

अब हम देखेंगे कि क्या कोई परिकर्म नामक ग्रन्थ षट्खण्डागमके तीन खण्डोंपर रचा गया था और क्या उसके कर्ता कुन्दकुन्द थे।

परिकर्म और उसके कर्तृत्व पर विचार

धवला टीकामें परिकर्म नामक ग्रन्थका उल्लेख बहुतायतसे पाया जाता है, और उससे अनेक उद्धरण भी लिए गये हैं। यह परिकर्म किसके द्वारा रचा गया था इसका कोई निर्देश धवलामें नहीं है, और न उसे षट्खण्डागमका व्याख्या ग्रन्थ ही कहा है। किन्तु धवला टीकामें उसके उद्धरणोंका बाहुल्य देखकर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि यह परिकर्म इन्द्रनन्दिके द्वारा निर्दिष्ट परिकर्म ग्रन्थ तो नहीं है? इसके लिये धवलामें प्रदत्त परिकर्म सम्बन्धी उद्धरणोंका पर्यवेक्षण करना उचित होगा। उससे पहले यह बता देना उचित है कि परिकर्मका उल्लेख प्रथम खण्ड जीवट्ठाणकी धवला टीकामें विशेष रूपसे पाया जाता है। इस खण्डके द्रव्य प्रमाणानुगम नामक अनुयोग द्वारमें जीवोंकी संख्याका कथन है। और उसके समर्थनमें परिकर्मके उद्धरण विशेष दिये गये हैं। उद्धरणोंके देखनेसे ऐसा प्रतिभास होता है कि परिकर्मका मुख्य विषय शायद गणित है जैसा कि उसके 'परिकर्म' नामसे प्रकट भी होता है। अस्तु, कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

१ 'ण च एदं वक्खाणं 'जत्तियाणि दीवसागररूवाणि जंबूदीवछेदणाणि च रूवाहियाणित्ति परियम्मसुत्तेण सह विरुज्झदि त्ति'—पु० ३, पृ० ३६। 'और यह व्याख्यान 'जितनी द्वीपों और सागरोंकी संख्या है और जम्बूद्वीपके रूपाधिक जितने छेद हैं उतने राजुके अर्धच्छेद हैं; इस परिकर्म सूत्रके साथ भी विरोधको प्राप्त नहीं होता।'

२ 'जं तं गणणासंखेज्जं तं परियम्मे वुत्तं'—पु० ३, पृ० १२४। 'वह जो गणना संख्यात है उसका कथन परिकर्ममें है।'

३ 'रज्जू सत्त गुणिदा जगसेढि, सा वग्गिदा जगपदरं, सेढीए गुणिद-जगपदरं घणलोगो होदिति' परियम्मसुत्तेण सव्वाइरियसम्मदेण विरोहप्पसं-गादो च।—पु० ४, पृ० १८४। 'रज्जुको सातसे गुणा करनेपर जगश्रेणी होती है। जगश्रेणीको जगश्रेणीसे गुणा करनेपर जगत्प्रतर होता है और जगत्प्रतरको जगत्प्रतरसे गुणा करनेपर घन लोक होता है' इस सर्व आचार्योंसे सम्मत परिकर्म सूत्रसे विरोधका प्रसंग भी आता है।'

४ 'जदि सुदणाणिस्स विसओ अणंतसंखा होदि तो जमुक्कस्ससंखेज्जं विसओ चोद्दसपुव्विस्सेत्ति परियम्मे वुत्तं तं कधं घडदे ?'—पु० ९, पृ० ५६।

यदि श्रुतज्ञानका विषय अनन्त संख्या है तो चौदह पूर्वीका विषय उत्कृष्ट संख्यात है ऐसा जो परिकर्ममें कहा है वह कैसे घटित होता है ?

५ एदे जोगाविभागिपडिच्छेदा य परियम्मे वग्गसमुट्ठिदा त्ति परूविदा—पु० १०, पृ० ४८३।

परिकर्ममें इन योगोंके अविभागी प्रतिच्छेदोंको वर्ग समुत्थित बतलाया है।

६ 'अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं' इति परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्त-मिदि णासंकणिज्जं, पदेसो णाम परमाणू, सो जम्हि परमाणुम्हि समवेद-भावेण णत्थि सो परमाणु अपदेसओत्ति परियम्मे वुत्तो। तेण ण णिरवयवत्तं तत्तो गम्मदे—पु० १३, पृ० १८।

'परमाणु अप्रदेशी होता है और उसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नही होता' इस प्रकार परमाणुओंका निरवयवपना परिकर्ममें कहा है।' ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये क्यों कि प्रदेशका अर्थ परमाणु है। वह जिस परमाणुमें समवेत भावसे नहीं है वह परमाणु अप्रदेशी है ऐसा परिकर्ममें कहा है। अतः परमाणु निरवयव है यह बात परिकर्मसे नहीं जानी जाती।

उक्त उद्धरणोंसे प्रकट होता है कि परिकर्मका प्रधान प्रतिपाद्य विषय शायद सैद्धान्तिक गणित है क्योंकि ऊपर जितने भी उद्धरण है वे सब क्षेत्रादि विषयक गणनासे सम्बद्ध हैं। उसीके प्रसंगसे ज्ञानोंकी भी उसमें चर्चा है और वह महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि परिकर्ममें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों प्रमाणोंका वर्णन है।

'अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं' से द्रव्य विषयक चर्चाका संकेत मिलता है। तथा उससे ऐसा भी आभास होता है कि परिकर्ममें गाथायें भी होनी चाहिये क्योंकि यह गाथाका अंश प्रतीत होता है।

वीरसेन स्वामीने उसे सर्वाचार्य सम्मत बतलाया है। इसका मतलब यह है कि अन्य ग्रन्थोंमें भी उसके उद्धरण प्रमाण रूपसे उद्धृत किये गये होंगे। किन्तु उपलब्ध साहित्यमें धवलाके सिवाय अन्यत्र परिकर्मका नाम तक नहीं है। हो सकता है कि वीरसेन स्वामीके सम्मुख षट्खण्डागमकी जो टीकाएँ वर्तमान थीं, उन सबमें परिकर्मको प्रमाण रूपसे उद्धृत किया गया होगा। शायद इसीसे उसे 'सर्वाचार्य सम्मत' कहा है।

किन्तु परिकर्म षट्खण्डागमका टीका ग्रन्थ है इसका कोई निर्देश धवलामें नही है। बल्कि कई उद्धरणोंमे उसका उल्लेख 'परिकर्म सूत्र' नामसे किया

है। जिससे यही आभास होता है कि वह कोई स्वतंत्र ग्रन्थ है। किन्तु कुछ निर्देश ऐसे भी मिलते है जिनसे इसके विपरीत भावना व्यक्त होती है। इसके लिये वेदना खण्डके वेदना भाव विधान नामक अधिकारके सूत्र नम्बर २०८ की धवला दृष्टव्य है। सूत्रमें कहा गया है कि एक कम जघन्य असंख्यातकी वृद्धिसे संख्यात भाग वृद्धि होती है'। इसकी धवलामें लिखा है कि एक कम जघन्य असंख्यात कहनेसे उत्कृष्ट संख्यातका ग्रहण करना चाहिए। इसपर शंका की गई है कि सीधेसे उत्कृष्ट संख्यात न कहकर और सूत्रको बड़ा करके 'एक कम जघन्य असंख्यात' क्यों कहा? तो उत्तर दिया गया है कि उत्कृष्ट संख्यातके प्रमाणके साथ संख्यात भागवृद्धिका प्रमाण बतलानेके लिए वैसा कहा गया है। इससे आगे धवलाकारने लिखा है—

'परिकम्मादो उक्कस्स संखेज्जयस्स पमाणमवगदमिदि ण पच्चवट्ठाणं कादुं जुत्तं तस्स सुत्तत्ताभावादो। एदस्स णिस्सेसस्स आइरियाणुग्गहेण पदविणिग्गयस्स एदम्हादो पुधत्तविरोहादो वा ण तदो उक्कस्ससंखेज्जयस्स पमाणसिद्धी:—(पु० १२, पृ० १५४)।

अर्थात् 'यदि कहा जाये कि उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण परिकर्मसे ज्ञात है तो ऐसा प्रत्यवस्थान करना भी उचित नहीं है क्योंकि उसमें सूत्रताका अभाव है। अथवा आचार्यके अनुग्रहसे पदरूपसे निकले हुए इस समस्त परिकर्मके चूंकि उससे पृथक् होनेका विरोध है इसलिए भी उससे उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण सिद्ध नहीं होता'।

उक्त कथनमें प्रथम तो परिकर्मके सूत्र होनेका निषेध किया है। दूसरे इसके उससे (पट्खण्डागमसे) भिन्न होनेका विरोध किया है। किन्तु परिकर्म उससे भिन्न क्यों नहीं है, इसका स्पष्टीकरण उक्त कथनसे नहीं होता। वे कौन आचार्य थे जिनके अनुग्रहसे परिकर्मकी निष्पत्ति हुई, तथा 'पदविनिर्गत' शब्दसे धवलाकारका क्या अभिप्राय है इत्यादि बातें अस्पष्ट ही रह जाती है। किन्तु फिर भी इतना तो उक्त कथनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि परिकर्मका पट्खण्डागमके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि ऐसा न होता तो सूत्र २०८ की उक्त धवलामें यह क्यों कहा जाता कि उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण तो परिकर्मसे अवगत है तब यहाँ उत्कृष्ट संख्यात न कहकर एक कम जघन्य असंख्यात क्यों कहा? और क्यों उसका इससे भिन्न होनेका विरोध किया।

इसी तरहकी एक चर्चा जीवट्ठाणके द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोगद्वारके सूत्र ५२ की धवला टीकामें भी है। सूत्रमें लब्ध्यपर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण क्षेत्रकी

अपेक्षा जगत श्रेणीके असंख्यातवें भाग बतलाकर यह भी बतलाया है कि जगतश्रेणिके असंख्यातवें भागरूप श्रेणी असंख्यात करोड़ योजन प्रमाण होती है। इसपर धवलामें यह शंका की गई है कि इसके कहनेकी क्या आवश्यकता थी। इसका उत्तर दिया गया है कि इस सूत्रसे इस बातका ज्ञान नहीं हो सकता था कि जगश्रेणिके असंख्यातवें भागरूप श्रेणीका प्रमाण असंख्यात करोड योजन है। इसपर पुनः शंका की गई है कि परिकर्मसे इस बातका ज्ञान हो जाता है। तब फिर सूत्रमें ऐसा कहनेकी क्या आवश्यकता थी। इसके उत्तरमें कहा गया है कि इस सूत्रके बलसे परिकर्मकी प्रवृत्ति हुई है।'

इस उद्धरणसे बराबर ऐसा लगता है कि परिकर्म षट्खण्डागम का व्याख्या ग्रन्थ है। और भी देखिये —

खुद्दाबन्धके कालानुगम अनुयोग द्वारमें बादर पृथिवी कायिक आदि जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति बतलानेके लिये एक सूत्र आता है—'उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥७७॥' अर्थात् अधिकसे अधिक कर्मस्थिति प्रमाण कालतक एक जीव बादर पृथिवी कायिक आदिमें रहता है।

इस सूत्रकी धवलामें लिखा है – 'सूत्रमें जो 'कम्मट्ठिदी' शब्द आया है उससे सत्तर कोडा कोडी सागरोपम मात्र कालका ग्रहण करना चाहिये। फिर लिखा है—किन्हीं आचार्योंका ऐसा कहना है कि सत्तर सागरोपम कोडा-कोडीको आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणा करनेपर बादर पृथिवी कायिक आदि जीवोंकी कायस्थितिका प्रमाण होता है किन्तु उनकी 'कर्मस्थिति' यह संज्ञा कार्यमें कारणके उपचारसे ही सिद्ध होती है। आगे लिखा है—

'एदं वक्खाणमत्थित्ति कधं णव्वदे ? कम्मट्ठिदिमावलियाए असंखेज्जदि-भागेण गुणिदे बादरट्ठिदि होदित्ति परयम्मवयणण्णहाणुववत्तीदो। तत्थ सामण्णेण बादरट्ठिदि होदित्ति जदिवि उत्तं तो वि पुढविकायादीणं बादराणं पत्तेयकायट्ठिदी घेतव्वा, असंखेज्जासंखेज्जाओ ओसप्पिणी-उस्सप्पिणीओत्ति सुत्तम्मि बादरट्ठिदी परूवणादो''—पु. ७. पृ. १४५।

'शङ्का—ऐसा व्याख्यान है यह कैसे जाना ?

समाधान—'कर्मस्थितिको आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणित करने-पर बादरस्थिति होती है' परिकर्मके ऐसे वचनकी अन्यथा उपपत्ति बन नहीं सकती है। वहां (परिकर्ममें) यद्यपि सामान्यसे 'बादरस्थिति होती है' ऐसा कहा है तथापि प्रत्येक बादर पृथिवीकायादिकी कायस्थिति ग्रहण करना

चाहिये। क्योंकि सूत्रमें (षट्खं०) वादरस्थितिका कथन असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी उत्सर्पिणी प्रमाण किया है।'

उक्त उद्धरणमें जो खुद्दाबन्धके ७७वें सूत्रके विषयमें यह शङ्का की गई है कि ऐसा व्याख्यान है यह कैसे जाना और उसके समाधानमें जो यह कहा गया है कि यदि ऐसा व्याख्यान न होता तो परिकर्मका इस प्रकारका कथन बन नहीं सकता था, उससे भी हमारे उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है।

जीवट्ठाणके कालानुगमकी धवला टीकामें (पु० ४, पृ० ४०३) भी उक्त चर्चा प्रकारान्तरसे आई है। उसमें लिखा है—

'कोई आचार्य 'कर्मस्थितिसे वादरस्थिति परिकर्ममें उत्पन्न हुई है' इसलिये कार्यमें कारणका उपचार करके वादरस्थितिकी ही कर्मस्थिति संज्ञा मानते हैं। किन्तु यह घटित नहीं होता क्योंकि गौण और मुख्यमें से मुख्यका ही ज्ञान होता है, ऐसा न्याय है।'

खुद्दाबन्धमें भी उक्त चर्चा 'उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥७७॥' सूत्र की व्याख्यामें आई है और जीवट्ठाणके कालानुगममें भी उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥१४४॥ सूत्र की व्याख्यामें आई है। उस चर्चासे प्रकट होता है कि परिकर्ममें वर्णित वादरस्थिति कर्मस्थिति से उत्पन्न हुई है। अर्थात् षट्खण्डागम के उक्त दोनों खण्डोंमें आगत सूत्रके 'कर्मस्थिति' पदसे ही परिकर्मगत वादरस्थिति उत्पन्न हुई है। अतः यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि षट्खण्डागमके सूत्रोंके आधार-पर ही परिकर्मकी रचना हुई है। किन्तु एक उद्धरणसे षट्खण्डागमसे परिकर्म-में कुछ मतभेद भी प्रतीत होता है।

उक्त चर्चा जीवट्ठाण के कालानुगम में एक जीवकी अपेक्षा वादर एकेन्द्रिय-की उत्कृष्ट स्थिति बतलानेवाले सूत्र ११२ की धवलामें भी आई है। लिखा है—

'कर्मस्थितिको आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणाकरने पर वादरस्थिति उत्पन्न हुई है' परिकर्मके इस बचनके साथ यह सूत्र विरुद्ध पडता है इसलिये इस सूत्रको अवच्छिप्तताका प्रसंग नहीं आता। किन्तु परिकर्मका वचन सूत्रा-नुसारी नहीं है इसलिये परिकर्मको ही अवच्छिप्तताका प्रसग आता है।' (पु० ४, पृ० ३९०)। किन्तु यहां जो परिकर्मके बचनको सूत्रानुसारी नहीं होनेके कारण अवच्छिप्तताका प्रसंग दिया है उसका परिहार खुद्दाबन्धकी धवला-के उक्त उद्धरणके अन्तमें वीरसेन स्वामीने स्वयं कर दिया है। उन्होंने लिखा है—

'वहां (परिकर्ममें) यद्यपि सामान्यसे 'कायस्थिति' होती है ऐसा कहा है। तथापि पृथिवीकायादि वादरोंमें से प्रत्येककी कायस्थिति लेनी चाहिये क्योंकि सूत्र (षट्खं०) में असख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रमाण वादर कायस्थिति कही है। अर्थात् परिकर्ममें जो कायस्थिति कही है वह पृथिवीकायिक आदि प्रत्येक वादरकायिक जीव की है। और जीवट्ठाणके कालानुगम अनुयोग द्वारके सूत्र ११२ में जो वादर स्थिति कही है वह वादर एकेन्द्रिय सामान्यकी उत्कृष्ट स्थिति है।'

धवलामें परिकर्मके एक उद्धरणको लेकर एक चर्चा और भी है जो इस प्रकार है—

शंका—'जितनी द्वीप और सागरों की संख्या है तथा जितने जम्बूद्वीपके अर्द्धच्छेद होते है, एक अधिक उतने ही राजुके अर्द्धच्छेद होते हैं।' परिकर्मके इस कथनके साथ यह उपर्युक्त व्याख्यान क्यों नहीं विरोधको प्राप्त होता ?

समाधान—उक्त व्याख्यान भले ही परिकर्मके साथ विरोध को प्राप्त होता हो किन्तु प्रस्तुत सूत्रके साथ विरोधको प्राप्त नहीं होता। इस कारणसे इस व्याख्यानको ग्रहण करना चाहिये, परिकर्मको नहीं; क्योंकि वह सूत्रविरुद्ध है। और जो सूत्रविरुद्ध हो उसे व्याख्यान नहीं माना जा सकता अन्यथा अति प्रसंग दोष आता है।' (पु० ४, पृ० १५६)।

उक्त उदाहरणमें जो परिकर्मको सूत्र विरुद्ध व्याख्यान कहा है उससे भी उसके षट्खण्डागम सूत्रोंका व्याख्यान रूप होनेका समर्थन होता है। प्रश्न केवल सूत्र विरुद्धताका रह जाता है। किन्तु जीवट्ठाणके ही द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोग द्वारकी धवलामें उक्त सूत्र विरुद्धताका परिहार भी किया है। लिखा है—

'यह व्याख्यान' जितनी द्वीपों और सागरों की संख्या है और जम्बूद्वीपके रूपाधिक जितने अर्धच्छेद हैं' इस परिकर्म सूत्रके साथ भी विरोधको प्राप्त नहीं होता; क्योंकि वहाँ रूपाधिकका अर्थ रूपसे अधिक रूपाधिक नहीं लिया किन्तु रूपोंसे अधिक रूपाधिक लिया है। (प्र० ३, पृ० ३६१)

उक्त उद्धरणोंसे बराबर यह प्रकट होता है कि षट्खण्डागमके सूत्र परिकर्मके आधार थे। किन्तु वह उनका केवल व्याख्यात्मक ग्रन्थ ही नहीं था। यही बात इन्द्रनन्दिने भी कही है। उन्होंने लिखा है कि षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा। ऊपर जो व्याख्या विषयक उद्धरण दिये हैं वे प्रायः जीवट्ठाण और खुद्दाबन्ध की धवलाके हैं, और ये दोनों

षट्खण्डागमके प्रथम दो खण्ड हैं। अतः इन्द्रनन्दिका उक्त कथन बिल्कुल प्रामाणिक प्रतीत होता है। पूरी धवलामें परिकर्म विषयक २१ उल्लेख हैं जिनमें से १८ उल्लेख जीवट्ठाणमें और तीन उल्लेख खुद्दाबन्धमें है। प्रश्न शेष रहता है उसके कर्तृत्वका।

वीरसेन स्वामीने तो इस सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखा। केवल इन्द्रनन्दिके कथनानुसार कुन्दकुन्द पुरके पद्मनन्दि उसके रचयिता थे। हम देख चुके हैं कि इन्द्रनन्दिने परिकर्मके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है उसका समर्थन परिकर्मके उद्धरणोंसे भी होता है, अतः परिकर्मके कर्तृत्वके विषयमें भी इन्द्रनन्दिका कथन यथार्थ ही होना चाहिये। समयसार और प्रवचनसारके रचयिता कुन्दकुन्द जैसे महान आचार्यके द्वारा परिकर्म जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका रचा जाना सर्वथा उचित है। क्योंकि कुदन्कुन्दके उपलब्ध ग्रन्थोंसे तो उनके द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग विषयक पाण्डित्यका ही बोध होता है। करणानुयोगका विषय छूटसा ही जाता है। और कुन्दकुन्द जैसे महान आचार्य करणानुयोगके विषयमें मूक रहे यह कैसे संभव हो सकता है। अतः परिकर्म कुन्दकुन्दकी ही कृति होना चाहिये। परिकर्मके एक उद्धरणसे भी इसके समर्थनमें साहाय्य मिलता है। वह उद्धरण इस प्रकार है—

'अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं' इति परमाणूण णिरवयवत्तं परियम्मे भणिद-मिदि।' उक्त उद्धरणमें 'अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं' किसी गाथाके पूर्वार्द्धका भाग होना चाहिए। 'अपदेसं' से पहलेका पद उद्धरणमें छोड़ दिया गया है। उक्त गाथांशका 'णेव इंदिए गेज्झं' पद कुन्दकुन्दके नियमसारकी २६ वीं गाथामें भी इसी प्रकार पाया जाता है।

अंतादि अत्तमज्झं अत्ततं णेव इंदिए गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परिमाणुं वियाणीहि॥

परिकर्ममें भी परमाणुके स्वरूप वर्णनमें उक्त अंश आया है और नियम-सारमें भी। अन्तर इतना ही है कि 'अन्तादि अंतमज्झं अत्ततं' पद उसमें नहीं है केवल 'अपदेसं' है और अपदेससे पहलेका कुछ भाग छोड दिया गया है, पूरा उद्धृत नहीं किया गया। इससे परिकर्म गत उक्त गाथा कुन्दकुन्दकी ही कृति प्रतीत होती है। अपने पक्षके समर्थनमें हम एक और भी प्रमाण उपस्थित करते है।

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थसे परिचित विद्वानोंसे यह बात छिपी हुई नहीं है कि तिलोयपण्णत्तिमें कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसारकी अनेकों गाथाएँ ज्योंकी त्यों अपना ली गई हैं। वे गाथायें तिलोयपण्णत्तिसे उक्त ग्रन्थोंमें नहीं ली गई किन्तु उक्त ग्रन्थोंसे ही तिलोयपण्णतिमें ली गई हैं। यह बात जयधवलाकी तथा तिलोयपण्णतिकी प्रस्तावनामें तथा अनेकान्त वर्ष २ कि० १ में प्रकाशित 'कुन्दकुन्द और यतिवृषभमें पूर्ववर्ती कौन' शीर्षक मुख्तार साहबके लेखमें युक्तिपूर्वक सिद्ध की गई है।

ति० प० के प्रथम अधिकारकी गाथा ९५ से १०१ में परमाणुका स्वरूप बतलाया है। उन गाथाओंके देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारको परमाणुके सम्बन्धमें जो भी गाथायें ग्रन्थान्तरोंमें मिली उन सबको उन्होंने एकत्र कर दिया है। उनमेंसे गाथा ९५, ९७ और १०१, क्रमसे पञ्चास्तिकायकी ७५ वीं ८१ वी और ७८ वीं गाथा हैं। अन्तिम चरणमें मामूली पाठ भेद है। शेष गाथाओंमेंसे एक गाथा इस प्रकार है—

अंतादिमज्झ हीणं अपदेसं इंदिएहि ण हु गेज्झं।
जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणु कहंति जिणा॥ ९८॥

इस गाथाके पूर्वार्द्धका अन्तिम भाग परिकर्मवाले उद्धरणसे मिलता है। ति० प० में अन्य ग्रंथोंसे ली गई गाथाओंमें मामूली पाठभेद प्रायः पाया जाता है। अतः इसमें भी 'णेव इंदिए गेज्झं' के स्थानमें 'इंदिएहि ण हु गेज्झं' पाठ पाया जाता है। न उसके शब्दोंमें अन्तर है और न अर्थमें, अन्तर है शब्दोंके हेरफेर मात्रका, जो महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है उसके पहले 'अपदेसं' पदका पाया जाना, जो परिकर्मवाले गाथांशमें है। उस गाथांशके पहले 'अंतादिमज्झहीणं' पद जोड़ दीजिये, गाथाका पूर्वार्द्ध पूरा हो जाता है। इसमें नियमसारवाली गाथाका 'अंतादि अंतमज्झं अत्तंतं' को संक्षिप्त करके 'अंतादिमज्झहीणं' बना दिया गया है और 'अपदेसं' उसमें और रख दिया गया है। हमें लगता है कि ति० प० में यह गाथा परिकर्मसे उसी प्रकार ली गई होनी चाहिये जिस प्रकार पञ्चास्तिकायसे ३ गाथायें ली गई हैं। और पञ्चास्तिकायकी तरह ही परिकर्म भी कुन्दकुन्दकी ही कृति होना चाहिये यह बात नियमसारकी गाथाके साथ परिकर्मोक्त गाथांशके मिलानसे प्रमाणित होती है।

अतः परिकर्मके अस्तित्व, और षट्खण्डागमके आद्य भाग पर उसके रचे जानेकी तरह ही उसके कुन्दकुन्दकृत होनेका इन्द्रनन्दिका कथन बिल्कुल

यथार्थ प्रतीत होता है। और इसलिए कुन्दकुन्दके समय निर्धारणका वह एक प्रमाणिक आधार हो सकता है।

शेष दो मुद्दे

शेष दोनों मुद्दे तो ऐसी स्थितिमें नहीं हैं जिनके आधार पर कुन्दकुन्दके समयका दिर्धारण किया जा सके; क्योंकि कुन्दकुन्दके किसी ग्रन्थसे इस प्रकारका कोई सकेत नही मिलता कि वह किसी राजाको लक्ष्य करके रचा गया है। कुन्दकुन्दके पूर्व टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि भी इस विषयमें मूक हैं। १२ वीं शताब्दीके टीकाकार जयसेन जिस पञ्चास्तिकायको शिवकुमार महाराजके लिए बनाया कहते है, उसीके अन्तमें कुन्दकुन्द कहते है कि प्रवचनकी भक्तिसे प्रेरित होकर मार्गकी प्रभावनाके लिये मैंने पञ्चास्तिकायको रचा। अतः शिव-कुमार महाराज विषयक उल्लेख ऐसी स्थितिमें नहीं है जिसके आधारपर कुन्द-कुन्दका समय निर्णय किया जा सके।

इसी तरह कुरलके कर्तृत्वकी बात भी सन्देहास्पद है। कुरलके कर्ता एलाचार्य हो सकते हैं। मगर कुन्दकुन्दका नाम एलाचार्य था यह सिद्ध नहीं होता। और जब प्रो० चक्रवर्ती कुन्दकुन्दके कर्तृत्वको आधार बनाकर कुरलको ईसाकी प्रथम शताब्दीमें ला रखनेकी बात कहते है तब तो कुरलके आधारपर कुन्दकुन्दके समय निर्धारणके बजाय कुन्दकुन्दके आधारपर कुरलका समय निर्धारित करनेकी बात आ जाती है। अतः दोनों मुद्दे विशेष कार्यकर नहीं हैं। इन सबमें कुन्दकुन्दके समयका निर्णय करनेमें श्रुतावतार विषयक परिकर्म ही एक ठोस आधार प्रतीत होता है।

किन्तु डा० उपाध्येने इन्द्रनन्दिके इस कथनको कि कुन्दकुन्दने षट्खण्डा-गमके एक भाग पर टीका लिखी थी, कई कारणोंसे मान्य नहीं किया है। उन्होंने उसके जो कारण बतलाये वह इस प्रकार हैं—

१ इस प्रकारकी कोई टीका उपलब्ध नही है।

२ धवला जयधवलामें भी उसका कोई संकेत मुझे प्राप्त नहीं हो सका।

३ उत्तर कालीन साहित्यमें भी इस टीकाका कोई उल्लेख प्रकाशमें नहीं आया।

४ अनेक ग्रन्थोंमें इस बातका कोई उल्लेख नहीं है कि कुन्दकुन्दने षट्खण्डागम पर कोई टीका लिखी थी। इससे प्रतीत होता है कि यह बात आम तौरसे प्रसिद्ध नहीं थी।

५ तथा विबुध श्रीधर तकने अपने श्रुतावतारमें इन्द्रनन्दिके कथनको स्वीकार नहीं किया। उसने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि दोनों सिद्धान्त ग्रन्थ परम्परासे कुन्दकुन्दको प्राप्त हुए और उनसे पढ़कर कुन्दकीर्तिने षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा। इस तरहसे बात दोनोंके बीचमें रह जाती है और इसका निर्णय होना कठिन है; क्योंकि अन्यत्रसे इसका समर्थन नहीं होता। जहाँ तक कुन्दकुन्दका प्रश्न है मुझे (उपाध्येको) उसमें सदेह है; क्योंकि मैंने उन्हें एक व्याख्याकारकी अपेक्षा सिद्धान्त विवेचक ही अधिक पाया है।' इन कारणोंसे डा० उपाध्येने इन्द्रनंदिके कथनको मान्य नही किया। किंतु उक्त कारण विशेष जोरदार नहीं है।

प्रथम तो इन्द्रनन्दिने यह नहीं लिखा कि कुन्दकुन्दने कोई टीका लिखी थी। प्रत्युत परिकर्म नामका ग्रंथ लिखा और वह षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर लिखा। यह हम ऊपर देख चुके हैं कि षट्खण्डागमके जीवट्ठाणकी धवलामें परिकर्म विषयक उल्लेखोंकी बहुतायत है, और खुद्दाबन्धकी धवलामें भी उसके उल्लेख मिलते है। उन उल्लेखोंसे यह भी प्रकट होता है कि परिकर्मका आधार षट्खण्डागमके सूत्र हैं। किन्तु जैसा कि डा० उपाध्येका कुन्दकुन्दके विषयमें अभिमत है, परिकर्म मात्र टीका ग्रन्थ नहीं है। ग्रन्थकार कुन्दकुन्दके कर्तृत्वकी छाप उसके पदपद पर अंकित है।

विबुध श्रीधरने इन्द्रनन्दिका अनुसरण करते हुए भी जो बीचमें एक कुन्दकीर्तिकी कल्पना कर डाली है वह एकदम निराधार है; क्योंकि कुन्दकुन्दके शिष्य किसी कुन्दकीर्तिका कहीं संकेत तक भी नहीं है। विबुध श्रीधरके श्रुतावतारमें इस तरहकी इतिहासविरुद्ध अनेक बाते हैं। जब कि इन्द्रनन्दिका कथन बहुत कुछ सन्तुलित और साधार है। जैसा कि परिकर्म विषयक उसके उल्लेखसे स्पष्ट है। डा० उपाध्येके पत्रसे हमें यह जानकर हर्ष हुआ कि उन्होने जब अपनी उक्त प्रस्तावना लिखी थी तब धवलाका प्रकाशन नहीं हुआ था। उसके प्रकाशमें आने पर उनके उक्त मतमें परिवर्तन हो गया है।

प्रो० हीरालालजीने भी इन्द्रनन्दिके उल्लेखको साधार माना है उन्होने षट्खण्डागम पु० १ की प्रस्तावनामें लिखा है—

'षट्खण्डागमके रचनाकाल पर कुछ प्रकाश कुन्दकुन्दाचार्यके सम्बन्धसे भी पडता है। इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमे कहा है कि जब कर्मप्राभृत और कषाय प्राभृत दोनों पुस्तकारूढ हो चुके तब कोण्डकुन्दपुरमें पद्मनन्दि मुनिने,

जिन्हें सिद्धान्तका ज्ञान गुरुपरिपाटीसे मिला था, उन छह खण्डोंमेंसे प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक वारह हजार श्लोक प्रमाण टीका ग्रन्थ रचा। पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यका भी नाम था और श्रुतावतारमें कोण्डकुन्दपुरका उल्लेख होनेसे इसमें सन्देह नहीं रहता कि यहाँ उन्हींसे अभिप्राय है।'

अब हम देखेंगे कि श्रुतावतार विषयक उक्त उल्लेखके आधारपर कुन्दकुन्द का कौनसा समय निर्धारित होता है।

तिलोयपण्णति, हरिवंशपुराण, धवला, जयधवला, आदि पुराण, उत्तर पुराण, श्रुतावतार और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिमें भगवान् महावीरके पश्चात् हुए अंग पूर्ववेता आचार्योंकी तालिका काल गणनाके साथ दी है। तदनुसार भगवान महावीरके पश्चात् ६२ वर्षमें तीन केवली हुए, फिर सौ वर्षोंमे पाँच श्रुतकेवली हुए, फिर एकसौ तिरासी वर्षोंमें ग्यारह एकादशांग और दस पूर्वोंके धारी हुए। फिर २२० वर्षोंमें पाँच एकादशांगके वेत्ता हुए। फिर ११ वर्षोंमें चार आचारांगधारि क्रमसे हुए। इस तरह ६८३ वर्ष तककी आचार्य परम्परा दी है जिसमें अन्तिम व्यक्ति लोहाचार्य हुए।

किन्तु नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें जो महावीर भगवानके पश्चात् हुए अंगविदाचार्योंकी काल गणना दी है, वह ऊपर्युक्त काल गणनासे विशिष्टता को लिये हुए है। प्रथम तो उसमें प्रत्येक आचार्यका काल पृथक् २ बतलाया है। दूसरे, पाँच एकादशांग धारियों और ४ आचारांगधारियोंका काल २२० वर्ष बतलाया है। तदनुसार भगवान महावीरके निर्वाणसे लोहाचार्य तकका काल ५६५ वर्ष ही होता है। अतः शेष ११८ वर्षोंमें अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलीको गिनाया है। इस तरहसे इस पट्टावलीमें भी भगवान महावीरके पश्चात्से ६८३ वर्ष पर्यन्तकी गुरू परम्परा दी है किन्तु उनमें धरसेन और पुष्पदन्त भूतबलीको भी सम्मिलित कर लिया है। यह पुष्पदन्त भूतबली वही हैं जिन्होंने षट्खण्डागमकी रचना की थी।

इस पट्टावलीमें पुष्पदन्त और भूतबलिका समय ३०+२०=५० वर्ष बतलाया है तदनुसार वीरनिर्वाण सं० ६८३ (वि० स० २१३) के लगभग षट्खण्डागमकी रचना हो चुकी थी। अत. षट्खण्डागमके आद्य भाग पर परिकर्मकी रचना करनेवाले कुन्दकुन्द अवश्य ही इससे पहले नहीं हो सकते। अतः उनके समयकी पूर्वावधि वि० सं० २१३ निर्धारित होती है।

श्रुतावतारके अनुसार कुन्दकुन्द षट्खण्डागम पर ग्रन्थ लिखनेवाले प्रथम व्यक्ति थे। उनके पश्चात् ही शामकुण्ड, आदिने अपनी टीकाएँ लिखीं थी। अतः कुन्दकुन्द उक्त पूर्वावधिसे अधिक समय पश्चात् नहीं होने चाहिये। इस प्रसंगमें विद्वज्जन बोधकमें उद्धृत उस श्लोकको नहीं भुलाया जा सकता जिसमें वीर निर्वाणसे ७७० वर्षोंके पश्चात् उमास्वामी और कुन्दकुन्दका होना लिखा है। श्लोक इस प्रकार है—

वर्षे सप्त शते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ।
उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च॥

इस श्लोकमें मुख्य रूपसे उमास्वामीका समय बतलाया है। अतः वीर निर्वाण ७७० में (वि० सं० ३००) उमास्वामी हुए। कुन्दकुन्द चूँकि उमास्वामीके समकालीन थे इस लिये पीछे उनका नाम भी जोड़ दिया गया है। किंतु शिलालेखोंसे यह प्रमाणित है कुंदकुंद उमास्वामीसे पहले हुए हैं और कुंदकुंदके अन्वय या वंशमें उमास्वामी हुए हैं। किंतु कुंदकुंद और उमास्वामीके मध्यमें किसी अन्य आचार्यका नाम नहीं है। अतः दोनोंके बीचमें अधिक समयका अंतराल संभव प्रतीत नहीं होता। तथा नंदिसंघकी पट्टावलीमें तो कुंदकुंदके पश्चात् ही उमास्वामीका आचार्य पदपर प्रतिष्ठित होना लिखा है। जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उमास्वामी कुंदकुंदके शिष्य थे। किन्तु यदि शिष्य न भी हों तो भी दोनोंके बीचमें अधिक समयका अन्तराल होना संभव प्रतीत नहीं होता; क्योंकि जब कुन्दकुन्द वि० सं० २१३ से पूर्व नहीं हुए और उक्त श्लोकके अनुसार उमास्वामी वि० सं० ३०० में हुए तो दोनोंको लगभग समकालीन ही समझना चाहिये। क्योंकि वि० सं० २१३ से ३०० तकके ८७ वर्षके समयमें दोनों हुए हैं। उक्त श्लोकमें जिस ढङ्गसे उमास्वामीका समय बतलाया गया है उसे देखते हुए तथा उसके साथ ही अन्य बातोंको भी दृष्टिमें रखनेसे वि० सं० ३०० या वी० नि० सं० ७७० उमास्वामीके समयकी अन्तिम मर्यादा ही समुचित प्रतीत होती है। मुख्तार साहबने इसीकी पुष्टिकी है।

ऐसी स्थितिमें यही मानना उचित प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द वी० नि० सं० ६८३ के पश्चात् तुरन्त ही हुए हैं। अतः उनका समय विक्रमकी तीसरी शताब्दीका पूर्वार्ध अथवा ईसाकी दूसरी शताब्दीका उत्तरार्ध ही समुचित प्रतीत होता है। श्री प्रेमीजी मुख्तार साहब तथा प्रो० हीरालालजी

आदिको भी यही समय मान्य है और डा० उपाध्ये भी उससे सहमत प्रतीत होते हैं। डा० उपाध्येने कुन्दकुन्दका समय ईस्वीका प्रारम्भकाल माना है। प्रो० हीरालालजी इस प्रारम्भ कालकी व्याख्या लगभग प्रथम दो शताब्दियोंके भीतरका समय करते है; जो उक्त समयके ही अनुकूल है।

कुन्दकुन्द और यतिवृषभ—उक्त प्रकारसे इन्द्रनन्दिके कथनका एक अंश तो ठीक प्रमाणित होता है क्योंकि कुन्दकुन्दको पट्खण्डागमकी प्राप्ति होने और उस पर परिकर्म नामक ग्रन्थ रचनेकी बात सिद्ध होती है। और जहां तक गुणधरकृत कसाय पाहुडकी गाथाओंके कुन्दकुन्दको प्राप्त होनेकी बात है वहां तक भी ठीक है क्योंकि गुणधराचार्य हमें धरसेनसे अर्वाचीन प्रतीत नहीं होते। किन्तु गुणधराचार्यके गाथासूत्रों पर रचित यतिवृपभके चूर्णिसूत्रोंके भी कुन्दकुन्दको प्राप्त होनेकी बात विचारणीय है।

---

१ डा० उपाध्येने कुन्दकुन्दके विषयमें ऊहापोह करनेके पश्चात् जो निष्कर्ष निकाला है वह इस प्रकार है। वह लिखते हैं—'कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमें की गई इस लम्बी चर्चाके प्रकाशमें, जिसमें हमने उपलब्ध परम्पराओंकी पूरी तरहसे छान बीन करने तथा विभिन्न दृष्टिकोणोंसे समस्याका मूल्य आकनेके पश्चात् केवल संभावनाओंको समझनेका प्रयत्न किया है—हमने देखा कि परम्परा उनका समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दीका उत्तरार्ध और ईस्वी सन्की प्रथम शताब्दीका पूर्वार्ध बतलाती है। कुन्दकुन्दसे पूर्व षट्खण्डागमकी समाप्तिकी सम्भावना उन्हें ईसाकी दूसरी शताब्दीके मध्यके पश्चात् रखती है। मर्कराके ताम्रपत्रसे उनकी अन्तिम कालावधि तीसरी शताब्दीका मध्य होना चाहिये। चर्चित मर्यादाओंके प्रकाशमें, ये सम्भावनाएँ—कि कुन्दकुन्द पल्लववंशी राजा शिवस्कन्दके समकालीन थे और यदि कुछ और निश्चित आधारों पर यह प्रमाणित हो जाये कि वही एलाचार्य थे तो उन्होंने कुरलको रचा था, सूचित करती हैं कि उपर बतलाये गये विस्तृत प्रमाणोंके प्रकाशमें कुन्दकुन्दके समयकी मर्यादा ईसाकी प्रथम दो शताब्दिया होनी चाहिये। उपलब्ध सामग्रीके इस विस्तृत पर्यवेक्षणके पश्चात् मैं विश्वास करता हूँ कि कुन्दकुन्दका समय ईस्वी सन्का प्रारम्भ है।'—प्रव० प्रस्ता० पृ० २२।

२—षट्खं०, पु०१, प्रस्ता० पृ० ३१।

वर्तमान तिलोय[1] पण्णत्ति उसमें दी गई राज्य काल गणनाके आधारसे विक्रमकी छठी शताब्दीसे पूर्वकी रचना प्रमाणित नहीं होती। यदि उसका यह वर्तमान रूप यतिवृषभकृत ही है तो यतिवृषभ विक्रमकी छठी शताब्दीके विद्वान सिद्ध होते है और इस तरह वे कुन्दकुन्दसे तीन शताब्दी पश्चात् हुए हैं।

किन्तु जयधवलामें[2] और श्रुतावतारमे यतिवृषभको आर्यमंक्षु और नागहस्तिका शिष्य बतलाया है। उन्हीसे गुणधररचित गाथा सूत्रोंको पढकर यतिवृषभने उनपर चूर्णिसूत्र रचे थे। दिगम्बर पम्परामें इस नामके आचार्यका अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं मिलता। हां, श्वेताम्बरीय नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें आर्यमंगु और आर्य नागहस्तिका नाम मिलता है। किन्तु उसके अनुसार वे दोनों समकालीन नहीं थे। उनके बीचमें लगभग दो शताब्दियोंका अन्तर था। श्वेताम्बर पट्टावलियोंके अनुसार आर्यमगु वी० नि० सं० ४७० में और नागहस्ति वी० नि० सं० ६२०–६८० में हुए। किन्तु मथुरासे प्राप्त कुषाण कालीन शिलालेख नं०५४ में आर्य नागहस्ति और मंगुहस्तिका उल्लेख है और उस पर कुषाण सम्वत् ५४ अङ्कित है जो वीरनि सं० ६५९ होता है। यह समय पट्टावलीसे भी मिल जाता है। अतः नागहस्ति ६५९–४७०=१८९ वि० सं०में विद्यमान थे। इसी समयके लगभग पट्खण्डागमकी रचना हुई। उस समय तक महाकर्म प्रकृति प्राभृत वर्तमान था। उसीके लोपके भयसे धरसेनाचार्यने पुष्पदन्त भूतवलिको बुलवाकर उसे पढाया था। नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें नागहस्तिको भी 'कम्मपयडिप्रधान' लिखा है। और यतिवृषभने भी अपने चूर्णिसूत्रोंमें 'एसा कम्मपयडीसु' लिखकर उसी महाकर्म प्रकृति प्राभृतका निर्देश किया है जो बतलाता है कि यतिवृषभ भी उससे परिचित थे। अतः चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ विक्रमकी दूसरी शताब्दीके उत्तरार्धमें हुए इन्हीं नागहस्तिके

---

१ देखो, जयधला भा० १, की प्रस्तावना, तिलोयपण्णति भा० २, में उसकी प्रस्तावना तथा 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' में 'तिलोयपण्णति और यतिवृषभ' शीर्षक लेख तथा 'जैन साहित्य और इतिहासमें-लोक विभाग और तिलोयपण्णति' शीर्षक लेख।

२—'पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णीसुत्तं कयं।' कसायपाहुड भा० १, पृ० ८८। श्रुतावतार श्लो० १५५-१५६।

शिष्य होने चाहिये। ऐसी अवस्थामें कुन्दकुन्द उनके लघु समकालीन ठहरते हैं। अतः उन्हें चूर्णिसूत्रोंकी प्राप्ति होना संभव है।

किन्तु चूर्णिसूत्रोंपर रचित उच्चारणा वृत्तिका कुन्दकुन्दके सामने उपस्थित होना संभव नहीं है। फिर भी इन्द्रनन्दिके उक्त उल्लेखका कुन्दकुन्दके उक्त निर्धारित समय पर कोई प्रभाव नहीं पडता क्योंकि कुन्दकुन्दके द्वारा उस पर कोई ग्रंथ रचना करनेका उल्लेख नही है।

मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय—भगवान महावीरके समयमें जैनसाधु सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध था। इसीसे बौद्ध त्रिपिटकोंमें महावीर को 'निगंठ नाट पुत्त' लिखा मिलता है। अशोकके शिलालेखोंमें भी 'निगंठ' शब्दसे ही उसका निर्देश किया गया है।

किन्तु धारवाड जिलेसे प्राप्त कदम्बवंसी नरेश शिवमृगेशवर्माके शिलालेख (९८) में श्वेत पट महाश्रमण संघ और निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघका पृथक् पृथक् निर्देश है। इससे प्रकट है कि ईसाकी ४-५वीं शताब्दीमें मूल निर्ग्रन्थ नाम दिगम्बर सम्प्रदायको प्राप्त हो चुका था।

इसके साथ ही गंगवंशी नरेश माधव वर्मा द्वितीय (ई० सन् ४०० के लगभग) और उसके पुत्र अविनीतके शिलालेखों (नं० ९० और ९४) में मूलसंघका उल्लेख मिलता है। चूँकि जैन परम्पराका प्राचीन मूल नाम निर्ग्रन्थ दिगम्बर परम्पराको प्राप्त हुआ था इसलिये वही मूल संघके नामसे अभिहित किया गया।

वट्टकेराचार्य रचित मूलाचार भी मूल संघसे सम्बद्ध है। अतः मूलाचार की रचनासे पूर्व मूलसंघ शब्दका व्यवहार प्रवर्तित हो चुका था। तभी तो उसका आचार मूलाचार कहा गया। मूलाचारका निर्देश यतिवृषभकी तिलोयपण्णतिमें है। और तिलोयपण्णति चूँकि ईसाकी पाँचवी शताब्दीके अन्तिम चरणके लगभग निष्पन्न हो चुकी थी। अतः मूलाचार चौथी शताब्दीके अन्त तकमें अवश्य रचा जा चुका होगा और मूल संघ नामका व्यवहार उससे भी पहले प्रवर्तित हो चुका था।

इस तरह हम देखते हैं कि कुन्दकुन्दसे दो शताब्दी पश्चात्के उल्लेख मूलसघ सम्बन्धी मिलते हैं। अतः इतना निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि ईसाकी चतुर्थ शताब्दीमें मूल संघ नामकी स्थापना अवश्य हो चुकी थी। इसकी स्थापनामें कुन्दकुन्दका प्रत्यक्ष हाथ भले ही न रहा हो किन्तु उसकी

नींव हमें उन्हींके हाथोंके द्वारा रखी प्रतीत होती है क्योंकि वे ही प्रथम दिगम्बराचार्य हैं जिन्होंने अपने प्राभृतोंमें स्पष्ट रूपसे वस्त्र और स्त्री मुक्तिका निषेध किया है और ये ही दो बातें मूल हैं जिन्हें अपनानेके कारण दिगम्बर परम्पराको मूलसंघ नाम दिया गया।

कुन्दकुन्दान्वयका प्राचीन उल्लेख मर्करांके जिस ताम्रपत्रमें है डा० गुलाबचन्द्र जीने उसके जाली होनेकी बात कही है[1]। इसीसे हमने उसकी चर्चा ही नहीं की। किंतु मर्कराका यह ताम्रपत्र शिला लेख नं० ६४ से बिलकुल मिलता हुआ है। शिला लेख ६४ में कोङ्गणि वर्मा ने जिस मूल संघके प्रमुख चन्द्रनन्दि आचार्यको भूमिदान दिया है उसीको दान देनेका उल्लेख मर्कराके ताम्रपत्रमें भी है। किन्तु इसमें चन्द्रनन्दिकी गुरु परम्परा भी दी है और उन्हें देशीयगण कुन्दकुन्दान्वयका बतलाया है। नं० ६४ लेखका अनुमानित समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दीका प्रथम चरण है और मर्कराके ताम्रपत्रमें अंकित समयके अनुसार उसका समय ई० ४६६ होता है। कोंगुणि वर्माके पुत्र दुर्विनीतका समय ४८० ई० से ५२० ई० के बीच बैठता है। अतः मर्कराके ताम्रपत्रमें अंकित समयमें कोंगुणीवर्मा वर्तमान था। और उन्होंने जिस चन्द्रनन्दिको दान दिया, वे भी वर्तमान होना चाहिये। ताम्रपत्रमें अंकित तिथि वगैरहमें भूल हो सकती है और कुन्दकुन्दान्वयके साथ देसियगणका प्रयोग भी पीछेका हो सकता है किन्तु ताम्रपत्रमें दत्त चन्द्रनन्दिकी गुरु परम्परा जाली प्रतीत नहीं होती उसका आधार अवश्य ही कोई पूर्व उल्लेख होना चाहिये।

चन्द्रनन्दिकी गुरु परम्परा इस प्रकार है—गुणचन्द्र-अभयनन्दि-शीलभद्र-जयनन्दि-गुणनन्दि-चन्द्रनन्दि। इसमें नन्द्यन्त नाम ही अधिक है और कुन्दकुन्दका मूल नाम भी पद्मनन्दि था। अतः यदि उक्त गुरु परम्पराके साथ कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख भी रहा हो तो असंभव नहीं है। हाँ, जैसा कि डा० गुलाबचन्द जी ने लिखा है, यह ताम्रपत्र पीछेसे पुनः अंकित किया गया है। यदि यह ठीक हो तो उस समय कुन्दकुन्दान्वयके साथ देसियगण जोड़ दिया गया हो यह संभव हो सकता है।

कुन्दकुन्दके उत्तर कालीन प्रभावको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उनका प्रारम्भसे ही दि० जैन परम्परा पर प्रभाव रहा है। और इसलिये यही अधिक संभव प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दान्वयकी स्थापना

१. जैन शिला लेख संग्रह भाग ३ की प्रस्तावनामें।

उन्हीके कुन्दकुन्द नाम परसे हुई हो, उसमें स्थानका नाम तो आ ही जाता है।

कोंगुणीवर्मा अविनीतका पुत्र दुर्विनीत पूज्यपाद स्वामीका शिष्य था और पूज्यपादने अपनी सर्वार्थ सिद्धिमें कुन्दकुन्दकी बारसअणुवेक्खासे कुछ गाथाएँ उद्धृत की हैं। उस अनुप्रेक्षाके अन्तमें ग्रन्थकारने अपना नाम कुन्दकुन्द दिया है। कुन्दकुन्दके पश्चात् पूज्यपाद आचार्यकी सर्वार्थ सिद्धिमें ही श्वेताम्बरीय मान्यताओंपर आक्रमण किया गया मिलता है। कुन्दकुन्दने तो केवल साधुओंके वस्त्रधारण और स्त्री मुक्तिके विरोधमें ही लिखा है किन्तु पूज्यपादने केवलीके कवलाहारवाली तीसरी बातको भी उसमें सम्मिलित कर लिया है।

अतः पूज्यपादके शिष्य दुर्विनीतके पिता कोंगुणि वर्माके शिला लेखमें कुंदकुंदान्वयका उल्लेख होना संभव है। ऐसी स्थितिमें यदि ताम्रपत्रमें अंकित कुंदकुंदान्वयके छै आचार्योंका समय सौ वर्ष भी मान लिया जाये तो कहना होगा कि ईसाकी चौथी शताब्दीके मध्यमें कुंदकुंदान्वय प्रवर्तित हो चुका था। यह हम पीछे देख चुके हैं कि ऐतिहासिक आधारों पर मूल संघकी स्थापनाका उद्गम भी ईसाकी चतुर्थ शताब्दीमें पहुंचता है। और इस तरह मूल संघ तथा कुंदकुंदान्वयकी प्रवृत्ति लगभग समकालीन ही प्रमाणित होती है। और इन दोनोंके उद्गमके मूलमें आचार्य कुन्दकुंद ही परिलक्षित होते हैं। इस पृष्ठ भूमिमें उत्तर कालमें कुंदकुंदको जो महत्त्व मिला उसका कारण स्पष्ट हो जाता है।

कुन्दकुन्दके ग्रन्थ

महत्ता—उपलब्ध दि० जैनसाहित्यमें कालक्रमकी दृष्टिसे कसायपाहुड और षट्खण्डागम सूत्रोंके पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य रचित साहित्यका ही नम्बर आता है। इस दृष्टिसे उक्त दोनों आगमिक सूत्र ग्रन्थोंको बाद कर दिया जाये तो दि० जैन परम्परामें कुन्दकुन्द द्वारा रचित साहित्य ही आद्य साहित्य ठहरता है। फिर कसायपाहुड और षट्खण्डागममें उन विषयोंकी कोई चर्चा नहीं है जिन विषयोंकी चर्चा कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित उपलब्ध साहित्यमें है। अतः उनके साहित्यका महत्त्व और भी बढ जाता है क्योंकि वह जैन परम्पराका एतद् विषयक आद्य साहित्य ठहरता है। उत्तर कालमें जैन परम्परामें द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व और आचार विषयक जो विचारधारा प्रवाहित हुई और ग्रन्थकारोंने अनेक ग्रन्थोंमें जो इन विषयोंको पल्लवित

और पुष्पित किया उनका मूल कुन्दकुन्द रचित साहित्य ही है। अतः वैदिक धर्ममें उपनिषदोंको जो स्थान प्राप्त है वही स्थान दि० जैन परम्परामें कुन्दकुन्दके साहित्यका है। उनके प्राभृतोंको यदि जैन उपनिषद् कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

डा० उपाध्येने लिखा[1] है कि शायद वेदान्तियोंके प्रस्थानत्रयीकी समानताके आधार पर कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसारको नाटकत्रय या प्राभृतत्रय कहते है। यह बतलाता है कि ये तीनों ग्रन्थ जैनोंके लिये उतने ही पवित्र और मान्य हैं जितने वेदान्तियोंके लिये उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता हैं।'

अध्यात्मके तो कुन्दकुन्द एकमात्र पुरस्कर्ता हैं। समयसारके द्वारा उन्होंने आत्मतत्त्वका जो निरूपण किया है वह समस्त जैन वाङ्मयमे अनुपम है। उसके दर्शन अन्यत्र नही होते। इसीसे अध्यात्म प्रेमी जैन साम्प्रदायिक भेद-भावको छोडकर समयसारके अध्यात्मरसका पान करते आते हैं।

अतः कुन्दकुन्दके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान जैन तत्त्वज्ञानके अभ्यासियोंके लिये खास तौरसे पठनीय और मननीय हैं।

भगवान् महावीरके उपदेशका माध्यम अर्धमागधी भाषा थी। अर्धमागधी प्राकृत भाषाका ही एक रूप है। कसायपाहुडके गाथा सूत्र और षट्खण्डागमके सूत्र भी प्राकृत भाषामें है। कुन्दकुन्दने भी प्राकृत भाषामें ही अपने ग्रन्थ रचे है। तबतक जैन वाङ्मयमें संस्कृत भाषाका प्रवेश नहीं हुआ था।

कुन्दकुन्दके प्रायः सभी ग्रन्थ 'पाहुड' कहे जाते हैं। कुछको उन्होंने स्वयं इस नामसे अभिहित किया है यथा—समयपाहुड, चरित्तपाहुड, भाव पाहुड। पाहुडका संस्कृत रूप 'प्राभृत' होता है। प्राभृतका अर्थ है—भेंट। इसी अर्थको लक्ष्यमें रखकर जयसेनने अपनी टीकामें समय प्राभृतका अर्थ इस प्रकार किया है—'जैसे देवदत्त नामका कोई व्यक्ति राजाका दर्शन करनेके लिए कोई सारभूत वस्तु राजाको देता है उसे प्राभृत (भेंट) कहते है। वैसे ही परमात्माके आराधक पुरुषके लिए निर्दोष परमात्मा रूपी राजाका दर्शन करनेके लिए यह शास्त्र भी 'प्राभृत' है। किन्तु यह अर्थ तो लौकिक अर्थ है।

---

१. प्रवचनसारकी प्रस्ता०, पृ० १।

२. 'यथा कोऽपि देवदत्तः राजदर्शनार्थं किञ्चित् सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत् प्राभृतं भण्यते। तथा परमात्माराधकपुरुषस्य निर्दोषिपरमात्मराजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतम्।'—समय प्राभृत टी०

प्राभृतका आगमिक अर्थ यतिवृषभने अपने चूर्णि सूत्रोंमें इस प्रकार किया है–'जम्हा पदेहि पुदं (फुडं) तम्हा पाहुडं' (कसायपाहुड भा १. पृ० ३८६)। जो पदोंसे स्फुट हो उसे पाहुड कहते हैं। जयधवलामें वीरसेन स्वामीने प्राभृतका अर्थ इस प्रकार किया है—'जो प्रकृष्ट अर्थात् तीर्थङ्करके द्वारा 'प्राभृत' अर्थात् प्रस्थापित किया गया है वह प्राभृत है। अथवा जिनका विद्या ही धन है ऐसे प्रकृष्ट आचार्योंके द्वारा जो धारण किया गया है अथवा व्याख्यान किया गया है, अथवा परम्परा रूपसे लाया गया है वह प्राभृत'[1] है।

अतः 'प्राभृत' शब्द इस बातका सूचक है कि जिस ग्रन्थके साथ वह संयुक्त है वह ग्रन्थ द्वादशांगवाणीसे सम्बद्ध है; क्योंकि गणधरके द्वारा रचित अंगों और पूर्वोंमेंसे पूर्वोंमें प्राभृत नामक अवान्तर अधिकार होते थे। बारह अंगोंमें सबसे विशाल और महत्वपूर्ण अंग दृष्टिवाद था। दृष्टिवाद अंगके ही अन्तर्गत चौदह पूर्व थे। पूर्वोंका महत्त्व सर्वोपरि था। पूर्वविद् कहनेसे अंगोंका ज्ञान उनमें समाविष्ट माना जाता था किन्तु अंगविद् कहनेसे पूर्वोंका ज्ञान समाविष्ट नहीं माना जाता था। अतः पूर्वविद् और श्रुतकेवली शब्द एकार्थवाची थे। वेदना खण्डके कृति अनुयोगद्वारके आदिमें जो मंगल सूत्र है उनमें दस पूर्वियों तकको नमस्कार किया है किन्तु अंगविद्को नमस्कार नहीं किया। उनही पूर्वोंके अन्तिमवेत्ता श्रुतकेवलि भद्रबाहु थे जो दक्षिणापथको चले गये थे। उनके अभावमें पाटली पुत्रमें जो प्रथमवाचना हुई उसमें ग्यारह अंग तो संकलित हो सके किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहुके सिवाय बारहवाँ अंगका कोई जानकार दूसरा था ही नहीं। इसलिए वह संकलित ही नहीं हो सका। फलतः श्वेताम्बर परम्परामें पूर्वोंका लोप होगया।

श्वेताम्बरोंकी तरह दिगम्बरोंने कभी भी अंगोंको संकलित करनेका प्रयत्न नहीं किया। इसका एक विशिष्ट कारण है। दिगम्बर परम्परामें अंगज्ञानका उत्तराधिकार गुरु शिष्यके रूपमें प्रवाहित होता रहा। गुरु अपना उत्तराधिकार जिसको सौंप जाता था वही उस ज्ञानका अधिकारी व्यक्ति माना जाता था।

---

१. 'प्रकृष्टेन तीर्थंकरेण आभृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम्। प्रकृष्टैराचार्यैं र्विद्याविृत्तवद्भिराभृतं धारितं व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्।'—कसा० पा०, भा० १, पृ० ३२५।

६८३ वर्षकी अंगविदोंकी परम्परा यही बतलाती है। अतः मुनियोंके संघको एकत्र करके वाचना करनेका प्रश्न ही दिगम्बर परम्परामें नहीं उठा। इसीसे क्रमसे ज्ञानका लोप होता चला गया। और अंग ज्ञान अन्त तक रहा जबकि पूर्वोंका ज्ञान बहुत पहले लुप्त होगया। फिर भी अन्तमें जो बचा वह पूर्वोंका ही अवशेष बचा। कषायपाहुड और षट्खण्डागम दोनों क्रमसे पञ्चम और दूसरे पूर्वसे सम्बद्ध हैं।

उन्हीं पूर्वोंका यत्किञ्चित् अवशिष्टांश कुन्दकुन्दको भी अवश्य प्राप्त हुआ जो समय पाहुडके रूपमें निबद्ध हुआ। समय पाहुडमें जिस तत्त्वका प्रतिपादन है वह जैन वाङ्मयमें अन्यत्र कहीं मिलता ही नहीं। उसे कुन्दकुन्दने श्रुतकेवली कथित कहा है और वह श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं जिनका जयकार कुन्दकुन्दने बोधप्राभृतके अन्तमें किया है। अतः कुन्दकुन्दकी रचनाएँ भी एक तरहसे उतनी ही मान्य और प्रामाणिक हैं जितने उक्त दोनों सिद्धान्त ग्रन्थ हैं।

किन्तु कुन्दकुन्दका साहित्य जैन तत्वज्ञानके प्राथमिक अभ्यासियोंके लिये उपयोगी नहीं है। ऐसे उच्चकोटिके साहित्यमें पारिभाषिक शब्दोंकी बहुतायत होना स्वाभाविक है और पारिभाषिक शब्दोंकी परिभाषाओंका न होना भी स्वाभाविक है; क्योंकि उनकी रचना प्राथमिक अभ्यासियोंके लिये नहीं, अपि तु अभ्यस्तोंके लिए की गई है।

फिर कुन्दकुन्दने अपने उपदेश प्रधान षट्प्राभृतोंमें जो उपदेश दिया है उस उपदेशके प्रधान लक्ष्य हैं श्रमण-जैनसाधु। भावप्राभृत, लिंगप्राभृत, सूत्रप्राभृत और मोक्षप्राभृत तो उन्हींसे सम्बद्ध चर्चाओंसे भरे हुए हैं। प्रवचनसार नियमसार और समयसारकी रचना भी प्रधानरूपसे श्रमणों और श्रामण्यपदके अभिलाषियोंको ही लक्ष्यमें रखकर की गई है। अतः जिनकी दृष्टि सम्यक् है वे ही कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंका ठीक रहस्य समझनेके अधिकारी हैं। उनके कथनमें जो नय दृष्टियाँ हैं उनको समझे बिना उनके कथनको नहीं समझा जा सकता। और उभय नयदृष्टियोंको समझकर भी उभयनय दृष्टियोंके पारस्परिक विरोधको मिटानेवाले स्याद्वादको लक्ष्यमें रखे बिना ज्ञाता अपनेको मध्यस्थ नहीं रख सकता। अतः कुन्दकुन्दके ग्रन्थ रचनाशैली और वस्तुप्रतिपादन शैलीकी दृष्टिसे सरल और सुगम होते हुए भी गहन हैं। आगे उनके ग्रन्थोंका परिचय दिया जाता है।

कहा जाता है कि कुन्दकुन्दने ८४ पाहुडोंकी रचना की थी। कुछके नाम भी सुने जाते हैं किन्तु इस कथनमें वास्तविक तथ्य कितना है यह कहना

शक्य नहीं है। जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमेंसे कुछको तो निश्चित रूपसे कुन्द-कुन्द कृत माना जाता है किन्तु कुछके सम्बन्धमें विवाद है। जिन ग्रन्थोंको निश्चित रूपसे कुन्दकुन्दकृत माना जाता है उनको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है। एक भागमे पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार और समयसार आते है और दूसरे भागमे अन्य प्राभृतादि आते हैं। पहला भाग कुन्दकुन्दके जैन-तत्त्वज्ञान विषयक प्रौढ पाण्डित्यसे परिपूर्ण है और दूसरा भाग सरल एवं उपदेश प्रधान आचरणमूलक तत्त्वचिन्तनको लिए हुए हैं। पहले भागमें दार्शनिक एवं तत्त्वचिन्तक कुन्दकुन्दाचार्यके दर्शन होते हैं और दूसरे भागमें श्रमणाधिपति आचार्य कुन्दकुन्दके दर्शन होते है।

उनकी शैली प्रसन्न सरल एवं गम्भीर है। उनकी एक एक गाथा एक एक अनमोल रत्न है। गम्भीरसे गम्भीर विषयका प्रतिपादन वे इतनी सरलतासे करते हैं कि पाठकको उसे हृदयंगम करनेमें कठिनाई नहीं होती। उनके उपदेश माताके दूधके समान पवित्र एवं निर्दोष हैं और आलोचना परमहितोपदेशी गुरुकी शिक्षा है। पूज्यपाद स्वामीने अपनी सर्वार्थसिद्धिको प्रारम्भ करते हुए एक निर्ग्रन्थाचार्यके जो विशेषण दिये हैं—'परहितप्रतिपादनैककार्य और युक्त्यागम कुशल, वे दोनों विशेषण कुंदकुंदमें पूरी तरहसे घटित होते हैं। पहला भाग उनकी युक्ति और आगममें कुशलताकी छापसे अंकित है दूसरा भाग परहितप्रतिपादनतासे। किन्तु समयसारमें तो उनकी दोनों विशेषताएँ पद-पद पर छाई हुई हैं। कुन्दकुन्दके दोनों गुणोंका निखार समयप्राभृतमें अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। निश्चय और व्यवहारका जो सामञ्जस्य उसमें बतलाया गया है वह उनकी युक्ति और आगमकी कुशलताका अपूर्व उदाहरण है तथा उसके द्वारा जो परमार्थकी सिद्धि बतलाई गई है वह उनके परहित प्रतिपादनके कार्यका ही चमत्कार है। उस अपूर्व तत्त्वके दर्शन अन्यत्र नहीं होते।

सचमुचमें कुंदकुंदका साहित्य हमारे लिए उतना ही महान् है जितना भगवान महावीरकी दिव्यवाणी और गौतम गणधरके द्वारा रचित द्वादशांग।

सबसे प्रथम हम उनके उस साहित्यका परिचय कराते है जिसके कुन्दकुन्द रचित होनेमें सन्देह अथवा विवाद है।

१ परिकर्म—इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें लिखा है कि कुंदकुंदपुरके पद्मनन्दि ने षट्खण्डागमके आद्य भाग पर परिकर्म नामका ग्रंथ रचा। धवला टीकामें

परिकर्मके अनेक उद्धरण मिलते हैं। कुंदकुंदके समयकी चर्चा करते हुए उसके कतिपय उद्धरण पीछे उद्धृत किये गये हैं और यह भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि परिकर्म कुन्दकुन्द रचित होना चाहिये। यह ग्रन्थ करणानुयोगका एक अपूर्व ग्रन्थ होना चाहिये। वीरसेन स्वामीके सन्मुख यह उपस्थित था और संभवतया इन्द्रनन्दिने भी इसे देखा था। इस तरह विक्रमकी १०–११वीं शताब्दी तक उसके अस्तित्वका पता चलता है। उसके प्रकाशमें आनेपर कुन्दकुन्दकी युक्त्यागम कुशलतामें चार चाँद लग जायेंगे।

२ मूलाचार—मूलाचार नामक ग्रन्थ वसुनन्दि विरचित संस्कृत टीकाके साथ माणिकचन्द्र जैन ग्रंथमाला बम्बईसे दो भागोंमें प्रकाशित हुआ है। टीकाकारने इसे वट्टकेराचार्यकी कृति बतलाया है। किन्तु ग्रंथकी अन्तिम पुष्पिकामें उसे कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत लिखा है। यथा —"इति मूलाचार विवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्री श्रमणस्य।"

डा० उपाध्येने प्र० सा० की अपनी प्रस्तावनामें लिखा है कि मुझे दक्षिण भारतसे मूलाचारकी कुछ प्रतियाँ देखनेको मिली हैं जो बिना किसी मिलावटके असली प्रतीत होती है, उनमें ग्रन्थ कर्ताका नाम कुन्दकुन्दाचार्य दिया है। श्री जुगल किशोरजी मुख्तारका भी झुकाव इसी ओर है। उन्होंने लिखा[1] है कि सम्भव है कुन्दकुन्दके प्रवर्तकत्व गुणको लेकर ही उनके लिए 'वट्टकेर' जैसे शब्दका प्रयोग किया गया हो।' पं० हीरालाल[2] जी सिद्धान्त शास्त्रीने भी 'वट्टकएराचार्य' का 'वर्तकएलाचार्य' अर्थ कल्पना करते हुए मूलाचारको कुन्दकुन्दकी कृति बतलाया है। पं० [3]परमानन्दजीने भी मूलाचारकी गाथाओंका मिलान कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंके साथ करके यही निष्कर्ष निकाला है।

किन्तु श्री नाथूरामजी[4] प्रेमी वट्टकेरिको मूलाचारका कर्ता मानते है। उनका कहना है कि वेट्टगेरि या वेट्टकेरी नामके कुछ ग्राम तथा स्थान पाये जाते है। मूलाचारके कर्ता उन्हींमेसे किसी वट्टगेरि या वट्टकेरि ग्रामके रहने वाले होंगे और उसपरसे कोण्डकुन्दादिकी तरह वेट्टकेरि कहलाने लगे होंगे।

इस तरह इसके सम्बन्धमें विभिन्न मत है। वट्टकेराचार्य नामके किसी आचार्य

---

१. जै० सा० और इति० पर वि० प्र०, पृ० १०० । २—अनेकान्त, वर्ष १२ कि० ११, पृ० ३३२ । ३—अनेकान्त २ वर्ष, कि० ३ । ४ जैन सि० भास्कर, भाग १२, कि० १ ।

का कहींसे कोई पता नही चलता। साथ ही कुंदकुदके लिये उनके प्रसिद्ध नामों को छोड़कर इस प्रकारके नये नामका प्रयोग किया जाना भी बड़ा विचित्र प्रतीत होता है। किन्तु मूलाचार एक प्राचीन ग्रंथ है। तिलोयपण्णत्तिमें उसका उल्लेख मिलता है। तथा जैसे कुन्दकुन्दके प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और समयसारकी अनेक गाथाएँ ति० प० में संगृहीत है वैसे ही मूलाचारकी भी कतिपय गाथाएं संगृहीत हैं। अतः मूलाचार यदि कुन्दकुन्द कृत हो तो कोई आश्चर्य नही, बल्कि स्वाभाविक जैसा ही है; क्योंकि मूलसंघके मूल आचार्य कुन्दकुन्दके द्वारा मूलाचार नामक ग्रन्थका रचा जाना उचित और संभव प्रतीत होता है। यदि टीकाकार वसुनन्दिने अपनी टीकामें उसके रचयिताका नाम वट्टकेराचार्य न दिया होता तो मूलाचारको कुन्दकुन्द कृत माननेमें शायद कोई विवाद ही पैदा न हुआ होता। किन्तु दूसरे नामके रहते हुए सबल प्रमाणोंके बिना मूलाचारको कुंदकुंदका नहीं कहा जा सकता।

३ रयणसार—मा० ग्र० माला बम्बईसे प्रकाशित षट्प्राभृतादि संग्रहमें यह ग्रन्थ मूल रूपमें प्रकाशित हो चुका है। इसके सम्बन्धमें डा० उपाध्येने अपनी प्र० सा० की प्रस्तावनामें जो राय दी है वह इस प्रकार है—'रयणसार ग्रन्थका रूप हमें बहुत बुरी दशामें मिलता है। दो प्रतियोंके तुलनात्मक अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि गाथाओंकी संख्या तथा क्रम निश्चित नहीं है। यदि अन्य प्रतियाँ एकत्र की जायें तो उनकी संख्या और क्रममें और भी भेद वृद्धि होना सभव है। उसमें विचारोंकी पुनरुक्ति है और व्यवस्थितपना सन्तोषजनक नहीं है। और इसका कारण उसमें अतिरिक्त गाथाओंकी मिलावट हो सकती है। उसके मध्यमें एक दोहा तथा लगभग आधा दर्जन पद्य अपभ्रंश भाषामें हैं। कुन्दकुन्दके ग्रंथोंमें ऐसा नहीं पाया जाता। अतः जिस स्थितिमें रयणसार वर्तमान है, उसे कुन्दकुन्दका नहीं माना जा सकता। यह संभव है कि रयणसारका आधारभूत रूप कुन्दकुन्द रचित हो। फिर भी उस परिणामके पोषक कुछ प्रमाण तो उपस्थित करने ही होंगे। कुछ बातें उसमें ऐसी है जो कुन्दकुन्दके कर्तृत्वके बिलकुल अनुरूप नहीं है। पुष्पिकामें कुन्दकुन्दका नाम नहीं है। कुछ पद्य अपभ्रंशमें हैं जो कुंदकुंदके ग्रंथोंके लिये असाधारण बात है। इसमें संदेह नहीं कि उसमें बहुतसे विचार कुंदकुंदके अनुरूप है किंतु उसमें कुछ सामाजिक तत्व भी है जो कुंदकुंदके ग्रंथोंमें नही मिलते। उसमे गण, गच्छ, संघ वगैरहका उल्लेख है। कुंदकुंदके ग्रंथोंमें उपमा पाई जाती है किंतु रयणसारमें उनकी बहुतायत है। अतः डा० उपाध्येने लिखा है कि

जब तक कुछ अधिक प्रमाण प्रकाशमें नहीं आते तब तक रयणसारका कुन्दकुन्द रचित माना जाना विचाराधीन ही रहेगा।

हमने भी उक्त कारणोंसे इस संग्रहमें रयणसारको सम्मिलित नहीं किया है।

४ दशभक्ति—'प्रभाचन्द्रने सिद्धभक्तिकी संस्कृत टीकामें लिखा है कि संस्कृतकी सब भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामीकृत है और प्राकृतकी सब भक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्य कृत है। यहाँ हमारा प्रयोजन केवल प्राकृत भक्तियोंसे है। ये भक्तियाँ पञ्च-नमस्कार मंत्र और चत्तारि दण्डकसे प्रारम्भ होती है।

१ पहली भक्ति—सिद्ध भक्ति है। इसमें बारह गाथाओंके द्वारा सिद्धोंका स्तवन किया गया है। यों तो अपने शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षा सब सिद्ध समान है उनमें कोई अन्तर नहीं है तथापि जिस पर्यायसे उन्होंने सिद्ध दशाको प्राप्त किया उसकी अपेक्षासे सिद्धोंमें भेद कल्पना करके उनका स्तवन किया गया है। यथा तीर्थङ्कर सिद्ध, अतीर्थङ्कर सिद्ध, जलसिद्ध, थलसिद्ध, आकाशसिद्ध, इत्यादि।

२ श्रुत भक्ति—इसमें ग्यारह गाथाओंके द्वारा द्वादशांगका स्तवन किया गया है। बारहवें अंगके अनेक भेद हैं जिनमें १४-पूर्व भी हैं। उन पूर्वोंमें वस्तु नामक अनेक अधिकार तथा प्राभृत नामक अवान्तर अधिकार होते है। इसमें प्रत्येक पूर्वके अन्तर्गत वस्तु और प्राभृत नामक अधिकारोंकी संख्या भी बतलाई है। इस दृष्टिसे यह भक्ति महत्त्वपूर्ण है।

३ चारित्र भक्ति—इसमें अनुष्टुप् छन्दमें दस प्राकृत पद्य हैं। आरम्भ भगवान महावीरकी बन्दनासे होता है जिन्होंने सब जीवोंके लिये सामायिक छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यातके भेदसे पाँच प्रकारके चारित्रका कथन किया है। आगे साधुओंके २८ मूल गुणों और उत्तर गुणोंको बतलाया है।

४ योगि भक्ति—इसमें २३ गाथाएँ हैं। उनके द्वारा निर्ग्रन्थ साधुओंका गुणकीर्तन बड़े सुन्दर ढंगसे किया गया है। दो से लेकर चौदह तक संख्या-वाले गुणोंके द्वारा साधुसम्बन्धी सभी विशेषताएँ उससे ज्ञात हो जाती हैं। यथा, दो दोषोंसे रहित, तीन दण्डोंसे विरत, चार कषायोंका मथन करने-

---

१ 'संस्कृताः सर्वा भक्तयः पूज्यपाद स्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः।—दश भक्ति पृ० ६ (शोलापुर संस्करण)।

वाले, पाँच इन्द्रियोंके जयी, इत्यादि। आगे साधुके विविध आसनों, उपवासों और तपोंका कथन है। फिर ऋद्धियोंका कथन है। इस प्रकार साधुओंको नमस्कार करते हुए उनकी विशेषताओंका कथन किया है। उसके पढ़नेसे जैन साधुका सच्चा स्वरूप आँखोंके सामने आ जाता है।

५ आचार्य भक्ति—इसमें दस गाथाओंके द्वारा आचार्य परमेष्ठीकी स्तुति की गई है। इसके पाठसे ज्ञात होता है कि जैनाचार्य कितने महान होते थे-पृथ्वीकी तरह क्षमाशील, स्वच्छ जलकी तरह निर्मल, वायुकी तरह असंग, आकाशकी तरह निर्लिप्त और सागरकी तरह गम्भीर।

६ निर्वाण भक्ति इसे निर्वाणकाण्ड भी कहते हैं क्योंकि इसके हिन्दी पद्यानुवादका नाम निर्वाणकाण्ड है। इसमें चौवीस तीर्थङ्करोंके तथा अन्य विशिष्ट पुरुषोंके निर्वाण स्थानोके नामोल्लेख पूर्वक उन्हें नमस्कार किया गया है। इसमें २७ गाथाएँ हैं। जिनमें आजके प्रायः सभी प्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्रोंका नाम आ जाता है। उनमें कुछ अतिशय क्षेत्र भी हैं। कुछ ऐसे तीर्थ क्षेत्रोंके नाम भी हैं जिन्हें भुला दिया गया है।

७ पंचपरमेष्ठी भक्ति—इसमें सात पद्य हैं जिनमेंसे आदिके छः पद्य स्रग्विणी छन्दमें है और अन्तमें एक गाथा है। आरम्भके पाँच पद्योंमें क्रमसे अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु इन पंचपरमेष्ठीका गुणानुवाद है। छठे पद्यमें पंचपरमेष्ठीकी बन्दनाका फल बतलाया है। और अन्तिम गाथाके द्वारा उनके नमस्कारके फलस्वरूप भव भवमें सुख प्राप्तिकी कामना की गई है।

८ तीर्थङ्कर भक्ति—इसमें चौबीस तीर्थङ्करोंकी स्तुति की गई है। इसमें आठ गाथाएँ हैं।

इस तरह प्राकृत पद्यात्मक भक्तियाँ आठ हैं। नन्दीश्वर भक्ति और शान्ति भक्ति केवल गद्यमें हैं। उनको सम्मिलित कर देनेसे दस भक्तियाँ हो जाती हैं। प्रत्येक भक्तिके अन्तमें गद्यात्मक भक्ति भी है। डा० उपाध्येका विचार है कि गद्य भाग बहुत प्राचीन होना चाहिये। सम्भवतया आचार्य कुन्दकुन्दने उन्हींके ऊपरसे पद्यात्मक भक्तियोंको रचा हो। यही तीर्थङ्कर भक्ति चूँकि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी मान्य है अतः वह विशेष प्राचीन हो सकती है।

५ दंसणपाहुड—जैसा कि इसके नामसे व्यक्त होता है इसमें सम्यग्दर्शनका महत्त्व ३६ गाथाओंके द्वारा बतलाया गया है। दूसरी गाथामें कहा है कि

धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है अतः जो सम्यग्दर्शनसे हीन है उसे नमस्कार नहीं करना चाहिये। गाथा तीनमें सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टको भ्रष्ट कहा है और उसे मोक्षकी प्राप्तिका निषेध किया है। गाथा पाँचमें कहा है कि सम्यग्दर्शनसे रहित प्राणी लाखों करोड़ों वर्षों तक घोर तप भी करें, फिर भी उन्हें बोधि लाभ नहीं होता। इस तरह अनेक प्रकारोंसे सम्यग्दर्शनका महत्त्व और स्वरूप बतलाया है।

चरित्त पाहुड—इसमें ४४ गाथाओंके द्वारा चारित्रका कथन किया गया है। गाथा ५ में चारित्रके दो भेद किये हैं—सम्यक्त्व चरण और संयम चरण। निःशंकित आदि गुणोंसे विशिष्ट निर्दोष सम्यक्त्वके पालन करनेको सम्यक्त्व-चरण चारित्र कहते हैं (गा० ८)। संयम चरणके दो भेद किये हैं - सागार और अनगार। सागार अथवा श्रावक धर्मके भेद रूपसे ग्यारह प्रतिमाओंके नाम मात्र गिनाये हैं (गा० २१)। तथा आगे पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंको सागार सयम चरण बतलाया है। पाँच अणुव्रत तो प्रसिद्ध ही हैं। दिशा विदिशाका प्रमाण, अनर्थ दण्ड त्याग और भोगोपभोग परिमाण ये तीन गुणव्रत बतलाये हैं (गा० २४)। और सामयिक, प्रोषध, अतिथिपूजा तथा सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये है (गा० २५)। तत्त्वार्थ सूत्रमें भोगोपभोग परिमाणको शिक्षा व्रतोंमें गिनाया है और सल्लेखना-को पृथक् रखा है। तथा देशविरति नामका एक गुणव्रत बतलाया है। रत्न-करडश्रावकाचारमें गुणव्रत तो चरित्त पाहुड़की तरह ही बतलाये है। किन्तु शिक्षा व्रतोंमें देशव्रतको सम्मिलित करके संलेखना को तत्त्वार्थ सूत्र की तरह पृथक् रखा है। चरित्त पाहुडमें श्रावक धर्मका प्राचीन रूप मिलता है। यद्यपि वह अति संक्षिप्त है।

आगे अनगार धर्मका कथन है। गाथा ३१ से ३५ तक अहिंसादि पांचों व्रतोंकी पांच पांच भावनाएँ बतलाई हैं जो तत्त्वार्थ सूत्रमें बतलाई गई भाव-नाओंका पूर्व रूप प्रतीत होती हैं।

सुत्त पाहुड—इसमें २७ गाथाएँ हैं। प्रारम्भमें बतलाया है कि जो अरहंतके द्वारा अर्थ रूपसे भाषित और गणधरके द्वारा ग्रथित हो उसे सूत्र (द्वादशांगवाणी) कहते हैं। सूत्रमें जो कुछ कहा गया है उसे आचार्य परम्परा-के द्वारा प्रवर्तित मार्गसे जानना चाहिये। जैसे सूत्र अर्थात् धागेसे रहित सुई खो जाती है वैसे ही सूत्रको न जाननेवाला भी नष्ट हो जाता है।

आगे मुनिके लिये बहुत ही हितकर उपदेश दिया गया है। लिखा है—उत्कृष्ट चरित्रका पालन करनेवाला भी मुनि स्वच्छन्द विचरण करता है तो मिथ्यात्वमें गिर जाता है (गा० ९)। गा० १० में कहा है कि नग्न रहना और करपुटमें भोजन करना यही एक मोक्षका मार्ग हैं शेष सब अमार्ग हैं। आगे लिखा है कि साधु बालकी नोकके बराबर भी परिग्रह नहीं रखता (गा० १७)। इस पाहुडमें स्त्रीको प्रव्रज्याका और साधुओंके वस्त्रधारणका निषेध किया गया है (गा० २३–२६)।

बोधपाहुड—इसमें ६२ गाथाएँ हैं। और आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिलबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त और प्रव्रज्याका स्वरूप समझाया है। प्रारम्भिक गाथामें कहा है कि जिनमार्गमें जिनेन्द्रने जैसा कहा है, सब जनोंके बोधके लिए मैं संक्षेपमें कहता हूँ।

इसमें प्रव्रज्या अर्थात् मुनिचर्याका स्वरूप बहुत ही उत्तम रूपसे बतलाया है। इसी पाहुडके अन्तमें कुन्दकुन्दने अपनेको भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है और उनका जयकार किया है।

भावपाहुड—इसमें १६३ गाथाओंके द्वारा भावकी महत्ता प्रदर्शित करते हुए भावको ही गुण और दोषका कारण बतलाया है। लिखा है कि भावकी विशुद्धिके लिये ही बाह्य परिग्रहका त्याग किया जाता है। जिसका अभ्यन्तर शुद्ध नहीं है उसका बाह्य त्याग व्यर्थ है ॥ ३ ॥ करोडों जन्म पर्यन्त तपस्या करने पर भी भावरहितकी मुक्ति नहीं हो सकती ॥ ४ ॥ जो भावसे मुनि नहीं हैं ऐसा द्रव्यलिंगी मुनि, तीनों लोकोंमें परमाणु बराबर भी ऐसी जगह नहीं है जहाँ उसने जन्म-मरण न किया हो ॥ ३३ ॥ भावसे ही लिंगी होता है द्रव्यमात्रसे कोई लिंगी नहीं होता। अतः भावको धारण कर, कोरे द्रव्यलिंगसे कुछ भी होनेवाला नहीं है ॥ ४८ ॥ भव्यसेनने ग्यारह अंग चौदह पूर्वोंको पढ़ डाला फिर भी वह भावसे मुनि नहीं हो सका ॥ ५२ ॥ और शिवभूति मुनि विशुद्ध भावके कारण 'तुषमास' शब्दका उच्चारणका करते-करते केवल ज्ञानी हो गया ॥ ५३ ॥ जो शरीरादि बाह्य परिग्रहोंको और माया कषाय आदि अन्तरङ्ग परिग्रहोंको छोडकर आत्मामें लीन होता है वह भावलिंगी साधु है ॥ ५६ ॥ शरीरसे तो सब नारकी और सभी तिर्यञ्च नंगे रहते हैं। किन्तु उनके परिणाम अशुद्ध होते हैं अतः वे भावमुनि नहीं हैं ॥ ६७ ॥ पूरा प्राभृत इसी प्रकारके सदुपदेशोंसे भरा है।

मोक्खपाहुड—इसकी गाथा संख्या १०६ है। इसका प्रारम्भ करते हुए कहा है कि जिसने परद्रव्यको त्यागकर और कर्मोंको नष्ट करके ज्ञानमय आत्मा-को पा लिया उस शुद्ध देवको नमस्कार करके परम योगियोंके उत्तम परमात्मा-पदको कहूँगा, जिसे जानकर योगी अनुपम निर्वाणको प्राप्त करते हैं (१–३) आत्माके तीन भेद हैं—परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा। बहिरात्माको छोडकर परमात्माका ध्यान करना चाहिये॥ ४॥ जो पर द्रव्यमें रत है वह अनेक प्रकारके कर्मबन्धनोंसे बद्ध होता है और जो उससे विरत है वह कर्म-बन्धनोंसे छूट जाता है, यही संक्षेपमें बन्ध और मोक्षका उपदेश जिनेन्द्रदेवने दिया है॥ १३॥ इस प्रकार इस पाहुडमें मोक्षके कारण रूपसे परमात्माके ध्यानकी आवश्यकता और महत्ता बतलाई है।

उक्त छै प्राभृतों पर ही श्रुतसागरने संस्कृत टीका रची है।

सीलपाहुड—इसमें ४० गाथाएँ है। जिनके द्वारा शीलका महत्त्व बतलाया है। लिखा है शीलका ज्ञानके साथ कोई विरोध नही है, परन्तु शीलके बिना विषयवासनासे ज्ञान नष्ट हो जाता है॥ २॥ जो ज्ञान पाकर भी विषयोंमें रत रहते हैं वे मूढ़ चारों गतियोंमें भटकते हैं और जो ज्ञानको पाकर विषयोंसे विरक्त रहते हैं वे उस भ्रमणको काट डालते हैं॥ ८॥ जो शीलसे रहित हैं उनका मनुष्य जन्म निरर्थक है॥ १५॥ शील विषयोंका शत्रु है और मोक्षका सोपान है॥ २०॥ इस प्रकार सुन्दर शब्दोंमें शीलका माहात्म्य बतलाया है।

लिंगपाहुड—इसमें २२ गाथाएँ हैं। इसका पूरा नाम श्रमण लिंगपाहुड है जैसा कि इसकी प्रथम गाथामें कहा है। जैन श्रमणके लिंगको लक्ष्य करके इसमें उसके निषिद्ध आचरणोंपर आपत्ति की गई है। लिखा है—जो पापी जिनेन्द्रदेवोंके लिंगको धारण करके उसका उपहास कराता है वह लिंगियोंके लिंगको नष्ट करता है॥ ३॥ जो भोजनका लिप्सु है वह श्रमण नही है॥१२॥ जो महिला वर्ग पर राग करता है, गृहस्थ शिष्य पर अनुराग रखता है वह श्रमण नहीं है। जो दुराचारिणी स्त्रीके घर आहार करता है और शरीरका पोषण करता है वह श्रमण नही है॥२१॥

ये पाहुड अष्टपाहुड[1] नामसे एक साथ प्रकाशित हुए हैं और चूँकि श्रुत-सागरकी टीका प्रारम्भके छै पाहुडों पर ही है इसलिए वे षट्प्राभृत नामसे एक

१. अष्टपाहुड हिन्दी टीकाके साथ कई स्थानोंसे प्रकाशित हुआ है।

साथ [1]प्रकाशित हुए है। किन्तु यथार्थमें ये आठो पाहुड पृथक्-पृथक् हैं। उन्हें ग्रंथकारने एक ग्रंथके रूपमें नहीं रचा है। प्रत्येक पाहुडका नाम अलग-अलग है जो उसमें वर्णित विषयके अनुरूप है।

वारस अणुवेक्खा—इसमें ९१ गाथाओंके द्वारा बारह भावनाओंका वर्णन है। तत्त्वार्थ सूत्रमें जो बारह अनुप्रेक्षाओंका क्रम है उससे इसके क्रममें अन्तर है। यथा—अध्रुव १, अशरण २, एकत्व ३, अन्यत्व ४, संसार ५, लोक ६, अशुचित्व ७, आस्रव ८, संवर ९, निर्जरा १०, धर्म ११ और बोधि १२। धर्मभावनाका वर्णन करते हुए श्रावकधर्मको ग्यारह प्रकारका बतलाया है और मुनिधर्मको उत्तम क्षमादिरूप दस प्रकारका बतलाया है तथा दसों धर्मोंका स्वरूप भी बतलाया है। इसमेंसे संसार भावनाकी पाँच गाथाएँ जिस क्रमसे वे हैं उसी क्रमसे सर्वार्थसिद्धि टीकामें पंच परावर्तनके स्वरूपके प्रसंगमें उद्धृत है। इसकी अन्तिम गाथामें कुन्दकुन्दका नाम भी आता है।

नियमसार—इस ग्रन्थ पर पद्मप्रभ मलधारीदेवकी संस्कृत टीका है। उसके अनुसार इसमें १८७ गाथाएँ हैं। ग्रन्थकारने इस ग्रन्थमें उन तीन रत्नोंका कथन किया है जो 'नियमेण' मोक्षका मार्ग है। वे रत्न हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। आप्त, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है। गा० ५–८ मे आप्त और आगमका स्वरूप बतलाकर ग्रन्थकारने तत्त्वोंका कथन किया है। जीवका कथन ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके द्वारा किया गया है (गा० १०–१९)। आगे छै द्रव्यों और पाँच अस्तिकायोंका कथन है। व्यवहारनयसे पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ और तीन गुप्ति ये व्यवहार चारित्र है। गा० ५६-६८ में इनका वर्णन करते हुए अन्तमें निश्चयनयके दृष्टिकोणको रखा गया है। आगे प्रतिक्रमण (८३–९४ गा०), प्रत्याख्यान (गा० ९५–१०६), आलोचना (गा० १०७–१२), कायोत्सर्ग (गा० ११९–२३), सामायिक (गा० १२४–३३), और परमभक्ति (गा० १३४–१४०) इन छै आवश्यकोंका कथन किया गया है। निश्चयनयसे 'अवसस्स कम्म आवस्सयं' यह जो आवश्यककी परिभाषा दी गई है वह एकदम मौलिक है। इन आवश्यकोंके अभ्याससे सर्वज्ञताकी प्राप्तिपूर्वक मोक्षकी प्राप्ति होती है। निश्चयनयसे सर्वज्ञ केवल आत्माको जानता है और व्यवहारनयसे सबको जानता है।

---

१. षट्प्राभृतादिसंग्रह मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुआ है।

इस प्रसंगमें दर्शन और ज्ञानकी महत्वपूर्ण चर्चा है। यथार्थमें नियमसारका वर्णन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

पद्मप्रभदेवने इस ग्रन्थको १२ श्रुत स्कन्धोंमें विभक्त किया है। किन्तु यह विभाग ग्रन्थके अनुरूप नहीं है। ग्रन्थकारने ग्रन्थको एक रूपमें ही निर्मित किया है। मूल ग्रन्थको पढ़नेसे यह बात स्पष्ट रूपसे प्रतीत होती है।

गाथा १७ के अन्तमें 'लोयविभागेसु णिद्दिट्ठं' पद आता है। कुछ [1]विद्वानोंका विचार है कि कुन्दकुन्दने सर्वनन्दिके लोक-विभागका निर्देश किया है। किन्तु सर्वनन्दिके लोकविभागका जो संस्कृत रूपान्तर उपलब्ध है उसमें वह चर्चा नहीं है। अतः नियमसारका उक्त उल्लेख किसी ग्रन्थ विशेष परक नहीं है। मुख्तार[2] सा० तथा डा० उपाध्ये[3]का भी यही मत है।

पंचत्थिय[4] संगह या पञ्चास्तिकाय—इस ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारने 'समय' को कहनेकी प्रतिज्ञा की है और जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशके समवायको समय कहा है। इन पाँच द्रव्योंको पञ्चास्तिकाय कहते हैं। इन्हींका इसमें विशेष रूपसे कथन है। कथनका आरम्भ सत्ता और द्रव्यसे होता है। द्रव्य पर्याय और गुणका पारस्परिक सम्बन्ध (गा० १२–१३) बताते हुए सप्तभंगीका भी नाम निर्देश किया है (गा० १४)। आगे प्रत्येक द्रव्यका क्रमसे कथन है। छहों द्रव्योंके कथनके पश्चात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानके और सम्यक् चारित्रको मोक्षका मार्ग बतलाते हुए सम्यग्दर्शनके प्रसंगसे सात तत्त्वोंका कथन है। अन्तमें निश्चयनयसे मोक्षका मार्ग बडी सुन्दर रीतिसे बतलाया है।

पञ्चास्तिकायकी दो सस्कृत टीकाएँ हैं। एकके कर्ता अमृतचन्द्र हैं और दूसरीके कर्ता जयसेन। अमृतचन्द्रकी टीकाके अनुसार पञ्चास्तिकायकी

१—जै० सा० इ०, पृ० ११। २—अनेकान्त वर्ष २, कि० १, पृ० ११। ३—प्रव० सा० प्रस्ता०, पृ० ४२।

४—इसका दूसरा संस्करण अमृतचन्द्र और जयसेनकी संस्कृत टीकाओं तथा एक भाषा टीकाके साथ रायचन्द शास्त्र माला बम्बईसे प्रकाशित हुआ था। प्रो० चक्रवर्तीके अंग्रेजी अनुवाद और प्रस्तावनाके साथ मूल ग्रन्थ आरासे १९२० में प्रकाशित हुआ है। एक संस्करण सूरतसे प्रकाशित हुआ है जिसमें जयसेनकी टीकाका हिन्दी अनुवाद है। तथा एक संस्करण अमृतचन्द्रकी टीका और उसके हिन्दी अनुवादके साथ सेठी ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुआ है।

गाथा संख्या १७३ है और जयसेनकी टीकाके अनुसार १८१ है। अमृतचन्द्रने ग्रन्थको दो श्रुतस्कन्धोंमें विभाजित किया है, उनके पूर्वमें एक पीठिका भाग है और अन्तमें चूलिका है। यह विभाग ग्रन्थके अनुकूल है।

अमृतचन्द्रने कुछ गाथाओंको सिद्धान्तसूत्र कहा है और ग्रन्थके नामके अन्तमें 'संग्रह' पद भी है। इस परसे डा० उपाध्येने यह संभावना की है कि कुन्दकुन्दने इस ग्रन्थमें परम्परागत गाथाओंका संग्रह किया है।

प्रवचनसार—अमृतचन्द्रकी टीकाके अनुसार प्रवचनसारकी गाथा संख्या २७५ है और वह तीन श्रुतस्कन्धोंमें विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कन्धमें ज्ञानतत्त्वकी चर्चा है और उसमें ९२ गाथाएँ हैं। दूसरे श्रुतस्कन्धमें ज्ञेयतत्त्वकी चर्चा है और उसमें १०८ गाथाएँ है। तथा तीसरे श्रुतस्कन्धमें चारित्र तत्त्वका कथन है और उसमें ७५ गाथायें हैं। दूसरे टीकाकार जयसेनके अनुसार प्रवचनसारकी गाथा संख्या ३११ है। तथा उसके अनुसार प्रथम अधिकारमें १०१, दूसरेमें ११३ और तीसरेमें ९७ गाथाएँ हैं।

कुन्दकुन्दकी यह कृति उनकी तत्वज्ञता, दार्शनिकता एवं आचार प्रवणतासे ओत प्रोत है। इसकी स्वाध्यायसे उनकी विद्वत्ता, तार्किकता और आचारनिष्ठाका यथार्थरूप दृष्टिगोचर होता है। इसमें जैन तत्त्वज्ञानका यथार्थरूप और यथार्थ उद्देश बहुत ही सुन्दर रीतिसे प्रतिपादित किया गया है। यह सचमुचमें 'प्रवचन' का सारभूत ग्रन्थ है।

इसके प्रथम अधिकारमें इन्द्रियजन्य ज्ञान और इन्द्रियजन्य सुखको हेय बतलाकर अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुखको उपादेय बतलाया है और अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अतीन्द्रिय सुखकी सिद्धि करते हुए बड़ी ही सुन्दर और हृदयग्राही युक्तिके द्वारा आत्माकी सर्वज्ञताको सिद्ध किया है। इसी तरह दूसरे अधिकारमे जो द्रव्योंकी चर्चाकी है वह पञ्चास्तिकायसे विशिष्ट ही नही, मौलिक भी है। उसमें द्रव्यके सत्, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक और गुणपर्यायात्मक रूप लक्षणोंका प्रतिपादन तथा समन्वय, आत्माके कर्तृत्वा-कर्तृत्वका विचार तथा कालाणुके अप्रदेशित्वका कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जैन द्रव्यानुयोग और चरणानुयोगका मुकुटमणि कहे जानेके योग्य यह ग्रन्थ है।

समयपाहुड—अमृतचन्द्रकी टीकाके अनुसार समयपाहुडकी गाथा संख्या ४१५ है और जयसेनकी टीकाके अनुसार ४३९ है।

अमृतचन्द्रने पूरे ग्रन्थको नौ अंकोंमें विभाजित किया है। उनके पहले 'पूर्वरंग' है और अन्तमें 'परिशिष्ट' है। अमृतचन्द्रने समयसारको नाटकका रूप दिया है। उसके अनुसार यह संसार एक रंगमंच है और उसपर जीव तथा अजीव रूपी नट आस्रव आदिका पार्ट अदा करते है। ग्रन्थका अंकोंमें विभाजन, उसके पूर्वभागको पूर्वरंग नाम दिया जाना, संस्कृत नाटकोंकी तरह अंकोंके आदिमें 'प्रविशति' तथा अन्तमें 'निष्कान्तः' पदोंका प्रयोग आदि बातें समयसारको नाटकके रूपमें ही पाठकके सामने उपस्थित करती हैं। इससे पाठकको समयसारके समझनेमें पूरी सहायता मिलती है।

यह ग्रन्थ जैन अध्यात्मका मुकुटमणि है। इसके विषयका प्रतिपादक दूसरा ग्रन्थ अखिल जैन वाङ्मयमें नहीं है। इसमें शुद्ध आत्मतत्त्वका प्रतिपादन है। इसीसे इसके प्रारम्भमें सिद्धोंको नमस्कार किया गया है। आगे गा० २ में समयके दो भेद किये हैं—स्वसमय और परसमय। जो जीव अपने दर्शनज्ञान चारित्ररूप स्वभावमें स्थित हो वह स्वसमय है और जो पुद्गलकर्मोंकी दशाको अपनी दशा माने हुए है वह परसमय है। तीसरी गाथा में कहा है कि एकत्वको प्राप्त वस्तु ही लोकमें सुन्दर होती है अतः जीवके बन्धकी कथासे विसंवाद पैदा होता है॥ चौथीमें कहा है कि काम भोग सम्बन्धी बन्धकी कथा तो सब लोगोंकी सुनी हुई है, परिचयमें आई हुई है अतएव अनुभूत है। किन्तु बन्धसे भिन्न आत्माका एकत्व न कभी सुना, न कभी परिचयमें आया और न अनुभूत है अतः वह सुलभ नहीं है। उसी एकत्व-विभक्त आत्माका कथन निश्चयनय और व्यवहारनयसे किया गया है किन्तु निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है। अपनी बातको स्पष्ट करनेके लिये ग्रन्थकारने उदाहरणोंका प्रयोग बहुतायतसे किया है और विषयको सरलतासे समझानेका पूरा प्रयत्न किया है।

इसमें जीवाजीवाधिकार १, कर्तृकर्माधिकार २, पुण्य-पापाधिकार ३, आस्रवाधिकार ४, संवर अधिकार ५, निर्जरा अधिकार ६, बन्ध अधिकार ७, मोक्ष अधिकार ८, और सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार नामक अधिकार हैं। गाथा १३ में कहा है कि—'भूतार्थनयसे जाने गये जीव अजीव, पुण्य पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा बन्ध और मोक्ष सम्यक्त्व हैं। तदनुसार ही इस ग्रन्थमें भूतार्थनयसे उक्त तत्त्वोंका विवेचन किया गया है।

१—प्रथम जीवाजीवाधिकारमें जीव और अजीवके भेदको दर्शाते हुए दोनोंके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन किया है। उसमें बतलाया है कि जीवके

वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं हैं और न वह शब्द रूप ही है। उसका लक्षण चेतना है। उसका कोई नियत आकार भी नहीं है। और इन्द्रियादिसे उसका ग्रहण नही होता। किन्तु आत्माको न जाननेवाले आत्मासे भिन्न पर भावोंको भी संयोग सम्बन्धके कारण आत्मा समझ लेते हैं। कोई राग द्वेषको, कोई कर्मको, कोई कर्मफलको कोई शरीरको तो कोई अध्यवसानादि रूप भावोंको जीव कहते हैं। किन्तु ये सब जीव नहीं हैं; क्योंकि ये सब तो कर्मरूप पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे होनेवाले भाव हैं या पुद्गल द्रव्य रूप हैं। इसी तरह जो जीवस्थानों गुणस्थानों आदिको जीवका कहा जाता है वह भी व्यवहारसे कहा जाता है, क्योंकि व्यवहारका आश्रय लिए बिना परमार्थका कथन करना शक्य नहीं। अतः इन सब आगन्तुक भावोंमें ममत्व बुद्धिको हटाकर ज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं तो एक उपयोग मात्र शुद्ध दर्शन ज्ञानमय हूँ। उसके सिवाय अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।

२—दूसरे कर्तृकर्माधिकारमें बतलाया है कि यद्यपि जीव और अजीव दोनों स्वतंत्र द्रव्य है तथापि जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म-वर्गणाएँ स्वयं कर्मरूप परिणत हो जाती हैं और पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीव भी परिणमन करता है। तो भी जीव व पुद्गलका परस्परमें कर्ता-कर्मपना नहीं है, क्योकि न तो जीव पुद्गल कर्मके किसी गुणका उत्पादक है और न पुद्गल जीवके किसी गुणका उत्पादक है। केवल अन्योन्य निमित्तसे दोनोंका परिणमन होता है। इस कारणसे जीव सदा अपने भावोंका कर्ता है, वह पुद्गल कर्मकृत सब भावोंका कर्ता नहीं है ॥८०–८२॥

इसी निमित्त नैमित्तिक सन्बन्धके कारण व्यवहार नयसे जीवको पुद्गल कर्म का और पुद्गल कर्मोंको जीवके भावोंका कर्ता कह दिया जाता है। किन्तु निश्चयनयसे जीव पुद्गल कर्मोंका न कर्ता है और न भोक्ता है। अब रहे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि। इन सभीको आचार्य कुंदकुंदने जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकारका कहा है। उपयोगरूप जो मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान है वह तो जीव है। और पौद्गलिक कर्मरूप मिथ्यात्व आदि अजीव हैं ॥८७–८८॥

आत्मा जब अज्ञानादिरूप परिणमन करता है तो रागद्वेषरूप भावोंको करता है और उन भावोंका आप करता होता है। किन्तु ये अज्ञानादिरूप भाव विना पुद्गल कर्मोंके निमित्तके नहीं होते। परन्तु अज्ञानी परके और आत्माके भेद को न जानता हुआ क्रोधको अपना मानता है। ऐसा माननेसे वह अज्ञानी

अपने विकार सहित चैतन्य परिणामका कर्ता होता है और कोधादि उसका कर्म होता है। इस प्रकार अज्ञानसे कर्म होता है ॥६५॥ किन्तु जो इस भेदको जानकर क्रोधादिमें आत्मभाव नहीं करता वह पर द्रव्यका कर्ता नहीं होता।

३—तीसरे पुण्य-पापाधिकारमें पापकी तरह पुण्यको भी हेय बतलाया है। लिखा है—सोनेकी बेड़ी भी बाँधती है और लोहेकी बेड़ी भी बाँधती है। इसी तरह शुभकर्म भी जीवको बाँधता है और अशुभकर्म भी बाँधता है॥१४६॥ अतः शुभाशुभ कर्मोंसे राग मत करो उनका ससर्ग मत करो ॥१४७॥ जैसे कोई पुरुष किसी पुरुषको कुशील जानकर उसका संसर्ग छोड देता है वैसे ही अपने स्वभावमें रत ज्ञानी कर्म प्रकृतियोंके बुरे स्वभावको जानकर उनका ससर्ग छोड देते हैं ॥१४८–१४९॥ रागी जीव कर्मोंको बाँधता है और विरागी कर्मोंसे छूट जाता है। अत: चाहे शुभकर्म हो या अशुभ कर्म हो किसी कर्ममें राग मत करो ॥१५०॥ जो परमार्थभूत ज्ञान स्वरूप आत्माका अनुभव नहीं करते, वे जीव अज्ञानसे पुण्यकी इच्छा करते हैं और संसारका कारण होते हुए भी उसे मोक्षका कारण मानते हैं ॥१५४॥

४—चौथे आस्रवाधिकारमें बतलाया है कि जीवके राग-द्वेष और मोहरूप भाव आस्रव भाव है। उनका निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्मण वर्गणाओंका जीवमें आस्रव होता है ॥१६४–१६५॥ रागादि अज्ञानमय परिणाम हैं। अज्ञानमय परिणाम अज्ञानी जीवके होते हैं। ज्ञानीके परिणाम ज्ञानमय होते हैं। ज्ञानमय परिणाम होने पर अज्ञानमय परिणाम रुक जाते है। अतः ज्ञानी जीवके कर्मोंका आस्रव नहीं होता। इसलिए बन्ध भी नहीं होता।

५—संवराधिकारमें सवर तत्त्वका कथन है। रागादि भावोंके निरोधको संवर कहते हैं। रागादि भावोंका निरोध होनेपर कर्मोंका आना भी रुक जाता है। संवरका उपाय भेद विज्ञान है। उपयोग तो ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भाव जड है। अत न उपयोगमें क्रोधादि भाव और कर्म नोकर्म है, और न क्रोधादि भावोंमें तथा कर्म नोकर्ममें उपयोग है। इस प्रकार इनमें परमार्थसे अत्यन्त भेद है। इस भेदको जानना ही भेद विज्ञान है ॥१८१–१८३॥ भेद विज्ञानसे शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है। शुद्धात्माकी उपलब्धिसे अध्यवसानोंका अभाव होता है। अध्यवसानोंका अभाव होनेसे आस्रवोंका निरोध होता है। और उसके होने पर कर्मोंका निरोध होता है। कर्मके अभावमें नोकर्मका भी निरोध होता है। और नोकर्मका निरोध होनेसे संसारका निरोध होता है ॥१९०–१९२॥

६—निर्जराधिकारमें बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियोंके द्वारा चेतन और अचेतन द्रव्योंका उपभोग करता है वह सब निर्जराका कारण है ॥१९३॥ जैसे वैद्य विष खाकर भी नहीं मरता वैसे ही ज्ञानी पुद्गल कर्मोंके उदयको भोगता है किन्तु कर्मोंसे नहीं बँधता ॥१९५॥ क्योंकि सम्यग्दृष्टि जानता है कि यह राग पुद्गल कर्म है। मेरे अनुभवमें जो रागरूप आस्वाद होता है वह उसके विपाकका फल है। अतः वह मेरा भाव नहीं है। मैं तो शुद्ध ज्ञायक भाव रूप हूँ ॥१९९॥ इस तरह सम्यग्दृष्टि ज्ञायक स्वभाव आत्माको जानता हुआ कर्मके उदयको कर्मका विपाक जानकर छोड़ देता है। यह निर्जरा तत्त्वका निश्चयनयसे वेदन है।

७—बन्धाधिकारमें एक दृष्टान्तके द्वारा बन्धका कारण स्पष्ट किया है। लिखा है—जैसे कोई मल्ल शरीरमें तेल लगाकर धूल भरी भूमीमें खडा होकर तलवारसे केले आदिके पेडोंको काटता है तो उसका शरीर धूलसे लिप्त हो जाता है। यहाँ उसके शरीरमें जो स्नेह (तेल) लगा है उसीके कारण उसका शरीर धूलसे लिप्त हुआ है। इसी तरह अज्ञानी जीव जो रागादि करता हुआ कर्मोंसे बंधता है सो उसके उपयोगमें जो रागभाव है वह कर्मबन्धका कारण है। जो ज्ञानी अपने ज्ञान स्वरूपमें ही मग्न रहता है वह कर्मसे नहीं बँधता।

८—मोक्षाधिकारमें बतलाया है कि जैसे कोई पुरुष चिरकालसे बन्धनमें पड़ा हुआ इस बातको जानता है कि मैं इतने समयसे बँधा पड़ा हूं किन्तु उस बन्धनको काटनेका प्रयत्न नहीं करता तो वह बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। वैसेही कर्मके बन्धनके स्वरूपको जाननेसे कर्मसे छूटकारा नही होता। जो रागादिको दूर करके शुद्ध होता है वही मोक्ष प्राप्त करता है ॥२८९-२९०॥ जो कर्मबन्धनके स्वभाव और आत्म स्वभावको जानकर बन्धसे विरत होता है वही कर्मोंसे मुक्त होता है ॥ २९३ ॥ अर्थात् आत्मा और बन्धके स्वभावको भिन्न भिन्न जानकर बन्धको छोड़ना और आत्माको ग्रहण करना ही मोक्षका उपाय है ॥ २९५ ॥ अब प्रश्न होता है कि आत्माको कैसे ग्रहण करना चाहिये ? तो इसका उत्तर प्रज्ञाद्वारा ऐसा ग्रहण करना चाहिये कि जो यह चेतन आत्मा है वही मै हूँ। शेष सब भाव मुझसे पर हैं। इत्यादि कथन किया है।

९—सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकारमे एक तरहसे उपसंहार रूपमें पूर्वोक्त बातोंका ही कथन किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका विषय शुद्ध आत्म तत्त्व है। वह शुद्ध आत्म तत्त्व सर्वविशुद्ध ज्ञान स्वरूप है। न वह किसीका कार्य है और न वह किसीका कारण है। उसका पर द्रव्यके

साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीसे आत्मा और पर द्रव्यमें कर्ता-कर्म भाव भी नहीं है। इसी कारण आत्मा परद्रव्यका भोक्ता भी नहीं हैं। अज्ञानवश ही अज्ञानी जीव आत्माको परद्रव्यका कर्ता और भोक्ता मानता हैं।

आगे कहा है कि ज्ञानका स्वभाव ज्ञेयको जानना मात्र है। ज्ञेयको जानने मात्रसे ज्ञानमें विकार नहीं होता। ज्ञेयको जानकर उसे अच्छा बुरा मान जो आत्मा रागद्वेष करता है यह तो अज्ञान है। अन्तमें पन्द्रह गाथाओंके द्वारा (गा० ३९०-४०४) ज्ञेयसे ज्ञानको भिन्न बतलाते हुए अन्तमें कहा है कि यतः जीव सदा जानता है अतः वही ज्ञायक है और ज्ञान ज्ञायकसे अभिन्न होता है ॥४०३॥ तथा ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही द्वादशांग सूत्र रूप है और प्रव्रज्या भी ज्ञान ही है ॥ ४०४ ॥ अन्तमे कहा है कि लिंग भी मोक्षका मार्ग नहीं है। दर्शन ज्ञान और चारित्र ही मोक्षका मार्ग है। उसीमें अपनेको लगाना चाहिये ॥ ४११ ॥

—:❀:—

कुन्दकुन्दके द्वारा प्रतिपादित
जैनतत्त्व-ज्ञान

१ सत्ता,-द्रव्य-गुण-पर्याय

सत्ताका अर्थ है अस्तित्व-मौजूदगी। अस्तित्व ही सब विचारोंका मूल है। वस्तुके अस्तित्वका निश्चय हो जानेपर ही उसके सम्बन्धमें आगे विचार किया जाता है अतः वस्तुविचारका प्रारम्भ सत्तासे किया जाता है।

जगतमें जो कुछ है, वह द्रव्य हो या गुण हो या पर्याय हो, सबसे पहले सत् है उसके पश्चात् ही वह अन्य कुछ है। जो सत् नही है वह कुछ भी नही है। अतः प्रत्येक वस्तु सत् है। सत्के भावको ही सत्ता या अस्तित्व कहते हैं। सत्ताके दो रूप हैं—एक सत्ता सामान्य और एक सत्ता विशेष। सत्ता सामान्य को महासत्ता कहते हैं और सत्ताविशेषको अवान्तर सत्ता कहते हैं। महासत्ताको सादृश्यास्तित्व भी कहते हैं और अवान्तर सत्ताको स्वरूपास्तित्व भी कहते हैं। जैसे घट रूपसे सब घट समान है क्योकि सभी घटोंमें घट घट इत्याकारक प्रत्यय और शब्दव्यवहार होता है वैसे ही सत्‌रूपसे सभी पदार्थ समान है। जब किसी विवक्षित वस्तुमें वर्तमान सत् या अस्तित्व धर्मको सामान्यरूपसे कहा या जाना जाता है तो उसे महासत्ता या सादृश्यास्तित्व कहते है और जब उसी

सत् धर्मको विवक्षित वस्तुके ही विशेष धर्मके रूपमें कहा या जाना जाता है तो उसे अवान्तर सत्ता या स्वरूपास्तित्व कहते हैं।

इसका आशय यह नहीं है कि एक वस्तुमें महासत्ता और अवान्तर सत्ता नामकी दो सत्ता होती हैं। प्रत्येक वस्तुकी सत्ता जुदी-जुदी है और प्रत्येक वस्तुमें एक ही सत्ता रहती है। द्रव्यदृष्टिसे वस्तुको देखनेसे वही सत्ता महासत्ता के रूपमें दृष्टिगोचर होती है और पर्याय दृष्टिसे देखनेसे वही सत्ता अवान्तर सत्ताके रूपमें दृष्टिगोचर होती है। जैसे एक राजाको अपना काम करानेके लिए किसी एक आदमीकी आवश्यकता है। जो भी आदमी पहुँचता है उससे वह अपना काम करा लेता है। उसके बाद उसे देवदत्त नामके आदमीकी आवश्यकता होती है। उसके समक्षमें जब पहला काम करनेवाला आदमी पहुँचता है तो उससे काम कराना वह अस्वीकार कर देता है, क्योंकि वह आदमी भी आदमी तो अवश्य है मगर वह देवदत नामका आदमी नहीं है। अतः अवान्तर सत्ता महासत्ताकी प्रतिपक्षी है और महासत्ता अवान्तर सत्ताकी प्रतिपक्षी है। जब वस्तुको महासत्ताकी अपेक्षासे 'सत्' कहा जाता है उस समय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा वस्तु अभावरूप है और जिस समय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा वस्तुको सत् कहा जाता है उस समय महासत्ताकी उपेक्षा वह अभावरूप है। अतः द्रव्यदृष्टिसे महासत्ता सत्ता है और अवान्तर सत्ता असत्ता है और पर्यायदृष्टिसे अवान्तर सत्ता सत्ता है और महासत्ता असत्ता है।

आचार्य कुंदकुंदने सत्ताका यही स्वरूप पञ्चास्तिकायमें इस प्रकार बतलाया है।

सत्ता सव्वपदत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥८॥

अर्थ—सत्ता सब पदार्थोंमें रहती है, समस्त पदार्थोंके समस्त रूपोंमें रहती है, समस्त पदार्थोंकी अनन्तपर्यायोंमें रहती है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है, एक है और सप्रतिपक्षा है।

सत्ताका प्रतिपक्षी तो असत्ता ही हो सकती है। किन्तु असत्ताका अर्थ तुच्छ अभाव नहीं लेना चाहिये। जैन सिद्धान्तमें जो सत् है वही दृष्टिभेदसे असत् कहा जाता है। अतः महासत्ताकी दृष्टिमें अवान्तर सत्ता असत्ता है महासत्ता सर्वपदार्थस्थिता है तो अवान्तर सत्ता एक पदार्थस्थिता है क्योंकि प्रतिनियत पदार्थकी सत्ता प्रतिनियत पदार्थमें ही रहती है। महासत्ता विश्वरूपा है तो अवान्तर सत्ता एकरूपा है। महासत्ता अनन्तपर्याया है तो अवान्तर

सत्ता एक पर्याया है। महासत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक रूप त्रिलक्षणा हैं तो अवान्तर सत्ता अत्रिलक्षणा है। महासत्ता एक है तो अवान्तर सत्ता अनेक है।

इस तरह जगतमें जो कुछ सत् है वह किसी अपेक्षासे असत् भी है। न कोई वस्तु सर्वथा सत् है और न कोई वस्तु सर्वथा असत् है। किन्तु प्रत्येक वस्तु सदसदात्मक है। वस्तुका अस्तित्व केवल इस बात पर निर्भर नहीं है कि वह अपने स्वरूपको अपनाये हुए है किन्तु इस बात पर भी निर्भर है कि अपने सिवाय वह संसारभरकी अन्य वस्तुओंके स्वरूपोंको नहीं अपनाये हुए है। यदि ऐसा न माना जाय तो किसी भी वस्तुका कोई प्रतिनियत स्वरूप नहीं रह सकता और ऐसा होने पर सब वस्तुएँ सबरूप हो जायेंगी।

आचार्य कुंदकुंदने सत्ताको सप्रतिपक्षा बतलाकर वस्तुविज्ञानका यही रहस्य उद्घाटित किया है। उसीका दार्शनिक दृष्टिसे उपपादन आचार्य श्री समन्तभद्रने आप्तमीमांसा कारिका ९ आदिसे किया है और उस पर अष्टसहस्रीके रचयिता विद्यानन्दने उसे स्पष्ट किया है।

पञ्चास्तिकायकी उक्त गाथाको लेकर ही पं० राजमल्ल ने १६ वीं शताब्दीमें पञ्चाध्यायी ग्रंथ रचा है जिसमें सत्ता द्रव्यगुण पर्यायका विवेचन बहुत सुन्दर है।

द्रव्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारमें गाथा संख्या तीनके द्वारा तथा पञ्चास्तिकायमें गाथा संख्या १० के द्वारा द्रव्यका लक्षण इस प्रकार कहा है—

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥ पञ्चा०

जिसका लक्षण सत् है वह द्रव्य है। जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है वह द्रव्य है। तथा जो गुण और पर्यायका आश्रय है वह द्रव्य है।

तत्त्वार्थ सूत्रके पांचवे अध्यायमें उमास्वामी ने कुन्दकुन्दकी उक्त गाथाके अनुरूप ही द्रव्यका लक्षण किया है—सद्द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। गुणपर्ययवद्द्रव्यम्॥

उमास्वामीने उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्तको सत् कहा है और सत्को द्रव्य कहा है। कुन्दकुन्दने द्रव्यको ही सत् और उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक कहा है। इन दोनों कथनोंमें कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि सत्ता और द्रव्य

भिन्न भिन्न नहीं हैं। इसलिये उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत् है ऐसा कहनेसे भी द्रव्य ही तद्रूप सिद्ध होता है।

पञ्चास्ति० गा० ९ में कुन्दकुन्दाचार्यने द्रव्यको सत्तासे अनन्यभूत लिखा है। तथा प्रवचनसार (गा०२।१३-१४) में लिखा है कि यदि द्रव्य सत्स्वरूप नहीं है और सत्तासे जुदा है तो वह नियमसे असत् ठहरता है। इसलिये द्रव्य स्वयं सत् है। जिनके प्रदेश भिन्न होते हैं वस्तुरूपसे उन्हें भिन्न कहते हैं। सत्ता और द्रव्यके प्रदेश भिन्न भिन्न नही है; क्योंकि गुण और गुणीके प्रदेश जुदे जुदे नहीं होते। जैसे जो शुक्ल गुणके प्रदेश है वे ही प्रदेश वस्त्रके हैं इसलिये उन दोनोंमें प्रदेश भेद नही है। वैसे ही सत्ता गुणके जो प्रदेश हैं वे ही प्रदेश गुणी द्रव्यके हैं। इसलिये सत्ता और द्रव्यमें प्रदेश भेद नही है। किंतु फिर भी सत्ता और द्रव्य सर्वथा एक नहीं हैं, उनमे कथञ्चित् भेद भी है। क्योंकि जो द्रव्यका स्वरूप है वही स्वरूप सत्ताका नहीं है और जो सत्ताका स्वरूप है वही द्रव्यका स्वरूप नहीं है। सत्ता चूँकि एक गुण है अतः वह द्रव्यके आश्रित है और स्वयं निर्गुण है। किन्तु द्रव्य किसीका आश्रित नहीं है वह तो सत्ता जैसे अनन्त गुणोंका आश्रय है। इस तरह गुण और गुणीके भेदसे दोनोंमें भेद है किन्तु उनमें प्रदेश भेद नहीं है। जो द्रव्य है वह गुण नहीं है और जो गुण है वह द्रव्य नहीं है। अतः द्रव्यका गुण रूप और गुणका द्रव्य रूप न होना ही उन दोनोंमें भेद व्यवहारका कारण है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं लेना चाहिये कि द्रव्यके अभावको गुण और गुणके अभावको द्रव्य कहते हैं; क्योंकि जैसे सोनेका विनाश होने पर सोनेके गुणोंका विनाश हो जाता है और सोनेके गुणोंका विनाश होने पर सोनेका विनाश हो जाता है वैसे ही द्रव्यके अभावमें गुणका अभाव हो जायेगा और गुणके अभावमें द्रव्यका अभाव हो जायेगा (प्रवचनसार, २।१७)।

द्रव्यके विना गुण नहीं रह सकते और गुणके बिना द्रव्य नहीं रह सकता। अतः नाम, लक्षण आदिके भेदसे द्रव्य और गुणमें भेद होने पर भी दोनोंका अस्तित्व एक ही है अतः वस्तुत्वरूपसे दोनों अभिन्न हैं (पञ्चा० गा० १२)। सारांश यह है कि द्रव्यसे भिन्न न गुणका कोई अस्तित्व है और न पर्यायका अस्तित्व है। जैसे सोनेसे भिन्न न पीलापना है और न कुण्डलादि हैं। अतः द्रव्यसे उसका गुण और पर्याय भिन्न नहीं हैं। चूँकि सत्ता द्रव्यका स्वरूप-भूत अस्तित्व नामक गुण है अतः वह द्रव्यसे भिन्न कैसे हो सकती है। इसलिये द्रव्य स्वयं सत्स्वरूप है।

आशय यह है कि सब द्रव्य स्वतःसिद्ध है क्योंकि वे अनादि और अनन्त है। जो अनादि और अनन्त होता है वह किसी साधनके द्वारा निष्पन्न नही किया जाता। अतः गुण पर्यायरूप अपने स्वभावको ही मूल साधनके रूपमें लेकर द्रव्य स्वयं ही अनादि सिद्ध है। वह किसी अन्य द्रव्यसे उत्पन्न नहीं हुआ। जो द्रव्यसे उत्पन्न होता है वह द्रव्य नहीं होता, पर्याय होती है। जैसे मनुष्य पर्याय अथवा द्व्यणुक आदि पर्याय। किन्तु द्रव्य तो अनादि अनन्त होता है (प्रव० सा० २६)। वह सदा अपने स्वभावमें स्थिर रहता है अतः वह सदा सत् है।

उत्पाद व्यय ध्रौव्य—किन्तु द्रव्यका स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है। अर्थात् उसमें प्रति समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रैलक्ष्ण्य वर्तमान रहता है। ये तीनों परस्पर में अविनाभावी हैं। व्यय अथवा विनाशके बिना उत्पाद नहीं होता, उत्पादके बिना व्यय नहीं होता, ध्रौव्यके बिना उत्पाद व्यय नहीं होते और न उत्पाद व्ययके बिना ध्रौव्य रहता है। इसलिये जो उत्तर पर्यायका उत्पाद है वही पूर्व पर्यायका व्यय है, जो पूर्व पर्यायका व्यय है वही उत्तर पर्यायका उत्पाद है। इसी तरह जो उत्पाद-व्यय है वही ध्रौव्य है और जो ध्रौव्य है वही उत्पाद व्यय है। इस सत्यको एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

कुम्भपर्यायकी उत्पत्ति ही मिट्टीकी पिण्ड पर्यायका विनाश है क्योंकि कुम्भकी उत्पत्ति पिण्डरूपका विनाश हुए बिना नहीं हो सकती। मिट्टीकी पिण्ड पर्यायका विनाश ही कुम्भ पर्यायकी उत्पत्ति है। कुम्भ पर्यायकी उत्पत्ति और पिण्डपर्यायका विनाश ही मिट्टीकी स्थिति है। तथा मिट्टीकी स्थिति ही कुम्भ पर्यायकी उत्पत्ति और पिण्ड पर्यायका विनाश है।

यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य भिन्न भिन्न हो जायेंगे। और ऐसा होने पर बडी गडबड उपस्थित होगी जिसका खुलासा इस प्रकार है—मिट्टीकी पिण्ड पर्यायका नाश हुए बिना घड़ा उत्पन्न नहीं होता। यदि केवल उत्पाद ही माना जाये और व्यय को न माना जाये तो घड़ा उत्पन्न नहीं हो सकता। और जैसे बिना व्ययके घड़ा उत्पन्न नहीं हो सका वैसे ही सभी पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकेंगे। यदि मिट्टीके बिना भी घडा उत्पन्न होता है तो यह तो असत्का उत्पाद हुआ। यदि असत् भी उत्पन्न हो सकता है तो गधेकी सींग, आकाशके फूल जैसी असंभव वस्तु भी उत्पन्न होने लगेगी।

तथा यदि केवल व्यय ही माना जायेगा तो वस्तुका व्यय ही नहीं हो

सकेगा क्योंकि उत्पादके बिना व्यय नहीं होता—घड़ेके उत्पन्न होनेसे ही मिट्टीकी पिण्ड पर्यायका विनाश होता है। फिर भी यदि बिना उत्पादके व्ययको माना जायगा तो सत्का नाश हो जायगा। और ऐसी स्थितिमें सभी सत् पदार्थ नष्ट हो जायेंगे। तथा उत्पाद व्ययके बिना केवल ध्रौव्यको माननेसे मिट्टी आदि सभी पदार्थ ठहर नहीं सकेंगे क्योंकि बिना पर्यायके द्रव्य नहीं रह सकता। तथा क्षणिक पर्याय नित्य हो जायेंगी। इसलिये प्रति समय पूर्व पर्यायका विनाश, उत्तर पर्यायका उत्पाद और वस्तुत्वका ध्रौव्य इन तीनों की एकतासे ही द्रव्यकी सत्ता कायम रह सकती है (प्रव० २।८)।

यदि द्रव्यका द्रव्यरूपसे ही उत्पाद, द्रव्यरूपसे ही व्यय और द्रव्यरूपसे ही ध्रौव्य माना जाये तो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य एक साथ नहीं बन सकते। किन्तु ऐसा नहीं माना जाता। पर्याय रूपसे ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य माना गया है। जैसे, जिस क्षणमें घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है उसी क्षणमें मिट्टी-पना स्थिर रहता है। उसका न विनाश होता है और न उत्पाद होता है। इसी प्रकार सब द्रव्योंमें आगामी पर्यायके उत्पन्न होनेका जो समय है वही समय पूर्व पर्यायके विनाशका है और इन दोनों अवस्थाओंमें द्रव्यत्व ध्रुव रहता है।

इस तरह द्रव्यकी अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और अन्य पर्याय नष्ट होती है किन्तु वह द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है (प्रव० २।११)। यद्यपि उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायोंमे होते हैं किन्तु वे पर्याय द्रव्यकी ही हैं इसलिये द्रव्य ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप कहा जाता है (प्र० सा० २।६)। जैसे द्रव्य और गुणमें अभेद है वैसे ही द्रव्य और उसकी पर्यायमें भी अभेद है। जैसे द्रव्यके बिना गुण नहीं होता और गुणके बिना द्रव्य नहीं होता, अतः द्रव्य और गुणका अस्तित्व भिन्न भिन्न नहीं है। वैसे ही पर्याय रहित द्रव्य नहीं होता और न द्रव्य रहित पर्याय होती है। अतः दोनोंको अभिन्न कहा है। (पञ्चा० १२-१३ गा०)। किन्तु गुण सहभावी होते हैं, द्रव्यकी प्रत्येक अवस्थामें उसके साथ रहते हैं और पर्याय क्रम भावी होती हैं, द्रव्यकी अवस्थामें उसके साथ नहीं रहती। उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है तो पूर्व पर्याय नष्ट हो जाती है। इसलिये गुणोंको नित्य और पर्यायको अनित्य कहते हैं। और द्रव्य गुण-पर्यायात्मक होता है इसलिए द्रव्य नित्यानित्य कहा जाता है। द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्य नित्य है और पर्यायार्थिकसे द्रव्य अनित्य है।

आशय यह है कि वस्तु न केवल द्रव्य रूप है और न केवल पर्याय रूप है।

किन्तु द्रव्य पर्यायात्मक है। अतः वस्तुको देखनेके लिए भी दो दृष्टियाँ आवश्यक हैं। उनमेंसे एक दृष्टिका नाम द्रव्यार्थिक है और दूसरी दृष्टिका नाम पर्यायार्थिक है। जो पर्यायार्थिकदृष्टिको बन्द करके केवल द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वस्तुको देखता है उसे वस्तुके केवल एक अभेदरूप नित्य द्रव्यत्वका ही भान होता है। और जो द्रव्यार्थिक दृष्टिको बन्द करके पर्यायार्थिक दृष्टिसे वस्तुको देखता है उसे केवल प्रतिक्षण विनाशशील पर्यायका ही प्रतिभास होता है। किन्तु जो दोनों दृष्टियोंको खुली रखकर वस्तुको देखता है उसे वस्तुके उभयरूपोंका प्रतिभास होता है।

इस तरह द्रव्य सत् है, गुणपर्यायवाला है और उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक है। द्रव्यके इन तीनों लक्षणोंमेंसे एकके कहनेपर शेष दो उसीमें समाविष्ट हो जाते हैं। अर्थात् यदि कहा जाये कि द्रव्य सत् होता है, तो सत् कहनेसे गुणपर्यायवाला और 'उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक' दोनों ही लक्षण उसमें आ जाते है, क्योंकि सत् नित्यानित्यात्मक होता है अतः नित्य भावमें ध्रौव्यका तथा अनित्य स्वभावमें उत्पादव्ययका समावेश होता है। तथा गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य होती हैं। अतः नित्य अथवा ध्रौव्यमें गुणोंका और अनित्य अथवा उत्पाद व्ययमें पर्यायका समावेश होता है।

इसी तरह द्रव्य गुणवाला है ऐसा कहनेसे द्रव्य ध्रौव्य युक्त है यह स्वयं व्यक्त हो जाता है क्योंकि गुण ध्रुव-स्थायी होते हैं। तथा द्रव्य पर्यायवाला है ऐसा कहनेसे द्रव्य उत्पाद व्ययशील हैं यह स्वयं व्यक्त हो जाता है क्योंकि पर्याय उत्पाद विनाशशील होती है। अतः तीनों लक्षण प्रकारान्तरसे द्रव्यके एक ही स्वरूपको बतलाते हैं। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने तीन लक्षणोंके द्वारा द्रव्यके स्वरूपका विश्लेषण किया है, जो बतलाता है कि जैनदर्शनमें एक ही मूल पदार्थ है और वह है द्रव्य। वह अनन्त गुणोंका एक अखण्ड पिण्ड होनेसे गुणात्मक है। गुणोंसे भिन्न द्रव्यका और द्रव्यसे भिन्न गुणोंका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। वे गुण परिणमनशील है। गुणोंका समूहरूप द्रव्य स्वयं एक गुणसे अन्य गुणरूप परिणमन करता है अतः द्रव्य केवल गुणात्मक ही नहीं है पर्याय रूप भी है।

पर्यायके भेद—अमृतचन्द्र सूरिने (प्रव० सा० गा० २।१ की टीका में) पर्यायके दो भेद किये हैं—गुणपर्याय और द्रव्य पर्याय। अनेक द्रव्योंके मेलसे जो एक पर्याय निष्पन्न होती है वह द्रव्य पर्याय है। द्रव्य पर्यायके भी दो भेद हैं समान जातीय और असमान जातीय। परमाणुओंके मेलसे जो द्व्यणुक आदि पर्याय निष्पन्न होती है वह समान जातीय द्रव्य पर्याय है और जीव

तथा पुद्गलके मेलसे जो मनुष्यादि पर्याय निष्पन्न होती है वह असमान जातीय द्रव्य पर्याय है। गुण पर्यायके भी दो भेद हैं—स्वभाव गुण पर्याय और विभाव गुण पर्याय। प्रत्येक द्रव्यमें रहनेवाले अगुरुलघुगुणोंके निमित्तसे जो उस द्रव्यमें षड्गुणी हानि वृद्धि रूप परिणमन हुआ करता है वह स्वभाव गुण पर्याय है। और अन्य द्रव्यके संयोगसे जो गुणोंमें परिणमन होता है वह विभाव गुण पर्याय है। इस तरह पर्यायोंके भेदके कारण ही इस जगतमें वैचित्र्यके दर्शन होते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसार (गा० १५) में पर्यायके दो भेद किये हैं—विभावपर्याय और स्वभाव पर्याय। अन्य निरपेक्ष परिणमनको स्वभाव पर्याय कहते हैं और अन्य सापेक्ष परिणमनको विभाव पर्याय कहते हैं। जीव और पुद्गलके सिवाय अन्य चार द्रव्योंमें विभाव पर्याय नहीं है। तथा जीव और पुद्गलमें स्वभाव और विभाव दोनों हैं। उनमेंसे सिद्ध जीवोंमें तो स्वभाव पर्याय ही है और संसारी जीवोंमें विभावकी मुख्यता है। पुद्गल परमाणुमें स्वभाव पर्याय है तथा स्कन्धमें विभाव पर्याय ही है। क्योंकि परमाणुके गुण स्वाभाविक हैं और स्कन्धके गुण वैभाविक हैं। परमाणुका परिणाम अन्य निरपेक्ष होता है और स्कन्धरूप परिणमन अन्य सापेक्ष होता है।

द्रव्यके भेद

द्रव्यके मूल भेद दो है—जीव और अजीव। चैतन्य उपयोगमय द्रव्यको जीव द्रव्य कहते है। और अचेतन—जड़ द्रव्योंको अजीव कहते हैं। (प्र० सा० गा० २।३५)। गुणोंके भेदसे ही द्रव्योंमें भेद होता है। गुण ही द्रव्यके लिङ्ग अथवा चिन्ह हैं। गुणोंसे ही द्रव्यका स्वरूप जाना जाता है। वे गुण दो प्रकारके हैं—मूर्तिक और अमूर्तिक। मूर्तिक द्रव्यके गुण मूर्तिक होते हैं और अमूर्तिक द्रव्योंके गुण अमूर्तिक होते हैं। मूर्तिक द्रव्य केवल एक है उसे पुद्गल कहते हैं और जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं (गा० ३९)।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पुद्गल द्रव्यके विशेष गुण हैं जो सूक्ष्म परमाणुसे लेकर स्थूलसे स्थूल पृथिवी तकमें रहते हैं। ये इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं। शब्द गुण नहीं है किन्तु पुद्गल द्रव्यकी ही पर्याय है। अतः वह भी मूर्तिक है और इन्द्रियके द्वारा जाना जाता है (गा० ४०)

अमूर्तिक द्रव्योंमें आकाश द्रव्यका विशेष गुण सब द्रव्योंको अवगाहदान है। धर्म द्रव्यका विशेषगुण गतिमान जीवों और पुद्गलोंको गमनमें कारण होना

है। अधर्म द्रव्यका विशेषगुण स्थितिमें सहकारिपना है। काल द्रव्यका विशेष गुण वर्तना है और आत्माका विशेषगुण उपयोग है। ये संक्षेपसे अमूर्त द्रव्योंके गुण हैं (गा० ४१-४२)

जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशके प्रदेश संख्यातीत हैं। किन्तु काल द्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है (गा० ४३)। आकाश तो लोक और अलोकमें व्याप्त है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य केवल लोकमें व्याप्त हैं; क्योंकि जीव और पुद्गल द्रव्य लोकमें ही रहते हैं। इसीसे काल द्रव्य भी लोकमें ही है। सारांश यह है कि अन्य कोई द्रव्य लोकसे बाहर नहीं है (गा० ४४)। परमाणु अप्रदेशी है उसके द्वितीयादि प्रदेश नहीं हैं किन्तु प्रदेशकी उत्पत्ति परमाणुके ही निमित्तसे होती है क्योंकि एक परमाणु जितने आकाशको रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं (गा० ४५)। कालाणु भी अप्रदेशी है उसके भी द्वितीयादि प्रदेश नहीं है। लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालाणु स्थित है। कालाणु द्रव्यकी पर्यायका नाम समय है। मन्दगतिसे गमन करता हुआ पुद्गल परमाणु कालाणुसे व्याप्त एक आकाश प्रदेशको जितनी देरमें लांघता है उसे समय कहते हैं। वह समय कालाणुकी पर्याय है। कालाणु पुद्गल परमाणुके गमनमें सहकारी होता है। यदि काल द्रव्यको अणुरूप न माना जाये तो समयरूप पर्याय नहीं बन सकती (गा० ४६-४७)।

इस तरह द्रव्यके भेदोंका यह संक्षिप्त परिचय प्रवचनसारसे दिया गया है। इन छै द्रव्योंमेंसे आकाश, धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य और काल ये चार द्रव्य तो अवगाह, गति, स्थिति और परिवर्तन के सहायक मात्र होनेसे लोक व्यवस्थाके नियामक मात्र हैं। उनकी स्थिति मकान, मार्ग और दिन रात की तरह है। जो न किसीका स्वागत करते हैं और न अवरोध। फिर भी मानव जीवनकी व्यवस्थामें उनसे सहायता मिलती है।

इस संसाररूपी रङ्गमञ्चके सूत्रधार तो जीव और पुद्गल द्रव्य हैं। इन्हींके क्रियाकलापोंने ससाररूपी रंगमंच पर ऐसे अभिनयका विस्तार कर रखा है, जिसका न आदि है और न अन्त है। जो दर्शक उस अभिनयको देखते देखते थककर परेशान हो जाते हैं वे उसकी वास्तविक्ताकी खोजमें जुट जाते हैं और उसके रहस्यका भेदन करके अपनेको उससे मुक्त करनेके उपायोंमें संलग्न हो जाते है। आचार्य कुन्दकुन्द उन्हीं मुमुक्षुओंमेंसे थे। अत. उनके ग्रन्थोंमें जीव और पुद्गल द्रव्यके सम्बन्धमें 'जो कुछ कहा गया है, वही मुख्य रूपसे पठन और मनन करनेके योग्य है। अतः उसीका यहाँ विवेचन करनेका प्रयत्न किया जाता है।

जीवका स्वरूप—आचार्य कुन्दकुन्दने अपने प्रवचनसार (२।५५) तथा पञ्चास्तिकाय (गा०३०) में 'जीव' शब्दकी व्युत्पत्तिके द्वारा उसका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है – 'जो बल, इन्द्रिय, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणोंसे वर्तमान कालमें जीता है, भूतकालमे जिया था और भविष्य कालमें जिएगा वह जीव है।' 'पञ्चा० गा० २७ में उन्होंने उस जीवको चेतयिता, उपयोग विशिष्ट, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, शरीर प्रमाण, अमूर्तिक किन्तु कर्मसे संयुक्त बतलाया है।

आगे एक गाथा (१०६) में लिखा है कि जीव दो प्रकारके हैं—संसारी और मुक्त। दोनों ही प्रकारके जीव चेतनात्मक और उपयोग लक्षणवाले होते है। किन्तु संसारी शरीर सहित होते है और मुक्त शरीर रहित होते है। पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय, शंख आदि द्वीन्द्रिय, यूका आदि त्रीन्द्रिय, डांस आदि चतुरिन्द्रिय, और मनुष्य आदि पञ्चेन्द्रिय, ये ससारी जीवके भेद हैं। ये भेद इन्द्रियकी अपेक्षासे है। चार प्रकारके देव, कर्मभूमिज और भोगभूमिज मनुष्य, बहुत तरहके तिर्यञ्च तथा नारकी, ये गतिकी अपेक्षा संसारी जीवोंके भेद है। (पञ्चा० गा० ११०–११८)

उक्त भेदोंमे जो एकेन्द्रियादिको तथा पृथ्वीकायिक आदिको जीव कहा है सो न तो इन्द्रियाँ ही जीव हैं और न काय ही जीव है। किन्तु उनमें जो ज्ञान है उसे ही जीव कहते हैं। जो सबको जानता देखता है, सुखकी इच्छा करता है दुःखसे डरता है, अच्छे और बुरे कामोको करता है और उनका फल भोगता है वह जीव है (पञ्चा० गा० १२१-१२२)।

उस जीवमें न तो रस है, न रूप है, न गंध है और न स्पर्श गुण है। तथा वह शब्द रूप भी नही है। अतएव वह अव्यक्त है। उसका गुण चेतना है। उसे इन्द्रियों के द्वारा नही जाना जा सकता और उसका कोई निश्चित आकार भी नहीं है। (पञ्चा० गा० १२७)।

किन्तु संसार दशामें वर्तमान कोई जीव अपने स्वभावमें स्थित नहीं है। संसरमाण अर्थात् चारों गतियोंमें भटकते हुए जीवकी क्रियाका नाम ही तो संसार है (प्रव० २।२८)। ससारमें वर्तमान जीव रागद्वेष रूप परिणामोंको करता है। परिणामोंसे कर्मोंका बन्धन होता है। उस कर्मके उदयवश उसे नरकादि गतियोंमें जन्म लेना होता है। जन्म लेनेसे उसे शरीर मिलता है। शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं। उन इन्द्रियोंके द्वारा वह विषयोंको ग्रहण करता है।

उससे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। इस तरह वह जीव संसारमें भटकता रहता है (पञ्चा० गा० १२८-१३०)।

जीवके संसारमें भटकनेकी इस प्रक्रिया और उसकी समाप्तिके कारणों की खोजके फलस्वरूप जैन दर्शनमें सात तत्त्व माने गये हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। उसमें पुण्य पापको सम्मिलित करनेसे उनकी संख्या नौ होजाती है। इन्हीं नौका यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धान होने पर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है।

२ अर्थ, पदार्थ और तत्त्वार्थ—

आचार्य कुन्दकुन्दने (प्रव० सा० १-८७) में द्रव्य गुण और पर्यायोंको अर्थ कहा है। तथा गुण और पर्यायोंकी आत्माको द्रव्य कहा है। और प्रवचनसार गा० २-१ में अर्थको द्रव्यमय और द्रव्यको गुणपर्यायमय बतलाकर द्रव्य गुण और पर्यायको अर्थ क्यों कहा है, इसका समर्थन किया है। किन्तु, पञ्चास्तिकाय (गा० १०८) में जीव, अजीव, पुण्य पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष को अर्थ कहा है। नियमसार (गा० ९) में नाना गुणपर्यायोंसे संयुक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और अकाशको तत्त्वार्थ कहा है। तथा दर्शन प्राभृतमें (गा० १९) छै द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और साततत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। इसका यह मतलब हुआ कि यद्यपि अर्थ, पदार्थ और तत्त्वार्थ एकार्थक हैं तथापि उनमें दृष्टि भेद भी है। जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये छै द्रव्य कहे जाते है, इनमेंसे कालको पृथक् कर देनेसे शेष पांच को अस्तिकाय कहते है। इसी तरह जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये नौ पदार्थ कहे जाते हैं। इनमें से पुण्य और पाप को पृथक् कर देनेसे शेष सात तत्त्व कहे जाते है। इन्हींके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का मूलकारण है। अतः कुन्दकुन्दने अपने समयसार पञ्चास्तिकाय नियमसार और प्रवचनसारमें तत्त्वों, पदार्थो और द्रव्योंका ही विशेष रूपसे कथन किया है।

३ निश्चयनय और व्यवहारनय—

आचार्य कुन्दकुन्दने समय प्राभृतमें तत्त्वोंका निरूपण दो दृष्टियोंसे किया है। वे दो दृष्टियाँ हैं—व्यवहारनय और निश्चयनय। पञ्चास्तिकायमें मोक्षमार्ग-का कथन भी इन दोनों दृष्टियोंसे किया गया है और नियम सारमें नियमका कथन भी निश्चयनय और व्यवहारनयसे किया गया है। वस्तुतत्त्वके निरूपण में इन दोनों दृष्टियों को यों तो उत्तरकालीन सभी ग्रंथकारोंने मान्य किया है किन्तु व्यक्त रूपमे उनका निदर्शन अध्यात्म प्रधान ग्रन्थोंमें ही मिलता है।

तत्त्वार्थ सूत्रमें लोकाकाशेऽवगाहः (५।१२) सूत्र के द्वारा सब द्रव्योंका अवगाह लोकाकाशमें बतलाया है। किन्तु सर्वार्थसिद्धि टीकामें पूज्यपादने और तत्त्वार्थ वार्तिकमें अकलंक देवने उक्त सूत्रका व्याख्यान करते हुए कहा है कि यह कथन व्यवहारनयसे किया है। एवंभूतनयसे तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित हैं कोई किसीके आधार नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इन दोनों महान ग्रन्थकारोंने एवंभूतनयका निश्चयनयके रूपमें उल्लेख किया है। और आचार्य विद्यानन्दिने अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ० १५३ में 'निश्चयनय एवभूतो' लिखकर दोनोंको एक बतलाया है। किन्तु अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थ-वार्तिकमें 'शुद्धनय' का भी उल्लेख किया है।

असंख्येयाः प्रदेशा. धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥५-८॥ इस सूत्रकी व्याख्यामें अकलंकदेवने लिखा है कि व्यवहारनयसे अनादि कालसे कर्मोंके बन्धनसे बँधा होनेके कारण संसारी जीव सावयव है अतः वह असंख्यात प्रदेशी है। किन्तु शुद्धनयकी अपेक्षा उपयोगस्वभाव आत्मा अप्रदेशी है। इसी तरह अष्टसहस्री पृ० १३५ मे आचार्य विद्यानन्द स्वामीने लिखा है कि आत्मा निश्चयनयसे स्व-प्रदेश नियत है और व्यवहारनयसे स्वशरीर व्यापी है। सारांश यह है कि वस्तु तत्त्वके निरूपणके दोनों प्रकारोंको सभी जैन दार्शनिकोंने भी अपनाया है। अतः कुन्दकुन्दाचार्यने जो वस्तु तत्त्वका निरूपण दो प्रकारसे किया है वे दोनों प्रकार सर्वसम्मत हैं। उनमें कोई मतभेद नहीं हैं।

किन्तु श्वेताम्बर साहित्यमें इस रूपसे निश्चयका कथन नहीं मिलता। जिन-भद्रगणि क्षमाश्रमणने अपने विशेषावश्यक भाष्य ३५८९ गा० में लिखा है—'लोक व्यवहारमें तत्पर व्यवहारनय भ्रमरको काला कहता है और परमार्थमें तत्पर निश्चयनय कहता है कि भ्रमर पञ्चवर्णवाला है'। इस तरहसे व्यवहारनय और निश्चयनय उन्हें मान्य है। किन्तु निश्चयनयसे जीव सिद्धसमान शुद्ध है इस कथनका यशोविजय उपाध्यायने अपने नयरहस्यमें खण्डन किया है। और इस निश्चयनयको दिगम्बरोंका बतलाया है, तथा उसे उन्मार्गका कारण बतलाया है। यथा—

> "सिद्धो निश्चयतो जीव इत्युक्तं यद्दिगम्बरैः।
> निराकृतं तदेतेन यन्नयेऽन्त्येऽन्यथा प्रथा ॥४८॥
> तेनादौ निश्चयोद्ग्राहो नग्नानामपहस्तितः।
> रसायनीकृतविषप्रायोऽसौ न जगद्धितः ॥८०॥
> उन्मार्गकारणं पापं (पा) परस्थाने हि देशना।
> बालादेर्नान्ययोग्यं च वचो भेषजवद् हितम् ॥८१॥

ये सीदन्ति क्रियाभ्यासे ज्ञानमात्राभिमानिनः।
निश्चयान्निश्चयं नैते जानन्तीति श्रुते स्मृतम् ॥८२॥

यशोविजयजी उस समय हुये थे जब आगरेमें पं० बनारसीदास समयसारके रसिया हो चुके थे और उनके द्वारा प्रवर्तित समयसार तत्त्व जिज्ञासुओंको आकृष्ट कर रहा था। शायद इसीसे उन्होंने निश्चयनयको उन्मार्गका कारण कहा है।

सिद्धसेनकृत सन्मति तर्कमें नयोंका बहुत सुन्दर और विस्तृत वर्णन है। किन्तु वहाँ निश्चयनयका नाम तक नहीं है। बस, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकका ही कथन है। लिखा है, न केवल द्रव्यार्थिकनयको स्वीकार करनेसे संसार बनता है। और न केवल पर्यायार्थिक नयको स्वीकार करनेसे संसार बनता है क्योंकि द्रव्यार्थिकनय नित्यवादी हैं और पर्यायार्थिकनय अनित्यतावादी है। नित्यपक्षमें भी सुख दुःखका संप्रयोग नहीं बनता और अनित्य पक्षमें भी। योगके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है और कषायके निमित्तसे स्थितिबन्ध होता है। आत्माको कूटस्थ नित्य माननेसे तथा क्षणिक माननेसे कर्मबन्ध होना संभव नहीं हैं। (गा० १७-१९)। इस तरह उन्होंने द्रव्यैकान्तवाद और पर्यायैकान्तवादका निराकरण किया है[1]। अतः श्वेताम्बर परम्परामें कुन्दकुन्द प्रतिपादित निश्चय और व्यवहारनयकी परम्पराके दर्शन नहीं होते। हाँ, उपाध्याय यशोविजयजीके समयमें एक भोजसागर हुए है जो श्वेताम्बर परम्पराके तपोगच्छ के थे। उन्होंने द्रव्यानुयोगतर्कणा नामका ग्रन्थ रचा है। उसमें आलापपद्धतिमें जो नयोंका विवेचन है उसका संकलन किया है। और लिखा है कि यद्यपि दिगम्बर देवसेनके कथनमे और हम श्वेताम्बरोंके कथनमें कोई भेद नहीं है तथापि देवसेनने मन्द बुद्धियोंको ठगनेका प्रयत्न किया है क्योंकि नय तो सात ही कहे गये है। अस्तु, इससे प्रतीत होता है कि निश्चय और व्यवहारकी दिगम्बर परम्परा सम्मत कथनी श्वेताम्बर सम्प्रदायमें रुचिकर नहीं रही है।

४ निश्चय और व्यवहारके भेद प्रभेद—

कुन्दकुन्द स्वामीने यद्यपि प्रवचनसारमें एक स्थान पर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंका निर्देश किया है किन्तु अन्यत्र व्यवहार और निश्चय नयका ही उल्लेख किया है तथा निश्चयको शुद्ध नय भी कहा है फलतः व्यवहार नय अशुद्ध नय है। इनके भेद-प्रभेदोंका कोई उल्लेख उनके साहित्यमेनहीं मिलता। आचार्य अमृतचन्द्रकी टीकाओंमें भी उन भेदप्रभेदोंका कोई निर्देश नहीं है। प्रवचनसारकी टीकाके अन्तमें उन्होंने बहुतसे नयोंका कथन किया है किन्तु उनमें निश्चयनय और व्यवहारनयके भेद प्रभेदरूप नय नहीं है। हाँ,जयसेनाचार्यने समयसारकी 'ववहारो भूयत्थो' आदि गाथाकी टीकामें व्यवहार नयके भूतार्थ और अभूतार्थ तथा निश्चय-

नयके शुद्ध और अशुद्ध भेद किये हैं। तथा समय-प्राभृत गा० ७ में जो 'व्यवहार-नयसे ज्ञानीके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र कहे जाते हैं' ऐसा कथन है वहाँ उसे सद्भूत व्यवहारनयका कथन बतलाया है। तथा अन्यत्र कहा है कि अशुद्ध निश्चय नयसे आत्मा रागादिभावोंका कर्ता है और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे द्रव्य कर्मोका कर्ता है। समयसारकी टीकामें एक जगह उन्होंने लिखा है 'सिद्धान्तादि शास्त्रोंमें अशुद्ध पर्यायार्थिक नयसे अभ्यन्तर रागादिको और बहिरंग शरीर के वर्णादिको जीव कहा है। किन्तु इस अध्यात्म शास्त्रमें शुद्ध निश्चयनयसे उनका निषेध किया है।'

समय प्राभृत गा० ५७ में कहा है कि वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यन्त पर्यायोंके साथ जीवका सम्बन्ध दूध पानी की तरह है किन्तु वे भाव जीवके नहीं है क्योंकि जीवमें उपयोग गुण अधिक है।' इसकी टीकामें जयसेनाचार्यने यह शंका उठाई है कि वर्ण आदि तो बहिरंग हैं उनके साथ जीवका व्यवहाररूपसे दूध पानीकी तरह सम्बन्ध भले ही हो, किन्तु रागादि तो अभ्यन्तर हैं अतः उनका कथन तो अशुद्ध निश्चय नयसे होना चाहिये, व्यवहार नयसे नहीं। इसका समाधान करते हुए जयसेनाचार्यने कहा है कि द्रव्यकर्म बन्धकी अपेक्षासे जो असद्भूत व्यवहार है, उससे तारतम्य बतलानेके लिए रागादिको अशुद्ध निश्चय नयसे जीवका कहा है। वास्तवमें तो शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार ही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरकालमें निश्चयनयके शुद्ध अशुद्ध आदि और व्यवहारके सद्भूत असद्भूत आदि भेदोंकी सृष्टि क्यों हुई?

यह सब भेद व्यवहार अमृत चन्द्रकी टीकामें नहीं है। लघुनय चक्र और आलाप पद्धतिमें ही इन भेद-प्रभेदोंका कथन है। और आलाप पद्धतिके पश्चात् रचे गये द्रव्य सग्रहमें भी इन भेदों द्वारा सात तत्वोंका कथन किया गया है। जयसेन तो इसके भी पश्चात् हुए है।

असलमें तो वस्तु विचारके क्षेत्रमें मूलनय दो ही है—एक द्रव्यार्थिक और एक पर्यायार्थिक। इन्हींके सात भेद तत्त्वार्थ सूत्रमें बतलाये हैं। सिद्धसेनके सन्मति तर्कमें भी मूल नयके रूपमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकको ही बतलाया है। अकलंकदेवने भी अपने ग्रन्थोंमें इन्हीं नयोंका प्रतिपादन किया है। समन्त भद्राचार्यने आप्तमीमांसा (कारिका १०७) में नयके साथ उपनयका भी निर्देश किया है और उसकी व्याख्या करते हुए अकलंकदेवने संग्रह आदि-को नय और उनके भेद प्रभेदोंको उपनय कहा है। किन्तु आप्तमीमांसा कारिका

१०४ की अष्टशतीमें अकलंकदेवने एक महत्वपूर्ण बात कही है। उन्होंने कहा है कि मूल नयों की शुद्धि और अशुद्धिकी अपेक्षासे नयोंके बहुतसे भेद होते है। उसकी व्याख्या करते हुए स्वामी विद्यानन्दने अष्ट सहस्रीमें कहा है कि मूलनय द्रव्यार्थिक हैं और उसकी शुद्धिकी अपेक्षा संग्रहनय है क्योंकि वह समस्त उपाधियोंसे रहित शुद्ध सन्मात्र तत्वको विषय करता है। अतः सम्यक् एकत्व रूपसे सबका संग्रह करनेके कारण उसे संग्रह कहते हैं और अशुद्धिकी अपेक्षा व्यवहार नय है क्योंकि वह संग्रह नयके द्वारा गृहीत पदार्थोंका विधिपूर्वक भेद करता है तथा द्रव्यत्व आदि विशेषण रूपसे स्वतः अशुद्ध वस्तुको स्वीकार करता है।

उक्त कथनसे यह स्पष्ट है कि संग्रह नय शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है और व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। फिर भी अशुद्ध नयके रूपमें व्यवहार नयको तो अध्यात्म शास्त्रमें अपना लिया गया किन्तु शुद्धनयके रूपमें संग्रह नयको नहीं अपनाया गया। इसका कारण यह है कि अध्यात्म शास्त्रके शुद्धनय की दृष्टिमें और संग्रह नयकी दृष्टिमें अन्तर है। शुद्धनय परभावसे भिन्न निर्विकल्प वस्तु स्वभावका ग्राही है और संग्रहनय विभिन्न वस्तुओंमें वर्तमान एकत्वकी दृष्टिसे सबका संग्रह करता है। जैसे सन्मात्रके द्वारा सब सत्पदार्थोका ग्रहण करना, द्रव्यत्वरूपसे सब द्रव्योंको एक रूपसे ग्रहण करना। किन्तु शुद्ध नय किसी को किसीसे नहीं मिलाता। अत. संग्रहनयकी शुद्धता निश्चय नयकी शुद्धतासे भिन्न प्रकारकी है। इसी तरह नाम साम्य होनेपर भी अध्यात्मके व्यवहार नय और इतर व्यवहार नयमे भी अन्तर है।

यह नही भूलना चाहिये कि जैसे निश्चयनय द्रव्यार्थिकनयका स्थानापन्न है वैसे ही अध्यात्म क्षेत्रमें व्यवहारनय पर्यायार्थिकनयका स्थानापन्न है। किन्तु अध्यात्म क्षेत्रसे बाहर अर्थात् दार्शनिक क्षेत्रमें जो व्यवहारनय है वह द्रव्यार्थिक नयका ही भेद है। और वहाँ पर्यायार्थिक नयके भेद उससे भिन्न हैं। अध्यात्ममें तो अबद्ध, अस्पृष्ट, अविशिष्ट, असंयुक्त वस्तु स्वरूपके सिवाय जो कुछ भी कथन है वह सब व्यवहारनयमें गर्भित है। सारांश यह है कि वस्तुका जितना भी विश्लेषण है वह चाहे द्रव्य परक हो अथवा पर्यायपरक, वह सब व्यवहार नयके अन्तर्भूत है। इसीसे आलाप पद्धतिमे कहा हैं—

णिच्छयववहारणया मूलिम भेया णयाण सव्वाण।
णिच्छयसाहणहेउं पज्जय दव्वत्थियं मुणह ॥

'सब नयोंके मूल भेद निश्चयनय और व्यवहारनय है। और निश्चयके साधनमें हेतु पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक है।

किन्तु इन्हीं आलाप पद्धतिकारने अपने नयचक्रमें कहा है--

दो चेव मूलिमणया भणिया दव्वत्थ पज्जयत्थगया।
अण्णं असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा ॥११॥

अर्थात् मूलनय दो ही कहे है एक द्रव्यार्थिक और एक पर्यायार्थिक। शेष संख्यात असंख्यात उन्हींके भेद जानने चाहिये।

प्रातः स्मरणीय गुरुवर्य स्व० पं० गोपालदासजी वरैयाने अपने जैन सिद्धांत दर्पण (पृ० २५) में नयोंका विवेचन करते हुए नयके मूलभेद दो बतलाये है निश्चयनय और व्यवहारनय। तथा व्यवहारनयको ही उपनयका कहा है। और निश्चयका लक्षण भूतार्थ और व्यवहारका लक्षण अभूतार्थ कहा है। तथा उनको स्पष्ट करते हुए लिखा है--जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना यह निश्चयनयका विषय है और एक पदार्थको परके निमित्तसे व्यवहार साधनार्थ अन्य रूप कहना व्यवहारनयका विषय है।

आगे गुरुजीने निश्चयनयके दो भेद किये हैं--द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भी दो भेद किये है--अध्यात्म द्रव्यार्थिक और अध्यात्म पर्यायार्थिक, शास्त्रीय द्रव्यार्थिक और शास्त्रीय पर्यायार्थिक। अध्यात्म द्रव्यार्थिकके दस भेद और अध्यात्म पर्यायार्थिकके छह भेद बतलाये हैं। तथा नैगम संग्रह व्यवहारनयको शास्त्रीय द्रव्यार्थिकके भेद और ऋजु सूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूतनयोको शास्त्रीय पर्यायार्थिकके भेद कहा है। ये सब भेद वे ही है जो आलाप पद्धतिमें कहे है। किन्तु आलाप पद्धतिमे न तो निश्चयनयके द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक भेद किये है और न द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके अध्यात्म और शास्त्रीय भेद किये हैं। यद्यपि द्रव्यार्थिकके दस भेद और पर्यायार्थिकके छै भेद आत्माकी ही विविध दशाओंका कथन करते है इसीलिये गुरुजीने उन्हे अध्यात्मनयोंमें सम्मिलित कर लिया जान पड़ता है। किन्तु आलाप पद्धतिकारकी दृष्टिसे ये भेद भी मूलनय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके है। किन्तु ये भेद निश्चयके साधनमें हेतु होते है। क्योंकि ऊपरवाली गाथामे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकको निश्चयके साधनमें हेतु कहा है। और कुन्दकुन्दाचार्य तथा अमृतचन्द्र सूरिके मतानुसार जो निश्चयका साधक है वह सब व्यवहार है। अतः शुद्ध अध्यात्म दृष्टिसे वे सब व्यवहारके अन्तर्गत ही आते है। इसीसे देवसेनाचार्यने आलाप पद्धतिके अन्तमें 'पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यंते' लिखकर अध्यात्म दृष्टिसे नयोंका पृथक् कथन किया है। और निश्चयनयके शुद्ध और अशुद्ध दो भेद किये है और व्यवहारनयके सद्भूत तथा

असद्भूत भेद करके प्रत्येकके उपचरित और अनुपचरितकी अपेक्षा दो भेद किये है। बस, इतने ही नय अध्यात्म सम्मत हैं। शेष सब नय शास्त्रीय है। जयसेनाचार्यने समयसारकी अपनी टीकामें इन्हीं नयोंका प्रयोग किया है। किन्तु ये विभाजन उत्तर कालीन ही ज्ञात होता है। कुन्दकुन्दके अध्यात्ममें दो ही नय है—निश्चय और व्यवहार। उनका निश्चय शुद्ध ही है। जो अशुद्ध है वह सब व्यवहार हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि निश्चय और व्यवहारमें भेद करनेकी आवश्यकता क्यों हुई।

कुन्दकुन्दके शुद्ध अध्यात्मके अनुसार आत्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र स्वरूप है, यह भी व्यवहारनयका कथन है। और आत्मा रूप रस गन्ध-स्पर्श गुण वाला है यह भी व्यवहारनयका कथन है। किन्तु इन दोनों कथनोंमें आकाश पातालका अन्तर है। सम्यग्दर्शन आदि आत्माके ही स्वाभाविक गुण है, तीन कालोंमें भी वे आत्माके सिवाय अन्यके गुण नहीं है। किन्तु रूप रसादि तो पुद्गलके गुण है तीनों कालोंमें भी वे आत्माके गुण नहीं हो सकते। फिर भी चूंकि आत्मा अनादिकालसे कर्मोंसे बद्ध है इसलिए उन्हे उपचारसे आत्माका गुण कहते है। इन दोनों कथनोंको एक ही श्रेणीमें नहीं रखा जा सकता था। अतः प्रथम कथनको व्यवहारनयके क्षेत्रसे निकालकर अशुद्धनयकी श्रेणीमे रखा गया। और यह स्पष्ट कर दिया कि शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार है।

अब प्रश्न यह होता है कि जिस द्रव्यका जो स्वाभाविक रूप है उसी रूपको उसका कहना व्यवहार क्यों है? जो जिस रूप हैं उसको उसी रूप कहने पर भी द्रव्यकी अखण्डताको गहरी क्षति पहुँचती है। सुनने वालेको ऐसा लगता है कि द्रव्य स्वतः सिद्ध, अनादि निधन और निर्विकल्प रूप न होकर, परत. सिद्ध सादिसान्त और भेद रूप है। किन्तु वास्तवमे तो द्रव्य इससे बिलकुल विपरीत हैं। अतः उक्त कथन भी आत्माके यथार्थ स्वरूपका चित्रण नही करता इसलिये वह भूतार्थ नही अभूतार्थ है और इसलिये व्यवहार है। किन्तु इस अभूतार्थ कथनके बिना आत्माके भूतार्थ स्वरूपको नही पहचाना जा सकता। अतः व्यवहार होते हुए भी वह निश्चयका साधक माना जाता है। उक्त कथनमें 'व्यवहरणं-भेद करणं व्यवहारः' व्यवहार नयका यह लक्षण घटित होता है। क्योंकि उक्त कथन अखण्ड वस्तुका खण्ड खण्ड करके प्रतिपादन करता है।

समयसार गा० ६० की टीकामें अमृतचन्द्र सूरिने कहा है कि गध, रस, स्पर्श, रूप शरीर, संस्थान, संहनन,राग, द्वेष, मोह, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यवसाय स्थान, अनुभाग स्थान, योग स्थान बन्ध स्थान, उदय स्थान, मार्गणा स्थान, स्थिति वन्ध स्थान, संक्लेश स्थान, विशुद्धि स्थान, जीव स्थान और गुण स्थान, व्यवहार नयसे ही जीवके कहे जाते हैं किन्तु निश्चय से ये जीवके नही है क्योंकि इनके साथ जीवका तादाम्य सम्बन्ध नहीं है। और इन सबका जीवके साथ तादात्म्य सम्बन्ध इसलिये नही हैं कि मुक्त अवस्थामें जीवमें इनमेंसे कोई भी भाव नहीं रहता। अतः जिन भावोंका जीवके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है उनको जीवका कहना भी व्यवहार नय है। किन्तु उनमेंसे भी कुछ भाव ऐसे हैं जो जीवसे विशेष निकटता रखते है। जैसे राग द्वेष मोह। क्योंकि वे जीव के भाव रूप हैं। अतः उक्त सब भावोंको जीवका कहते समय पर सम्बन्ध आदिकी तारतम्यताकी दृष्टिसे व्यवहार नयके भी भेद कर लिये गए हैं। जिससे जीवके साथ उसकी वास्तविक स्थितिका ज्ञान हो सके। जयसेनाचार्यने 'जीव रागादि भावोंका कर्ता है, इसे अशुद्ध निश्चय नय कहा है और 'जीवके सम्यग्दर्शनादि गुण है' इसे अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय बतलाया है। किन्तु आलाप पद्धतिकारने अशुद्ध निश्चय और अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयके उदाहरणोंमें केवल विवक्षाका ही अन्तर रखा है। जीव में केवल ज्ञानादि गुण हैं यह अशुद्ध निश्चय नय है। और जीवके केवल ज्ञानादि गुण है यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। पहले में अभेद दृष्टि है और दूसरेमें भेद दृष्टि। हमें आलाप पद्धतिकारकी दृष्टि समुचित प्रतीत होता है क्योंकि अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयसे अशुद्ध निश्चय नयका दर्जा ऊँचा होना चाहिये।

अमृतचन्द्रजीके कथनानुसार जिन गुणोंका आत्माके साथ तादात्म्य संबन्ध हैं, निश्चय नयसे वे ही आत्माके हैं। अतः उन गुणरूप आत्माको कहना निश्चय नय या शुद्धनय है और उन गुणोंको आत्माका कहना अशुद्ध कहा जाना चाहिये। गुण गुणीमें भेद डालने रूप अशुद्धि ही निश्चय नयके लिए पर्याप्त है। पर निमित्तसे होनेवाली अशुद्धताका समावेश अशुद्ध निश्चयमें नही होना चाहिये। किन्तु वृहद्द्रव्य संग्रह (गा० ८) की टीकामें ब्रह्मदेव जीने भी अशुद्ध निश्चय नयसे जीव को रागादि भावोंका कर्ता बतलाया है। वहां उन्होंने अशुद्ध निश्चयका अर्थ करते हुए लिखा है 'कर्मकी उपाधिसे उत्पन्न होनेके कारण उसे अशुद्ध कहते है और उस समय तपाये हुए लोहेकी गोलेकी तरह तन्मय

होनेके कारण उसे निश्चय कहते हैं। इस प्रकार दोनोंके मेलसे अशुद्ध निश्चय कहा जाता है।

यहां ब्रह्मदेवजीने निश्चयकी जो उपपत्ति दी है वह चितको नहीं लगती। औपाधिक भावसे तन्मय हुआ जीव निश्चयनयकी सीमासे बाहर ही है। फिर भी इसे अशुद्ध निश्चय क्यों कहां गया है। इसके लिए रागद्वेषके कर्तृत्वके सम्बन्धमें विचार करना होगा।

समयसार गा ५० आदिमें कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है कि जीवके न तो राग है, न द्वेष है और न मोह है क्योंकि ये सब पुद्गलके परिणाम है। किन्तु कर्तृकर्मअधिकार (गा० १३९–१४०) में कहा है कि यदि जीवके कर्मके सहभावसे रागादि परिणाम होते हैं, ऐसा मानते हो तो जीव और कर्म दोनोंके ही रागादि परिणाम होने चाहिये, किन्तु रागादि परिणाम तो अकेले जीवके होते है। अतः कर्मोदयरूप निमित्तके बिना ही रागादि परिणाम जीवके हैं।

इसके पूर्व गा० १२१–१२५ में सांख्यमतको लक्ष्यमें रखकर कहा है— 'जीव स्वयं कर्मसे नहीं बँधा है और न स्वयं क्रोधादिरूप परिणमन करता है'। यदि तेरा ऐसा मत है तो जीव अपरिणामी ठहरता है। और जीवके स्वयं क्रोधादि रूपसे परिणमन न करनेपर या तो संसारका अभाव प्राप्त होता है या सांख्य मतका प्रसंग आता है (सांख्य मतमें जीवको सर्वथा अपरिणामी माना है)। यदि पौद्‌लिक कर्म क्रोध जीवको क्रोधरूप परिणमन कराता है तो जो पौद्गलिक कर्म स्वयं क्रोध रूप परिणत नहीं होता वह जीवका क्रोधरूप परिणमन कैसे करा सकता है? यदि तेरी ऐसी मति है कि आत्मा स्वयं क्रोध-रूप परिणमन करता है तो क्रोध जीवको क्रोधरूप परिणमाता है ऐसा कहना मिथ्या है। अतः क्रोधमें उपयुक्त आत्मा ही क्रोध है, मानमें उपयुक्त आत्मा ही मान है, मायामें उपयुक्त आत्मा ही माया है और लोभमें उपयुक्त आत्मा ही लोभ है।'

ऊपर रागद्वेष मोहको जीवका नहीं बतलाया किन्तु पुद्गलका परिणाम बतलाया है और बादको कहा है कि रागादि परिणाम चूंकि जीवके होते है पुद्गलके नहीं होते इसलिए उनका कर्ता जीव है। यदि नय दृष्टिपर ध्यान न दिया जाये तो ये दोनों कथन परस्परमें विरुद्ध प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तवमें बात ऐसी नहीं है।

शुद्ध जीवके रागद्वेष मोह नहीं होते अतः यह निश्चित है कि वे जीवके नही है। किन्तु अशुद्ध दशामें रागद्वेष मोहरूप जीव ही परिणमन करता है, पुद्गलका परिणमन रागादिरूप नहीं होता और जो परिणमन करता है वही कर्ता कहा जाता है। चूंकि जीव ही रागादिरूप परिणमन करता है इस लिये वही रागादि भावोंका कर्ता है। और रागादि भाव उसीके परिणाम कहे जाते हैं।

प्रवचन सारके ज्ञेयाधिकारमें (गा० ८१) कुन्दकुन्द स्वामीने यह शंका उठाई हैं कि पुद्गल परमाणु तो मूर्तिक है उसमें स्पर्शादि गुण पाये जाते है अतः पुद्गलका पुद्गलके साथ बन्ध होता है आत्मा तो अमूर्तिक है, स्पर्शादि गुणवाला नहीं है वह कर्मसे कैसे बँधता है ? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि जैसे आत्मा रूपादि गुणोंसे रहित होने पर भी रूपादि द्रव्योंको और गुणोंको जानता है, वैसे ही रूपादि रहित होने पर भी रूपी कर्मोसे बंधता है। आगे लिखा है कि 'पुद्गलोंका बन्ध स्पर्श आदि गुणोंके द्वारा होता है और जीवका बन्ध रागादिके द्वारा होता है। आत्मा सप्रदेशी है वह आत्मा मोह रागद्वेषसे अविष्ट होकर कर्मरूपी रजसे श्लिष्ट होता है इसीको आगममें बन्ध कहा है। अरहन्त देवने निश्चयनयसे यह जीवके बन्धका कथन किया है। व्यवहारनयका कथन इससे भिन्न है।'

इसी गाथा ९७ की टीकामें अमृतचन्द्र सूरिने कहा है कि राग परिणामोंका आत्म ही कर्ता, उपादाता और हाता (छोड़ने वाला) है यह शुद्ध द्रव्यका निरूपण करने वाला निश्चयनय है। और पुद्गल परिणामोंका कर्ता हाता आदि आत्मा है यह अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करनेवाला व्यवहारनय है।' इसकी टीकामें जयसेनाचार्यने लिखा है कि 'रागादिका ही आत्मा कर्ता और भोक्ता है यह निश्चयनयका लक्षण है। किन्तु यह निश्चयनय द्रव्यकर्म बन्धका कथन करने वाले असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे शुद्ध द्रव्य का निरूपण करता है। विवक्षित निश्चयनयकी अपेक्षा इसे अशुद्ध निश्चय नय कहते हैं।' इस कथनके प्रकाशमें ब्रह्मदेवजीके कथनको देखनेसे उसकी यथार्थता समझमें आजाती है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ जो कथन जिस अपेक्षासे किया गया है उस अपेक्षाको यदि दृष्टिसे ओझल कर दिया जाये और उस आपेक्षिक कथनको ही ऐकान्तिक सत्य मान लिया जाये तो मनुष्य सत्यसे भटक जाता है। अतः अन्य कथनोंके साथ संगति बैठाकर ही प्रत्येक कथनकी यथार्थताको जाना जा सकता है। इस लिये व्यवहार और निश्चयके भेद प्रभेदोंको समझनेके

साथ ही साथ यह नहीं भुला देना चाहिये कि निश्चयनयके कथनके मूलमें शुद्ध आत्मोपलब्धिकी भावना निहित है तथा व्यवहारनय जो कहता है वह सर्वथा मिथ्या नहीं है। केवल शुद्धात्मोलब्धिकी दृष्टिसे ही मिथ्या है।

सांख्य मतकी प्रक्रिया—कुन्दकुन्द स्वामीने समयसारमे कई जगह लिखा है कि ऐसा माननेसे सांख्य मतका प्रसंग आ जायेगा। अतः समयसारके पाठकको सांख्य मतकी प्रक्रिया भी जानना चाहिये।

सांख्य दो मूल तत्त्व मानता है—एक प्रकृति या प्रधान और दूसरा पुरुष या आत्मा। इनमेंसे प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है। तथा प्रकृति परिणामी है और प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र पुरुष कूटस्थ नित्य है—अर्थात् अपरिणामी है। सांख्य मानता है कि आत्मा स्वभावसे शुद्ध ही है। अपरिणामी होनेसे वह संसार दशामें भी विकृत नहीं होता। वह संसार तथा मोक्ष, दोनों दशाओंमें एक सा सहज शुद्ध रहता है। उसपर पुण्य-पापका किसी भी तरहका असर नहीं पड़ता। सांख्य मतके अनुसार संसार और मोक्ष प्रकृतिका होता है क्योंकि प्रकृति परिणामी है अतः उसमें विभिन्न अवस्थायें होना सम्भव है। सांख्य कारिकामें लिखा है—

तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

'अतः न कोई बंधता है। न कोई छूटता है और न कोई संसारमें भटकता है। नानाश्रया प्रकृति ही संसारमें भटकती है, बंधती है और मुक्त होती है।'

आत्मा न तो बद्ध है और न मुक्त। बन्ध और मोक्ष प्रकृतिके होते हैं और प्रकृतिके समीपमें सदा विद्यमान आत्मामें उनका आरोप होता है। जैसे आकाशमें उड़ने वाला पक्षी, स्वच्छ पानीमें उड़ता दिखाई देता है वैसे ही प्रकृतिके बन्ध और मोक्ष पुरुषमें व्यवहृत होते हैं क्योंकि उनका परस्परमे विशिष्ट सान्निध्य है। तथा सांख्य मतमे बुद्धि भी प्रकृतिजन्य है। वही ज्ञान अज्ञान, धर्म अधर्म, सुख दुःख, पुण्यपाप आदि भावोंका आधार है। जब बुद्धि अहंकार आदि रूप प्रपञ्च पुनः प्रकृतिमें सिमट जाता है तब प्रकृतिका मोक्ष होता है और उपचारसे पुरुष भी मुक्त कहा जाता है।

सारांश यह है कि सांख्य-योग दर्शन, सुख, दुःख, ज्ञान-अज्ञान, इच्छा-द्वेष, आदि भाव पुरुषमें न मानकर सात्त्विक बुद्धि तत्त्वमें मानता है। और उसकी पुरुषमें पड़नेवाली छायाको ही आरोपित संसार कहता है। अतः जब

मुक्ति दशामें सात्विक बुद्धि अपने भावोंके साथ अपने मूलकारण प्रकृतिमें विलय होती है तो पुरुषमें आरोपित सुख दुःख, इच्छा द्वेष आदि भावोंका और कर्तृत्वकी छायाका भी अभाव हो जाता है। इसीका नाम मुक्ति है। इस तरह सांख्य दर्शनने पुरुषको कूटस्थ नित्य—अपरिणामी माननेके कारण उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बन्ध मोक्ष आदि अवस्थाओंको उपचरित माना है। उसके बिना पुरुषकी कूटस्थ नित्यता सुरक्षित नहीं रहती।

किन्तु जैनदर्शन परिणामी नित्यताके सिद्धान्तका पक्षपाती है। उसमें सांख्यकी तरह केवल जड़ प्रकृतिको ही परिणामी नहीं माना, वह आत्म द्रव्यको भी परिणामी नित्य मानता है। उसका आत्म तत्त्व शरीर परिमाण वाला होनेके कारण संकोच विस्तारशील है। चींटीकी आत्माका परिमाण चींटीके शरीर बराबर है। जब वह चींटीके शरीरको छोड़कर हाथीके शरीरमें जन्म लेता तो उसका परिमाण हाथीके शरीरके बराबर होता है। इस तरह शरीरके संकोच विस्तारके अनुसार संसारी जीवका भी संकोच विस्तार होता है। मुक्त हो जाने पर संकोच विस्तार वाली बात समाप्त हो जाती है क्योंकि शरीरका और कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाता है। अतः आत्मा अन्तके शरीरसे कुछ न्यून आकारको लिए सदा स्वाभाविक परिणमनसे परिणत हुआ करता हैं।

तथा जैनदर्शनमें ज्ञान सुख वगैरह जीवके स्वाभाविक गुण माने गये हैं। और बन्ध तथा मोक्ष भी आरोपित नहीं है वास्तविक हैं। जो ऐसा मानते हैं कि संसार दशामें भी जीव सिद्धके समान शुद्ध हैं कर्मसे अबद्ध और अस्पष्ट है। वे सांख्यमतावलम्बी है जैनमतावलम्बी नहीं है। अबद्ध अस्पष्ट आत्माका अनुभव करना भिन्न बात है और आत्माको वास्तवमें अबद्ध-अस्पष्ट मानना भिन्न बात है। जैन अध्यात्मशास्त्रका एकमात्र लक्ष्य शुद्ध आत्म स्वरूपकी प्रतीतिके द्वारा उसकी उपलब्धि कराना है न कि सांख्यकी कूटस्थ नित्य आत्माकी तरह उसे सर्वथा अबद्ध और मुक्त बतलाना। किन्तु निश्चय दृष्टिसे किए गए कथनमें सांख्य मतकी झलक आ जाना सम्भव है। और यदि उस कथनको आगे पीछेके साथ मिलाकर न पढा जाये तो उससे भ्रम हो सकता है।

उदाहरणके लिए अमृतचन्द्र सूरिका एक कलश नीचे दिया जाता है—

> अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये-
> वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
> रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
> चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः॥४४॥

अर्थ—इस अनादि महा अविवेक पूर्ण नाटकमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नाचता फिरता है, अन्य कोई नहीं; क्योंकि यह जीव तो रागादि पुद्गल विकारोंसे विरुद्ध शुद्ध चैतन्य धातुमय मूर्ति स्वरूप है।

यह कथन पीछे उद्धृत सांख्यकारिकाके कथनके ही अनुरूप है; क्योंकि इसमें कहा गया है कि जीव तो 'शुद्ध चैतन्य धातुमय है अतः पुद्गल ही संसारमें भटकता फिरता है'। सांख्यका तो यह सिद्धान्त ही है। किन्तु इस कलशको इसके पहले और पीछेके कलशके साथ मिलाकर पढ़नेसे वह भ्रम दूर हो जाता है। आगेके कलशमें कहा है कि 'इस प्रकार ज्ञानरूपी आरेको चलानेके चातुर्य द्वारा जबतक जीव और अजीव विघटित नहीं हो जाते' इत्यादि।

समयसारके बन्धाधिकारमें कुन्दकुन्द स्वामीने दृष्टान्त पूर्वक बन्धका कथन करते हुए कहा है 'कि जैसे कोई पुरुष शरीरमें तेल लगाकर धूल भरी भूमिमें शस्त्राभ्यास करता है तो उसका शरीर धूलसे लिप्त हो जाता है। वैसे ही मिथ्यादृष्टि जो रागादिरूप उपयोग करता है उसके कारण वह कर्मरजसे लिप्त हो जाता है।' अतः जैन सिद्धान्तमें बन्ध और मोक्ष सांख्यकी तरह उपचार मात्र नहीं है, किन्तु वास्तविक हैं। मगर वास्तविक होते हुए भी आगन्तुक होनेसे बन्ध हेय है; उपादेय नहीं है।

सांख्य आत्माको सर्वथा अकर्ता मानता है। समयसारमें भी आत्माको पर द्रव्यका अकर्ता बतलाया है। गाथा ३२१ आदि में कहा है कि लौकिक जन विष्णुको जगतका कर्ता मानते हैं उसी तरह यदि श्रमण (जैन साधु) आत्माको षट्कायका कर्ता मानते हैं तो दोनोंमें कोई अन्तर नहीं रहता। अतः आत्माको परका कर्ता मानना मिथ्यात्व है। आत्मा अपने भावोंका कर्ता है।

आगे जो एकान्तसे कर्मको कर्ता और आत्माको सर्वथा अकर्ता मानते हैं उनके निराकरण करनेके लिए कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—

यदि सब कुछ कर्म ही करते हैं और आत्मा सर्वथा अकर्ता है तो चूँकि स्त्रीवेद कर्मके उदयसे पुरुषकी अभिलाषा होती है और पुरुषवेद कर्मके उदयसे स्त्रीकी अभिलाषा होती है। अतः स्त्री पुरुषसे और पुरुष स्त्रीसे रमण करने पर भी व्यभिचारके दोषी नहीं कहे जायेंगे। और ऐसी स्थितिमें कोई जीव व्यभिचारी नहीं कहा जा सकेगा क्यों कि कर्म ही कर्मकी अभिलाषा करता है। इसी तरह परघात नामक कर्म दूसरेका घात करता है, आत्मा तो अकर्ता है अतः कोई घात करने पर भी घातक नहीं कहलायेगा; क्योंकि कर्म कर्मका घात करता है। यह दोष बतलाकर कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जो श्रमण

इस प्रकार सांख्य मतका उपदेश करते हैं, उनके मतानुसार जो कुछ करती है वह प्रकृति करती है। आत्मा तो अकर्ता है ॥ ६४० ॥

इस प्रकार कुन्दकुन्द स्वामीने अध्यात्मका उपदेश देते हुए अपने पाठकको बराबर इस बातसे सावधान किया है कि वह एकान्त वादके चक्रमे पडकर मार्ग-भ्रष्ट न हो। अतः समयसारके पाठीको सांख्यमत को भी समझना जरूरी है जिससे वह शुद्ध अध्यात्म और सांख्यवादके अन्तरको दृष्टिमे रखकर विचार कर सके।

५ अध्यात्म और शास्त्रीय नयोमे अन्तरका कारण—

१ शास्त्रीय दृष्टि कोण—यह हम लिख आये हैं कि निश्चयनय और व्यवहारनयके द्वारा वस्तुनिरूपण अध्यात्मविषयक ग्रन्थोंमें ही विशेष रूपसे पाया जाता है। तथा आलाप पद्धतिकारने नयोंका विवेचन करके 'पुनरप्यध्यात्म-भाषया नया उच्यन्ते' लिखकर जो अध्यात्म दृष्टिसे नयोंका अलगसे विवेचन किया है और गुरुवर्य गोपालदास जीने तदनुसार नयोंके शास्त्रीय और अध्यात्म दो भेद किये हैं, ये सब बातें इस बात को बतलाती हैं कि वस्तु-विवेचनकी शास्त्रीय दृष्टिसे अध्यात्म दृष्टिमें अन्तर है। यदि ऐसा न होता तो ग्रन्थकारोंको नयोंके ये दो भेद ही न करने पडते, और दोनों नयोंके भेद-प्रभेदोंमें इतना अन्तर न होता और न दोनोंका क्षेत्र ही जुदा जुदा होता। शास्त्रीय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेदोंकी उप-योगिता शास्त्रीय वस्तुविवेचनमें है। इसी तरह निश्चय और व्यवहारकी उपयोगिता अध्यात्ममें है। और इसका कारण यह है कि वस्तु विवेचनकी शास्त्रीय दृष्टिसे अध्यात्म दृष्टिमें अन्तर है। शास्त्रीय दृष्टि वस्तुका विश्लेषण करके उसकी तह तक पहुँचनेकी चेष्टा करती है। उसकी दृष्टिमें निमित्त कारणके व्यापारका भी उतना ही मूल्य है जितना उपादान कारणके व्यापारका। और पर संयोग जन्य अवस्था भी उतनी ही यथार्थ है जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादान कारणके विना कार्य नहीं होता वैसे ही निमित्त कारणके बिना भी कार्य नहीं होता। अतः कार्यकी उत्पत्तिमें दोनोंका सम व्यापार है। जैसे मिट्टीके बिना घट उत्पन्न नहीं होता वैसे ही कुम्हार चक्र आदिके बिना भी घट उत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थितिमें वास्तविक स्थितिका विश्लेषण करने-वाली शास्त्रीय दृष्टि किसी एकके पक्षमें अपना फैसला कैसे दे सकती है। इसी तरह मोक्ष जितना यथार्थ है संसार भी उतना ही यथार्थ है और संसार जितना यथार्थ है उसके कारण कलाप भी उतने ही यथार्थ हैं। संसार दशा न केवल

जीवकी अशुद्ध दशाका परिणाम है और न केवल पुद्गलकी अशुद्ध दशाका परिणाम है। किन्तु जीव और पुद्गलके मेलसे उत्पन्न हुई अशुद्ध दशाका परिणाम है। अतः शास्त्रीय दृष्टिसे जितना सत्य जीवका अस्तित्व है और जितना सत्य पुद्गलका अस्तित्व है उतना ही सत्य उन दोनोंका मेल और संयोगज विकार भी है। वह सांख्यकी तरह पुरुषमें आरोपित नहीं है किन्तु प्रकृति और पुरुषके संयोगजन्य बन्धका परिणाम है। अतः शास्त्रीय दृष्टिसे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा पुण्य, पाप और मोक्ष सभी यथार्थ और वस्तुभूत हैं। अतः सभीका यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। और चूँकि उसकी दृष्टिमें कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण भी उतना ही आवश्यक है जितना उपादान कारण, अतः आत्म प्रतीतिमें निमित्तभूत देव, शास्त्र और गुरु वगैरहका श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है। उसमे गुणस्थान भी है मार्गणा-स्थान भी हैं, सभी हैं। शास्त्रीय दृष्टिको किसी वस्तु विशेषके साथ कोई पक्ष-पात नहीं है। वह वस्तु स्वरूपका विश्लेषण किसीके हित अहितको दृष्टिमें रखकर नहीं करती।

सर्वार्थ सिद्धि और तत्त्वार्थ वार्तिकमें नयोंका विवेचन करते हुए शब्द नयके विवेचन पर यह आपत्ति उठाई है कि इससे तो लोक और शास्त्र दोनोंका विरोध होता है। तो उसका उत्तर देते हुए कहा गया है—रहो विरोध, यहाँ तत्त्वकी मीमांसा की जाती है, तत्त्व मीमांसा करते समय मित्र और शत्रुका विचार नहीं किया जाता। ठीक यही शास्त्रीय दृष्टिकी स्थिति है, जो प्रायः समस्त जैन शास्त्रोंमें दृष्टिगोचर होती है और शास्त्रार्थी विद्वान् लोग जिससे सुपरिचित हैं। किन्तु अध्यात्म दृष्टि आत्म तत्त्वकी मुख्यतासे ही वस्तु तत्त्वका विवेचन करती है।

२ आध्यात्मिक दृष्टिकोण—शास्त्रीय दृष्टिके सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। उसके द्वारा आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें रखकर वस्तुका विचार किया जाता है। जो आत्माके आश्रित हो उसे अध्यात्म कहते हैं। जैसे वेदान्ती ब्रह्मको केन्द्रमें रखकर जगतके स्वरूपका विचार करते है वैसे ही अध्यात्मदृष्टि आत्माको केन्द्रमें रखकर विचार करती है। जैसे वेदान्तमें ब्रह्म ही परमार्थ सत् है और जगत् मिथ्या है, वैसे ही अध्यात्मविचारणामें एकमात्र शुद्ध बुद्ध आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएं व्यवहारसत्य है। इसीसे जैसे शास्त्रीय क्षेत्रमें वस्तुतत्त्वका विवेचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके द्वारा किया जाता है वैसे ही अध्यात्ममें निश्चयनय और व्यवहारनयके द्वारा आत्मतत्त्वका विवेचन

किया जाता है। और निश्चय दृष्टिको परमार्थ और व्यवहार दृष्टिको अपरमार्थ माना जाता है, क्योंकि निश्चय दृष्टि आत्माके यथार्थ शुद्ध स्वरूपको दिखलाती है और व्यवहार दृष्टि अशुद्ध अवस्थाको दिखलाती है। अध्यात्मी मुमुक्षु शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त करना चाहता है उसकी प्राप्तिके लिये सबसे प्रथम उसे उस दृष्टिकी आवश्यकता है जो आत्माके शुद्ध स्वरूपका दर्शन करा सकनेमें समर्थ है। ऐसी दृष्टि निश्चय दृष्टि है, अतः मुमुक्षुके लिये वही दृष्टि भूतार्थ है। जिससे आत्माके अशुद्ध स्वरूपका दर्शन होता है वह व्यवहार दृष्टि उसके लिये कार्यकारी नहीं है अतः वह अभूतार्थ कही जाती है। इसीसे आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतके प्रारम्भमें 'ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो य सुद्धणयो' लिखकर व्यवहार नयको अभूतार्थ और शुद्धनय अर्थात् निश्चयनयको भूतार्थ कहा है।

इसकी व्याख्या करते हुये अमृतचन्द्र सूरिने लिखा है कि 'व्यवहार नय अभूतार्थ है क्योंकि वह अविद्यमान, असत्य, अभूत अर्थका कथन करता है'। इसको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा है कि 'कीचडसे कलुषित हुए गदले जलको कीचड और जलका भेद न कर सकने वाले अधिकांश मनुष्य तो मैला ही अनुभव करते हैं। किन्तु कुछ मनुष्य अपने हाथसे डाली गई निर्मलीके प्रभावसे जल और मैलके भेदको जानकर उस जलको निर्मल ही अनुभव करते हैं। उसी तरह प्रबल कर्मरूपी मलके द्वारा जिसका स्वाभाविक ज्ञायक भाव तिरोभूत हो गया है ऐसे आत्माका अनुभव करने वाला व्यवहारसे विमोहितमति अविवेकी पुरुष आत्माको नाना पर्यायरूप अनुभव करता है किन्तु भूतार्थदर्शी मनुष्य शुद्धनयके द्वारा आत्मा और कर्मका भेद जानकर ज्ञायकभावस्वभाव आत्माका ही अनुभव करता है। यहाँ शुद्धनय निर्मलीके समान है। अतः जो शुद्धनयका आश्रय करता है वही सम्यक् दृष्टा होनेके कारण सम्यग्दृष्टी है किन्तु जो व्यवहार नयका आश्रय करता है वह सम्यग्दृष्टी नहीं है। अतः कर्मसे भिन्न आत्माका अनुभव करने वालोंके लिये व्यवहारनयका अनुसरण करना योग्य नहीं है।'

इस व्याख्यासे अध्यात्ममें निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ माननेका तथा एकको उपादेय और दूसरेको हेय कहनेका क्या हेतु है, यह स्पष्ट हो जाता है।

निश्चयनय शुद्धरूपका दर्शन करता है इसलिये उसे शुद्धनय भी कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार (गा० १४) में शुद्धनयका स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि -'जो आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, और

असंयुक्त जानता है उसे शुद्धनय जानो। इसकी व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्र सूरिने लिखा है–'शिष्य पूछता है कि अबद्ध, अस्पृष्ट, आदिरूप आत्माकी अनुभूति कैसे होती है। उसका समाधान यह है कि बद्ध, स्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ है अतः उनसे रहित आत्माकी अनुभूति हो सकती है। इसी बातको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं। जैसे जलमें डूबे हुए कमलिनीके पत्तोंकी जलमें डूबी हुई अवस्थाको देखते हुए उनका जलसे स्पृष्ट होना भूतार्थ है। फिर भी जब हम कमलिनीके पत्तोंके स्वभावको लक्ष्यमें रखकर देखते है तो उनका जलसे स्पृष्टपना अभूतार्थ है; क्योंकि कमलिनीका पत्र जलसे सदा अस्पृष्ट ही रहता है। इसी तरह आत्माकी अनादि पुद्गलकर्मोंसे बद्ध और अस्पृष्ट अवस्थाका जब अनुभव करते हैं तो आत्माका बद्धपना और स्पृष्टपना भूतार्थ है। किन्तु जब आत्माके स्वभावका अनुभवन करते हैं तो बद्ध-स्पृष्टपना अभूतार्थ है।'

आशय यह है कि आत्माके दो रूप हैं एक स्वाभाविक और एक वैभाविक। स्वाभाविकरूप वास्तविक होनेसे भूतार्थ है और वैभाविक रूप औपाधिक या औपचारिक होनेसे अभूतार्थ है। भूतार्थग्राही निश्चयनय है और अभूतार्थ-ग्राही व्यवहारनय है। जैसे मिट्टिके घडेको मिट्टीका घडा कहना निश्चय है और चूँकि उसमें घी भरा है इसलिये घीके संयोगसे उसे घीका घडा कहना व्यवहार है। जब उस घडेके साथ घीसे संयुक्त अवस्थाको देखते हैं तो घीका व्यवहार भूतार्थ है किन्तु जब उसके स्वाभाविक मिट्टी रूपको देखते है तो वह अभूतार्थ है।

इसी तरह आत्मा अनादिकालसे कर्मपुद्गलोंसे बद्ध और स्पृष्ट होनेसे बद्ध और स्पृष्ट प्रतीत होता है, कर्मके निमित्तसे होनेवाली नर नारक आदि पर्यायोंमें भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है, अविभागी प्रतिच्छेदोंमें हानि वृद्धि होनेके कारण अनियत रूप प्रतीत होता है, दर्शन ज्ञान आदि गुणोंसे विशिष्ट प्रतीत होता है तथा कर्मके निमित्तसे होनेवाले रागद्वेष मोह रूप परिणामोंसे संयुक्त प्रतीत होता है। इस तरह व्यवहार नयसे आत्मा बद्ध, स्पृष्ट, अन्य रूप, अनियत, विशिष्ट और संयुक्त प्रतीत होता है। व्यवहार नयकी दृष्टिसे ये सब प्रतीतियाँ भूतार्थ हैं किन्तु व्यवहार नयके द्वारा ज्ञायक स्वभाव रूप आत्माको नहीं जाना जा सकता और उसके जाने विना आत्माको नहीं जाना जा सकता। अतः व्यवहार नयके प्रतिपक्षी शुद्धनयके द्वारा आत्माके असाधारण ज्ञायक भावको लक्ष्यमें रखने पर उक्त सब भाव अभूतार्थ है।

सारांश यह है कि पर द्रव्यके संयोगसे अशुद्धता होती है। उसमें मूल द्रव्य अन्य द्रव्य रूप नहीं हो जाता, केवल पर द्रव्यके संयोगसे अवस्था मलिन

हो जाती है। द्रव्य दृष्टिसे तो द्रव्य वहीका वही है किन्तु यदि पर्याय दृष्टिसे देखा जाये तो मलिन ही दिखाई देता है। इसी तरह आत्माका स्वभाव ज्ञायक मात्र है किन्तु उसकी अवस्था पुद्गल कर्मके निमित्तसे रागादिरूप मलिन हो रही है। यदि पर्याय दृष्टिसे देखा जाये तो वह मलिन ही दिखाई देती है। किन्तु यदि द्रव्य दृष्टिसे देखा जाये तो ज्ञायक रूप तो ज्ञायक रूप ही है वह जड रूप नहीं हो गया है। अतः द्रव्य दृष्टिमें अशुद्धता गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचरित है। और द्रव्य दृष्टि शुद्ध है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है।

आशय यह है कि शुद्धता और अशुद्धता दोनों वास्तविक हैं, किन्तु अशुद्धता परद्रव्यके संयोगसे होती है, जब कि शुद्धता स्वभावभूत है। इतना ही दोनोंमें अन्तर है। जो नय अशुद्ध दशाका अनुभव कराता है उसे हेय इसलिये कहा है कि अशुद्ध नयका विषय संसार है और संसार दुःखमय है। यदि आत्मा पर द्रव्यसे भिन्न हो तो संसार मिटकर दुःख भी मिट जाये। अतः दुःखको मिटानेके लिये शुद्धनयका उपदेश है। अशुद्धनयको असत्यार्थ कहनेसे यह मतलब नहीं लेना चाहिये कि अशुद्धता सर्वथा अवास्तविक है। किन्तु उसे आगन्तुक मानकर हेय समझना ही उचित है। अतः स्वरूपकी प्राप्तिके लिये अशुद्ध दशामें अशुद्धनय उपयोगी नहीं है, शुद्धनय ही उपयोगी है। इसलिये आत्मार्थीको शुद्धनयका आलम्बन लेना ही श्रेयस्कर है। स्वरूपकी प्राप्ति होनेपर शुद्धनयका भी अवलम्बन छूट जाता है।

प्रवचन सार (गा० २।९०) की टीकामें अमृत चन्द्र सूरिने शुद्धद्रव्यके निरूपकको निश्चयनय और अशुद्ध द्रव्यके निरूपकको व्यवहारनय बतलाया है और आगे लिखा है—

'उभावप्येतौ स्तः शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्। किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वात् निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धद्योतको व्यवहारनयः।'

अर्थात्–है दोनों ही नय वस्तुभूत, क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपसे द्रव्यकी प्रतीति होती है। किन्तु यहाँ साधकतम होनेसे निश्चयनयका ग्रहण किया है क्योंकि साध्य शुद्ध आत्मा है अतः द्रव्यकी शुद्धताका प्रकाशक होनेसे निश्चयनय ही उसमें साधकतम है। अशुद्ध स्वरूपका प्रकाशक व्यवहारनय उसमें साधकतम नहीं है।

अतः चूँकि अशुद्ध दशा वास्तविक है इसलिये उसका दर्शक अथवा प्ररूपक व्यवहारनय भी वास्तविक है। किन्तु शुद्ध दशा जैसी वास्तविक है अशुद्ध दशा उस रूपमें वास्तविक नहीं है; क्योंकि शुद्ध दशा वस्तुकी स्वाभाविक अवस्था है, अतएव स्थायी और यथार्थ है। किन्तु अशुद्धदशा परद्रव्यके संयोगसे होती है, अतः आगन्तुक होनेसे अस्थायी और अयथार्थ है। इसीलिये उसका दर्शक व्यवहारनय अभूतार्थ कहा जाता है। ऐसे नयका शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिमें परम्परया उपभोग भले ही हो, किन्तु साधकतमपना नहीं है। इसीलिये वह हेय है। किन्तु सभी अवस्थाओंमें सभीके लिये वह हेय नहीं है, निचली अवस्थामें स्थित जीवोंके लिये वही उपयोगी होता है।

६ व्यवहारनय भी उपादेय है—

समय प्राभृत (गा० १२) में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—जो परमभावदर्शी है उनके लिये तो शुद्धका कथन करनेवाला शुद्धनय ही जानने योग्य है किन्तु जो अपरमभावमें स्थित है वे व्यवहारनयके द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

अमृत चन्द्रजीकी टीकाके आधार पर पं० जयचन्दजीने परम भावदर्शी का अर्थ किया है—'जे शुद्धनयताई पहुंच श्रद्धावान भये तथा पूर्ण ज्ञान चारित्रवान् भये'। और जो श्रद्धा तथा ज्ञानके और चारित्रके पूर्ण भावको नहीं पहुँचे है, साधक अवस्थामें स्थित है उन पुरुषोंको अपरम भावोंमें स्थित कहा है।

गाथा १२ के 'अपरमे ट्ठिदा भावे' का अर्थ करते हुए जयसेनाचार्यने लिखा है—'अपरमे अशुद्धे असयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सराग सम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा ठिदा स्थिताः।'

अर्थात सातवें गुणस्थान तकके जीव अपेक्षा भेदसे अपरम भावमें स्थित हैं। और उनके लिये व्यवहारनयसे उपदेश करना योग्य है। समयसारकी आत्मख्याति वचनिकाके प्रारम्भमें पं० जयचन्द्रजीने भी यही बात लिखी है। उन्होंने लिखा है—

'बहुरि ऐसा जानना—जो स्वरूप की प्राप्ति दोय प्रकार है, प्रथम तो यथार्थ ज्ञान होय करि श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन होगा। सो यह तो अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्तीके भी होय है। तहाँ बाह्य व्यवहार तो अविरत रूप ही रहै। तहाँ बाह्य व्यवहारका आलम्बन है ही। अर अन्तरंग सर्वनयका

पक्षपात रहित अनेकान्त तत्त्वार्थकी श्रद्धा होय है। बहुरि जब संयमधारि प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि होय अर जहाँ ताई साक्षात् शुद्धोपयोगकी प्राप्ति न होय श्रेणी न चढ़ै, तहाँ शुभरूप व्यवहारका ही अवलंबन हैं। बहुरि दूजा साक्षात् शुद्धोपयोगरूप वीतराग चारित्रका होना सो अनुभवमें शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति होय, तामें व्यवहारका भी आलम्बन नहीं, अर शुद्धनयका भी आलम्बन नहीं। जातैं आप साक्षात् शुद्धोपयोगरूप भया तब नयका आलम्बन काहेका? नयका आलम्बन तौ जेते राग अंश था तेतैंहि था। ऐसै अपने स्वरूपकी प्राप्ति भये पीछै पहलैतो श्रद्धामें नयपक्ष मिटै है। पीछै साक्षात् वीतराग होय तब चारित्र सम्बन्धी पक्षपात मिटै है। ऐसा नहीं, जो साक्षात् वीतराग तौ भया नाहीं अर शुभ व्यवहारकूं छोडि स्वच्छंद प्रमादी होय प्रवर्तै। ऐसा होय तौ नय विभागमें समझा नाही, उलटा मिथ्यात्व ही दृढ़ भया।'

उक्त गाथा १२ के ऊपर श्रीकानजी स्वामीने अपने प्रवचनमें भी साधक अवस्थामें व्यवहारको प्रयोजनीभूत बतलाया है। उन्होंने कहा है—'जो शुद्ध-नय तक पहुँचकर पूर्ण श्रद्धा ज्ञान-चारित्ररूप हो गये हैं उनके लिये शुद्धनय ही प्रयोजन भूत है क्योंकि उनके पूर्ण होनेका विकल्प नहीं रह गया है। किन्तु जिसने पूर्ण निर्मलकी श्रद्धाकी है और जो साधकदशारूप मध्यम भावका अनुभव करता है उसे रागको दूर करके क्रमशः आंशिक स्थिरताको बढ़ानेका व्यवहार प्रयोजनभूत है। × × × जो पूर्ण चारित्र दशाको प्राप्त नहीं हुए. मध्यदशा (चौथेसे छठे गुण स्थान तक) में वर्तमान हैं वे जब स्वरूपमें स्थिर नहीं हो सकते तब उनके शुभ भावरूप व्यवहार होता है। × × × तत्त्वकी यथार्थ प्रतीति होने पर अन्तरंगमें जो आंशिक स्थिरता प्रकट होती है उसे श्रावककी पाँचवी भूमिका कहते हैं। शुद्ध दृष्टिके बलसे तीन कषायोंकी चौकडीका अभाव करके अन्तरंगमें चारित्रकी विशेष स्थिरता प्रकट करनेवाली मुनि दशा छठे गुण स्थानमें होती है। और उससे विशेष स्थिरता, एकाग्रता, निर्विकल्प ध्यान दशा सातवें (अप्रमत्त) गुणस्थानमें मुनिके होती है। उस समय बुद्धि पूर्वक विकल्प नहीं होता, मैं अनुभव करता हूं, आनन्द लेता हूँ, ऐसा विकल्प नहीं होता, वह तो अन्तरङ्गमें स्वरूप अखण्ड आनन्द अनुभव करते हैं। वे जब सविकल्प दशामें होते हैं तब (छठे गुण स्थानमें) तत्वका मनन; शिष्यको उपदेश देना, शास्त्रोंकी रचना करना इत्यादि शुभ व्यवहार तथा आहारादि सम्बन्धी विकल्प बीचमें आ जाता है।' (समय० प्रव०, १ भा० पृष्ठ ३४१)

उक्त सब व्याख्यानोंसे यह स्पष्ट है कि शुद्धोपयोगकी दशामें जो नहीं पहुँचे हैं, दूसरे शब्दोंमें जो श्रेणीमें स्थित नहीं हैं ऐसे सातवें गुणस्थान पर्यन्त जीव अपरम भावमें स्थित लिए गये हैं। उनके लिए व्यवहार नयसे उपदेश करना योग्य है। किन्तु जो व्यवहारकी सीमाका अतिक्रमण करके परम भावमें स्थित है उनके लिये तो एक मात्र शुद्धनय ही प्रयोजनीभूत है।

इस कालमें तो इस क्षेत्रमें सातवें गुणस्थानसे ऊपर कोई जीव पहुँच ही नहीं सकता। अतः इस भरत क्षेत्रमें जितने मनुष्य हैं वे सभी अपरम भावमें स्थित हैं अतः उनके लिये तो व्यवहारनय ही प्रयोजनीभूत है। अतः कुन्दकुन्द स्वामीके आदेशानुसार वे सब व्यवहारनय द्वारा ही उपदेश करनेके योग्य है, उसीसे उनका कल्याण हो सकता है।

७ व्यवहार नयकी भूतार्थता और उपादेयता—

समयसार गाथा १३ में कहा है कि भूतार्थनयसे जाने गये नौ तत्त्व सम्यग्दर्शन है। इस गाथाकी टीकामें अमृतचन्द्रने लिखा है—'कि इन नौ तत्त्वोंको यदि बाह्य दृष्टिसे देखा जाये तो जीव और पुद्गलकी अनादि बन्ध पर्यायका अनुभवन करनेसे ये सभी भूतार्थ हैं। और एक जीव द्रव्यके स्वभावका अनुभवन करने पर ये सभी अभूतार्थ हैं। इसी तरह अन्तर्दृष्टिसे देखने पर जीव तो ज्ञायक भावरूप है। जीवके विकारका कारण अजीव है। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये सब अकेले जीवके विकार नहीं हैं। किन्तु अजीवके विकारसे जीवके विकारके कारण उत्पन्न हुए है। इन नौ तत्त्वोंको जब जीव स्वभावको छोड़कर स्व और परके निमित्तसे होनेवाली एक द्रव्यकी पर्याय रूपसे अनुभव करते हैं तो ये भूतार्थ हैं। और जब जीवके कभी न चिकने वाले स्वभावकी अपेक्षा देखते हैं तो ये अभूतार्थ हैं'।

आगे और लिखा है कि—एकत्वरूपसे प्रकाशमान आत्माके जाननेके उपायभूत जो प्रमाण नय निक्षेप हैं वे भी भूतार्थ और अभूतार्थ हैं।' प्रमाता प्रमेयके भेदका अनुभव करते हुए प्रमाण भूतार्थ हैं, और जीव स्वभाव-का अनुभवन करनेपर अभूतार्थ है। द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय भी द्रव्य और पर्यायका भेद रूप अनुभवन करनेपर भूतार्थ है और शुद्ध चैतन्य स्वरूप जीवका अनुभवन करनेपर अभूतार्थ हैं।

सारांश यह है कि अपने अपने विषयकी दृष्टिसे सभी व्यवहार भूतार्थ है किन्तु शुद्ध चैतन्य स्वरूप जीवके अनुभवनकी दृष्टिसे सब अभूतार्थ है। अतः साधक अवस्थामें व्यवहार भी भूतार्थ और उपादेय है।

८ व्यवहार निश्चयका साधन है—

गाथा १२ की उत्थानिकामें श्री कानजीके स्वामीके प्रवचनोंमें भी लिखा है—'सम्यग्ज्ञान होते ही जीव पूर्ण निर्मल नहीं हो जाता। बीचमें विकल्प आते हैं। इसलिये पूर्ण निर्मलता प्रकट करनेकी भावना करना, स्थिरताकी वृद्धि करना इत्यादि जो व्यवहार-साधक भाव हैं वह पूर्ण होनेके पहले न रहे ऐसा नहीं होता। परमार्थको लक्ष्यमें लेना सो निश्चय और उस तक पहुँचनेकी अन्तरंगकी भावनारूप जो प्रयत्न सो व्यवहार है। (पृ० ३४० समयसार प्रवचन भा० १।)

अतः निश्चय और व्यवहारमें साध्य साधन भाव हैं। पञ्चास्तिकायकी टीकामे अमृतचन्द्र सूरीने भी इस बातको स्वीकार किया है। गाथा १६० में आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है कि धर्म आदिका श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन, अंगों और पूर्वोका ज्ञान तथा तपमें चेष्टारूप सम्यक् चारित्र यह व्यवहार मोक्ष मार्ग है।' इसकी टीकामें अमृत चन्द्रने कहा है—'निश्चय मोक्ष मार्गके साधन रूपसे यह पूर्वोद्दिष्ट व्यवहार मोक्ष मार्गका कथन है'। तथा आगे लिखा है—'स्व और पर कारण रूप पर्यायाश्रित तथा साध्य साधनके भेद भावको लियेहुए जो व्यवहारनय है, यह उस व्यवहारनयका आश्रय लेकर मोक्षमार्गका कथन है। जैसे स्वर्णपाषाण प्रदीप्त अग्निके संयोगसे शुद्ध स्वर्ण हो जाता है वैसे ही यह व्यवहार मोक्षमार्ग अन्तर्दृष्टिवाले जीवको ऊपर ऊपरकी परम रमणीक शुद्ध भूमिकाओंमें विश्रान्तिकी निष्पत्ति करता हुआ स्वयसिद्ध स्वभाव रूपसे परिणमन करते हुए निश्चय मोक्ष मार्गका साधन होता है।' गाथा १६१ की टीकामें कहा है कि व्यवहार मोक्ष मार्गके साध्यभावरूपसे निश्चय मोक्षमार्गका यह कथन है। इस गाथामें आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे समाहित तद्रूप हुआ जो आत्मा है, निश्चयनयसे वही मोक्षमार्ग है। न वह कुछ करता है और न अन्यका त्याग करता है।'

इसकी टीकामें श्री अमृतचन्द्र सूरीने लिखा है कि—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप आत्मा ही निश्चयसे मोक्षमार्ग है क्योंकि वह नियमसे जीवके स्वभावमे स्थिर चारित्र रूप है। यह जीव जिस किसी तरह अनादि-कालीन अज्ञानके हटनेपर व्यवहार मोक्ष मार्गको अपनाता है तब तत्वार्थका अश्रद्धान, अंगपूर्वगत अज्ञान और तपको न करने रूप प्रवृत्तिको त्यागकर तत्त्वार्थका श्रद्धान, अंगपूर्वका ज्ञान और तपमें चेष्टाको ग्रहण करता है। इस तरह अब तक जिसे ग्रहण किया था उसे छोड़ता है और जिसे छोड़ रखा था उसे ग्रहण करता है। और इस प्रकार भेद भावरूप व्यवहारको

अपनाता है। पश्चात् अपने अभिप्रायमें उसको दूर करनेका भाव रखकर जिस कालमें यह आत्मा विशिष्ट भावनाके सौष्ठव वश अपने स्वभावभूत सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके साथ अंगांगी भावरूप परिणतिके द्वारा तदात्मक होकर त्याग और उपादानके विकल्पसे शून्य होनेके कारण भेद-व्यवहारको समाप्त करके सुस्थिर होता है उस समय यही आत्मा जीव स्वभावमें नियत चारित्ररूप होनेसे निश्चयसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। अतः निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गमें साध्य साधन भाव पूरी तरहसे घटित होता है।'

सारांश यह है कि निश्चय साध्य है और व्यवहार उसका साधन है। साधनके बिना साध्यकी प्राप्ति नहीं होती। जैसे किसी ऊँचे महलकी छतपर सीढीके डंडों पर पैर रखे बिना नहीं पहुँचा जा सकता वैसे ही प्रारम्भमें व्यवहारका अवलम्बन लिये बिना निश्चयकी प्राप्ति संभव नही है। किन्तु व्यवहारके द्वारा निश्चयकी प्राप्ति तभी होगी जब निश्चयकी ओर लक्ष्य होगा। और जैसे मनुष्य सीढ़ी पर पैर इसलिये रखता है कि उसे छोड़ता हुआ आगे की ओर बढ़ता चला जाये। यदि कोई सीढीको ही पकड़कर बैठ जाये और उसके द्वारा महलपर चढनेकी बात भुला वैठे तो वह त्रिकालमे भी महलपर नही पहुँच सकता। उसी तरह यदि कोई निश्चय लक्ष्यको भुलाकर व्यवहारको ही साध्य मानकर उसीमे रम जाता है तो उसका व्यवहार निश्चयका साधक नही है। जो साधक निश्चयपर लक्ष्य रखकर उसीकी प्राप्तिके लिये तन्मय होता हुआ अन्यगति न होनेसे व्यवहारको अपनाता है वह उसे उपादेय समझकर नहीं अपनाता, हेय समझकर ही अपनाता है। ऐसा ही व्यवहार निश्चयका साधन होता है। ऐसा साधक ज्यों ज्यों निश्चयकी ओर बढता जाता है त्यों त्यों अशुद्ध परिणति रूप भेदमूलक व्यवहार छूटता जाता है और ज्यों ज्यों वह छूटता जाता है त्यों त्यों साधक निश्चयकी ओर बढ़ता जाता है। जो व्यवहारको अपनाकर उसीमें रम जाता है वह साधक ही नहीं है। सच्चे साधककी दृष्टिसे एक क्षणके लिये भी निश्चयका लक्ष्य ओझल नही होता। और वह व्यवहारको उसी तरह अपनाता है जैसे कोई पतिव्रता नारी अपने पतिके पास जानेके लिये किसी सदाचारी परपुरुषके साथ यात्रा करना स्वीकार करती है। उसका मन यात्रा करते हुए भी अपने पतिमें ही रहता है। वह सदा यही सोचती रहती है कब पर पुरुषका सङ्ग छूटे। वह उस संगको एक क्षणके लिये भी ग्राह्य नहीं मानती। किन्तु लाचार होकर ही उसे स्वीकार करना पडा है क्योंकि उसके बिना वह अपने पतिके पास नही पहुँच सकती थी। इसीसे अमृतचन्द्र सूरीने व्यवहारको

निश्चयका साधन बतलाकर भी पूर्वपदमें स्थित जनोंके भी व्यवहारके हस्ताव-लम्बन रूप होने पर खेद ही प्रकट किया है—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक् पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।

९ पुण्य-पाप और शुभोपयोग—

समयसारके पुण्य—पापाधिकारकी पहली ही गाथामें कुन्दकुन्दने कहा है—अशुभ कर्म कुशील और शुभकर्म सुशील हैं। किन्तु जो कर्म जीवको संसारमें प्रवेश कराता है वह सुशील कैसे है ?

आगे उन्होंने लिखा है—जैसे सोनेकी सांकल भी जीवको बाँधती है और लोहेकी साकंल भी जीवको बाँधती है इसी तरहसे शुभ और अशुभ कर्म भी जीवको बाँधते हैं। अतः कुशीलोंकी संगति मत करो, उनसे राग मत करो।

इस तरह यद्यपि पुण्यको सोनेकी सांकलकी और पापको लोहेकी सांकलकी उपमा देकर दोनोंके अन्तरको स्पष्ट कर दिया है। किन्तु चूँकि दोनों ही बन्ध स्वरूप होनेसे संसारके कारण हैं अतः दोनोंको ही त्याज्य बतलाया है। इसी तरह प्रवचनसारमें भी शुभोपयोगकी तथा उससे होने वाले पुण्य कर्मकी बुराई की है और उसे त्याज्य बतलाया है। यह वस्तुस्थिति है। किन्तु जिनकी दृष्टि लोहे और सोनेके भेदपर ही अटकी हुई है और जो उसके बन्धनरूप परिणामकी ओरसे बेखबर हैं उन्हें पुण्य पापको एक ही पलड़ेमें रखना नापसन्द है। उनकी दृष्टिमें सोना कीमती वस्तु है भले ही वह भी भार स्वरूप हो।

किन्तु जो दूरदर्शी है उन्हें पुण्य पापकी समता इसलिये पसन्द नहीं हैं कि दोनोंको समान जानकर जो लोग पुण्यमें लगे हुए हैं वे भी पुण्य करना छोड देंगे। किन्तु जगदुद्धारक आचार्योंने पुण्य पापको समान इसलिये नहीं बतलाया कि लोग पुण्य छोडकर पापमें लग जायें। जो ऐसा कर सक्ते हैं वे इस उपदेशके अपात्र हैं। यह उपदेश उनके लिये है जो पापको छोड़कर पुण्यमें लगे है। उनसे पापकी तरह पुण्यको भी छुड़वाकर उस स्थितिमें पहुँचा देना उनका लक्ष्य है जहाँ पुण्य और पापके बन्धनसे छुटकारा मिल सके। यही अध्यात्मका लक्ष्य है।

प्रवचनसारका प्रारम्भ करते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने उपयोगके तीन भेद किये है अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। गाथा ११,१२ में प्रत्येकका फल बतलाया है—'धर्म रूप परिणत हुआ आत्मा यदि शुद्धोपयोगसे युक्त

होता है तो मोक्ष सुखको पाता है और यदि शुभोपयोगसे युक्त होता है तो स्वर्ग सुख पाता है। किन्तु अशुभोपयोगसे युक्त आत्मा कुमनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी होता हुआ संसारमें परिभ्रमण करता है तथा अत्यन्त दुःख उठाता है।' इन फलोंसे तीनोंकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि शुद्धोपयोगीकी तरह शुभोपयोगवालेको भी धर्म परिणत आत्माके रूपमें स्वीकार किया है। और अमृतचन्द्रने भी 'यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते' लिखकर शुभोपयोगरूप परिणतिको भी धर्ममें ही सम्मिलित किया है, अशुभोपयोगकी तरह उसे अधर्म नहीं कहा। चूँकि अशुभोपयोगमें चारित्रका लेश भी नहीं है अतः उसे अत्यन्त हेय कहा है। किन्तु शुभोपयोगवालेको 'कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः' कहा है। अर्थात् उसका आचरण यद्यपि चारित्रकी सीमामें आता है किन्तु वह कथंचित् विरुद्ध कार्यकारी है।

आगे गाथा ६९ में बतलाया है—'जो देवता, यति और गुरुकी पूजामें, दानमें, शीलमें और उपवास वगैरह करनेमें अनुरागी है वह आत्मा शुभोपयोगी है। और उसका फल इन्द्रिय सुख है।' आगे इन्द्रिय सुखकी बुराई बतलाते हुए शुभोपयोग और अशुभोपयोगमें तथा उनके फल पुण्य और पापमें कोई अन्तर नहीं बतलाया है। और गाथा ७७ में तो यहाँ तक लिख दिया है कि जो 'पुण्य पापमें कोई भेद नहीं है' ऐसा नहीं मानता वह व्यक्ति मोहमें पड़कर इस भयानक अपार संसारमें भटकता रहता है।'

इसकी टीकामें अमृतचन्द्र सूरिने लिखा है कि—'उक्त प्रकारसे शुभोपयोग और अशुभोपयोगके युगलकी तरह तथा सुख और दुःखके युगलकी तरह यथार्थ में पुण्य और पापका युगल नहीं बनता; क्योंकि पुण्य और पाप दोनों ही आत्माके धर्म नहीं है। किन्तु जो सोने और लोहेकी बेडीकी तरह इन दोनोंमें भेद मानता है और पुण्य अहमिन्द्र आदि सम्पदाका कारण है ऐसा मानकर धर्मानुराग करता है, शुद्धोपयोग रूप शक्तिका तिरस्कार करनेवाला वह व्यक्ति चित्तके सरागी होनेके कारण संसारमें दुःख ही उठाता है।'

अमृतचन्द्राचार्य ने शुभोपयोग और अशुभोपयोगके भेदको तो स्वीकार किया किन्तु पुण्य और पापके भेदको स्वीकार नहीं किया; क्योंकि पुण्य पापमें भेद मानकर पुण्य संचयमें लगनेवाला व्यक्ति शुभोपयोगके यथार्थ उद्देश्यसे भटककर शुद्धोपयोगको अपनानेकी ओर नहीं बढता, और पुण्यको ही उपादेय मानकर शुभोपयोगमें ही रम जाता है। अशुभोपयोगकी तरह मुमुक्षुके लिये

ऐसा शुभोपयोग भी हेय है। अशुभोपयोगको छोड़कर शुभोपयोगमें लगना तभी कार्यकारी है जब लक्ष्यमें शुद्धोपयोग हो।

इसीलिये आगे गाथा ७९ में कहा है—जो पाप पूर्ण आरम्भको छोड़कर शुभ आचरणमें लगा है वह यदि राग द्वेष मोहको नहीं छोड़ता तो वह शुद्धात्माको प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है।

१० कुन्दकुन्दने ग्रन्थ रचना श्रमणोंको लक्ष्यमें रखकर की है—

कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके अभ्यासियोंको यह बात नहीं भुला देना चाहिये कि कुन्दकुन्द स्वामीने ग्रन्थ रचना मुख्य रूपसे श्रमणोंको लक्ष्यमें रखकर की है। इसका मतलब यह नहीं है कि श्रावकोंको उनके ग्रन्थ नहीं पढ़ने चाहियें। किन्तु पढ़ते समय इस दृष्टिकोणको यदि सामने रखा जाये तो बहुतसी भ्रान्तियाँ दूर हो सकती हैं। नीचे हम अपने कथनके समर्थनमें कुछ प्रमाण उपस्थित करते है।

प्रवचनसारका आरम्भ करते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने पाँचवी गाथामें कहा है कि 'उन अर्हन्त सिद्ध आदि पञ्च परमेष्ठियोंके विशुद्ध दर्शन और विशुद्धज्ञान जहाँ प्रधान हैं ऐसे आश्रमको पाकरके मैं साम्यभावको धारण करता हूँ जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है।'

इस कथनके द्वारा वह अपने व्याजसे पञ्चपरमेष्ठियोंके ज्ञान-दर्शनप्रधान आश्रममें रहने वाले श्रमणोंको साम्यभावरूप वीतराग चारित्रको धारण करनेकी प्रेरणा करते है और अन्त तक उसीको उपादेय बतलाते हैं जिससे वे उस आश्रमको पाकर भी शुभोपयोग रूप प्रवृत्तिमे ही न रम जायें। पाठक जानते हैं कि साम्यभावरूप वीतराग चारित्रकी प्राप्ति उन्हे ही होती है जो सावद्य-योगका त्याग कर देते हैं। उन्हींका मोह दूर करनेके लिये अशुभोपयोगकी तरह शुभोपयोगको भी छोड़नेकी प्रेरणा कुन्दकुन्द स्वामीने की है। इसीसे गाथा ७९ की उत्थानिकामें अमृतचन्द्राचार्यने लिखा है—'यदि सर्वसावद्ययोगका त्याग करके मैंने चारित्रको धारण भी किया फिर भी यदि शुभोपयोगके चक्करमें पड़कर मोह आदिका उन्मूलन न करूँ तो शुद्धात्माकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। ऐसा सोचकर पूरीतरह से सन्नद्ध हो जाता है।'

तथा उसी ७९ गाथाकी टीकामें कहा है—'जो समस्त सावद्ययोगके त्याग-रूप परमसामयिक चारित्रको धारण करके भी शुभोपयोग वृत्तिरूपी दुराचारिणी

स्त्रीके चक्करमें पड जाता है और मोहकी सेनाको नहीं जीतता, महा संकट उसके अति निकट है, वह निर्मल आत्माको कैसे प्राप्त कर सकता है ?

प्रवचनसारके ज्ञानाधिकारकी अन्तिम दो गाथाओंमें तो कुन्दकुन्दने श्रमणोंका स्पष्ट निर्देश करते हुए कहा है—'जो मुनि अवस्थामें उक्त पदार्थोंका श्रद्धान नहीं करता वह श्रमण नहीं है' और जो मोहकी दृष्टिका घात कर चुका है, आगममें कुशल है, विराग चरित्रके प्रति उद्यत है वह महात्मा श्रमण है और धर्म स्वरूप है ॥९१–९२॥

इन गाथाओंसे हमारे कथनकी पूर्णतया पुष्टि हो जाती है। अब प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारको लीजिए। उसमें प्रारम्भकी ३४ गाथाओंमें द्रव्य सामान्यका निरूपण है। ३४ वीं गाथामें उक्त कथन का उपसंहार करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—कर्ता, करण, कर्म और कर्मका फल ये चारों आत्म रूप ही है ऐसा निश्चय करनेवाला श्रमण यदि अन्यरूप परिणमन नही करता तो शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है।

इस उपसंहार गाथासे भी स्पष्ट है कि ज्ञेयाधिकारका कथन भी श्रमणको लक्ष्यमें रखकर किया गया है। आगे द्रव्यका विशेष कथन करके अन्तमें पुनः श्रमणका उल्लेख आता है कि वह किसका ध्यान करता है। तीसरे अधिकारमें तो श्रमण धर्मका ही वर्णन है। अतः प्रवचनसारका कथन श्रमणको लक्ष्यमें रखकर किया गया है। अब समयसारको लीजिये—

समयसारमें विषय प्रतिपादनका आरम्भ गाथा ६ से होता है। उसमें कहा है कि जो ज्ञायक भाव है वह न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है। प्रमत्त और अप्रमत्त भावके निषेधसे ही ज्ञायकभावका या शुद्ध आत्माका कथन क्यों किया गया। श्रमण अथवा मुनि प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती ही तो होते हैं। अतः जो श्रमण हैं अथवा श्रमण होनेके अभिलाषी है उन्हे यह बतलाना है कि प्रमत्त या अप्रमत्त दशा ज्ञायक भावसे भिन्न है, ज्ञायक भाव तो न प्रमत्त है और न अप्रमत्त। इस पहली गाथासे ही ग्रन्थकारकी दृष्टिकी अभिव्यक्ति हो जाती है।

वास्तवमें तो जिस भेद विज्ञानको सम्यक्त्व अथवा सम्यक्त्वका कारण बतलाया है अन्तसे आखिर तक समयसारमें उसीका कथन है। तब प्रश्न हो सकता है कि भेद विज्ञानके बिना तो सम्यक्त्व नहीं होता और सम्यक्त्वके बिना चारित्र नहीं होता। तब सम्यक्त्वी मुनियोंको लक्ष्य करके भेद विज्ञानका कथन करनेकी आवश्यकता क्या थी ? इसका उत्तर यह है कि आत्माके सिवाय

अन्य कोई पदार्थ मेरा नहीं है यह सामान्य भेद विज्ञान दृष्टिवाला सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। दूसरे शब्दोंमें जो आत्म दृष्टि है अर्थात् जिसकी दृष्टि आत्मा पर है वह सम्यग्दृष्टि है। किन्तु आत्मदृष्टि होकर भी अध्यवसानादि रूप भावों-को यदि अपना मानता है तो उसका सम्यक्त्व पूर्ण नहीं है। अतः सराग सम्यग्दृष्टिको वीतराग सम्यग्दृष्टि और सराग चारित्रमें स्थितको वीतराग चारित्रमें स्थित करनेके लिये ही यह सब प्रयत्न है। इसीलिये उसका प्रारम्भ 'णवि होदि अपमत्तो ण पमत्तो' से किया गया है।

कुन्दकुन्दके प्राभृतोंको ले लीजिये। सूत्र प्राभृत, लिंग प्राभृत, भाव-प्राभृत और मोक्ष प्राभृत मुनियोंकी ही शिक्षा और दीक्षासे ओत प्रोत है। चारित्र प्राभृत और बोध प्राभृतमें भी उनके ही चारित्र तथा प्रव्रज्याका विशेष कथन है। असलमें निवृत्ति प्रधान मोक्षमार्गावलम्बी जैन धर्ममें सदासे मुनि धर्मका ही महत्त्व रहा है। वही आदर्श मार्ग माना गया है। गृहस्थ धर्म तो अपवाद मार्ग है। उसकी उपयोगिता भी तभी मानी गई है जब वह मुनि-धर्म धारण करनेमें सहायक हो। इसीसे कुन्दकुन्द स्वामीने चारित्र प्राभृतमें गृहस्थ धर्मका वर्णन दो चार गाथाओंमें-कर दिया है।

अतः उनकी रचनाएँ प्राथमकल्पिकोंके लिये नहीं है। जिन्हे देव गुरु शास्त्रके स्वरूपका भान नही, सात तत्त्वोंसे जो अपरिचित हैं, गुणस्थान, मार्गणा स्थान और जीव स्थानोंका जिन्होंने कभी नाम भी नहीं सुना, कर्म-बन्धकी प्रक्रियासे जो अनजान है। नयोंका जिन्हें बोध नहीं है, ऐसे लोग भी यदि-समयसारके निश्चय और व्यवहार कथनमें उतरते है तो उससे स्वयं उनका ही अकल्याण है। यह तो संसार, शरीर और भोगोंसे अन्तःकरणसे विरक्त और पञ्चपरमेष्ठीको अनन्य शरण रूपसे भजनेवाले उन तात्त्विक पथके पाथिकोंके लिये है जिनको न व्यवहारका पक्ष है और न निश्चयका। क्योंकि समयसार पक्षातीत है ऐसा स्वयं कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है।

११ चारित्र—

आचार्य कुन्दकुन्दने 'दंसणमूलो धम्मो' लिखकर सम्यग्दर्शनको धर्मका मूल बतलाया है और 'चारित्तं खलु धम्मो' लिखकर चारित्रको धर्म बतलाया है।

उन्होंने अपने चरित्त पाहुडमें चारित्रके दो भेद किये हैं—एक सम्यक्त्व चरण चारित्र और एक संयमचरणचारित्र। मोक्षकी प्राप्तिके लिए निःशङ्कित आदि गुणोंसे युक्त विशुद्ध सम्यग्दर्शनका सम्यग्ज्ञान पूर्वक पालन करना सम्यक-

त्व चरण चारित्र है। यह सम्यक्त्व चरण चारित्र वात्सल्य, विनय, अनुकम्पा, दानवृत्ति, मोक्षमार्गके गुणोंकी प्रशंसा, उपगूहन, रक्षण, आर्जव आदि भावोंसे पहचाना जाता है (चा० प्रा० १०–११)।

इस सम्यक्त्वचरणचारित्र भेदको स्वरूपाचरण चारित्रका पूर्वरूप कहना उचित होगा। सम्यक्त्वचरण चारित्र ही स्वरूपाचरण चारित्रके रूपमें परिवर्तित हुआ जान पड़ता है। यही संयमचरणचारित्रका मूल है। संयमचरणचारित्र सागार और अनगारके भेदसे दो प्रकारका है। दार्शनिक आदि ग्यारह प्रतिमाएँ सागार चारित्रके भेद हैं। इससे ग्यारह प्रतिमाओंकी परम्परा बहुत प्राचीन सिद्ध होती है। कुन्दकुन्दाचार्यने उनका स्वरूप नहीं बतलाया। केवल पाँच अणुव्रतों तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंके नाम बतलाये हैं। श्रावकका मूल धर्म ये बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाएँ रही है। अणुव्रतोंके भेदोंमें तो कभी कोई अन्तर नहीं पड़ा। किन्तु गुणव्रत और शिक्षाव्रतके भेदोंमे अन्तर पाया जाता है। कुन्दकुन्दाचार्यने दिशा-विदिश प्रमाण, अनर्थदण्ड त्याग, और भोगोपभोग परिमाणको गुणव्रत कहा है तथा सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखनाको शिक्षाव्रत कहा है। तत्त्वार्थ, सूत्रमें दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डविरतिव्रतको गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसंविभागव्रतको शीलव्रत कहा है। तथा सल्लेखनाका पृथक्से ग्रहण किया है। रत्नकरंड श्रावकाचारमें गुणव्रत तो कुन्दकुन्दाचार्यके अनुसार बतलाये हैं किन्तु शिक्षाव्रतोंमें देशव्रत, सामायिक, प्रोषध और वैयावृत्यको रखा है। तथा सल्लेखनाका पृथक्से ग्रहण किया है। फिर भी रविषेणाचार्यके पद्मचरितमें तथा अन्य भी कुछ ग्रन्थोंमें कुन्दकुन्दाचार्यका ही अनुसरण किया गया है। इस तरह कुन्दकुन्दाचार्यने गृहस्थधर्मके मूलभूत व्रतोंके नाम मात्र गिनाये हैं।

अनगार अथवा मुनिधर्मके विषयमें ही उन्होंने विशेष कहा है। प्रवचन-सारका अन्तिम भाग मुनिधर्मसे ही सम्बद्ध है। उसमें उन्होंने दीक्षा लेनेकी विधिसे लेकर सभी आवश्यक बातोंका कथन कर दिया है। उसीमे मुनियोंके २८ मूलगुण बतलाये हैं। और साधुके योग्य उपधि आदिका भी कथन करते हुए उत्सर्ग और अपवादमें सामंजस्य बैठानेका भी उपदेश दिया है। कुन्दकुन्द स्वामीने अपने ग्रन्थोंमें जैन साधुके लिए जितना उपदेश दिया है उतना किसी अन्य ग्रन्थकारने नहीं दिया। उन्होंने उनकी आलोचना भी खूब कस कर की है और उसके द्वारा सच्चे जैन साधुका वास्तविक रूप कैसा होना चाहिये, यह उनके सामने रख दिया है।

प्रवचनसारके तीसरे चारित्राधिकार में श्रमणका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है – श्रमण शत्रु मित्रमे, सुख दुःखमें, प्रशंसा निन्दामें, लोष्ट कांचनमें और जीवन मरणमें समदृष्टि रखता है ॥४१॥ जो श्रमण आगमका ज्ञाता नहीं है उसे स्व-परका ज्ञात नहीं है और जिसे स्व-परका ज्ञान नहीं है वह कर्मोंका क्षय कैसे कर सकता है ॥३३॥ साधुकी आंख आगम है। जिसकी दृष्टि—श्रद्धान आगम मूलक नही है उसके संयम नहीं है और जिसके संयम नहीं है वह श्रमण कैसे है ? ॥३६॥ किन्तु समस्त आगमोंका ज्ञाता होते हुए भी जिसका शरीरादिमें अणु मात्र भी ममत्व है वह मुक्ति लाभ नहीं कर सकता ॥३६॥

इसी तरह सूत्र प्राभृत, भाव प्राभृत और मोक्ष प्राभृत आदि प्रायः सभी प्राभृत साधुसम्बन्धी शिक्षाओं और आलोचनाओंसे भरे हुए हैं। सूत्र प्राभृत में लिखा है—जिस मुनिका चरित उत्कृष्ट है, वह भी यदि स्वच्छन्द विहारी है तो पाप पङ्कमें गिर जाता है ॥ ६ ॥ जिन शासनमें वस्त्रधारी तीर्थङ्कर भी हो तो मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। एक नग्नता ही मोक्षका मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं ॥२४॥

किन्तु नंगा हो जानेसे ही श्रमण बन्दनीय नहीं होता। भाव प्राभृतमें लिखा है—'भाव रहित नग्नता व्यर्थ है। अतः भावसे नग्न होना चाहिये। जिन लिंगधारी बाहू मुनिने अभ्यन्तरके दोषसे दण्डक नगरको जला डाला। वह रौरव नरकमें गये ॥४६॥ दर्शन ज्ञान और आचरणसे भ्रष्ट द्वीपायन मुनि अनन्त संसार पथके पथिक बन गये ॥५०॥ जो इन्द्रिय सुखके लिये आकुल द्रव्य श्रमण होते हैं वे भव वृक्षको नहीं काट सकते। जो भावसे श्रमण होते हैं वे ही ध्यानरूपी कुठारसे भवरूपी वृक्षको छेदते हैं ॥१२०॥

कुन्दकुन्द स्वामीने श्रमणके दो भेद किये हैं—शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी। दर्शन ज्ञान आदिका उपदेश देना, शिष्योंका पोषण करना, जिन पूजाका उपदेश देना यह शुभोपयोगी मुनियोंकी प्रवृत्तियाँ हैं ॥४८॥ श्रमण संघका उपकार करना, आदर विनय करना, शुभोपयोगी श्रमणके लिए उचित है, किन्तु काय विराधना नहीं होनी चाहिये।

मुनिके शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी भेद करनेसे यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द स्वामीको वीतराग चारित्रकी तरह सराग चारित्र भी मान्य है तथा यह भी मान्य है कि शुभोपयोग पूर्वक शुद्धोपयोग होता है। शुभोपयोग व्यवहार है और शुद्धोपयोग निश्चय है। अतः व्यवहार पूर्वक निश्चय होता है यह स्पष्ट है। किन्तु वह शुभोपयोग निश्चयोन्मुख होना चाहिये। अस्तु,

समयसार और नियमसारमें कुन्दकुन्दाचार्यने षडावश्यकका कथन किया है वह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। साधारणतया आवश्यकका अर्थ यही समझा जाता है कि जिसका करना जरूरी हो उसे आवश्यक कहते हैं। किन्तु वास्तवमें आवश्यकका ऐसा अर्थ नहीं है।

जो मुनि अन्यके वशमें नही है उसे 'अवश' कहते हैं और अवशके कर्मको आवश्यक कहते है। अतः जो मुनि आत्मवश न होकर परवश है उसका कर्म आवश्यक नहीं है। जो पर भावको छोडकर निर्मल आत्माका ध्यान करता है वह आत्मवश है और उसका कर्म आवश्यक है [नि० सा० १४१-१४६]। जो आवश्यकसे भ्रष्ट है वह चारित्रसे भ्रष्ट है। वचनात्मक पाठरूप जो आलोचना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यानादि है वह तो स्वाध्याय है। निश्चय प्रतिक्रमणादि तो ध्यानरूप होते है। किन्तु शुभोपयोगी मुनि निश्चय प्रतिक्रमणादि करनेमें असमर्थ होता है अतः वह वचन रूप प्रतिक्रमणादि करते हुए भी श्रद्धामें उन्हें ही रखता है। अस्तु।

बोध प्राभृतके अन्तमें जिनदीक्षाका स्वरूप सतरह गाथाओंसे बताते हुए कहा है कि साधुको शून्य घरमें, वृक्षके नीचे, उद्यानमें, श्मशानमें, पर्वतकी गुफामें, पर्वतके शिखर पर, भयानक वनमें और वसतिकामें रहना चाहिये। उत्तम और मध्यम घरोंमें सर्वत्र आहार ग्रहण करना चाहिये और धनी और दरिद्रका भेद नहीं करना चाहिये। जहाँ पशु, स्त्री और नपुंसकोंका निवास हो वहां नहीं रहना चाहिये। तिल तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखना चाहिये। स्त्री, भोजन आदिकी कथा नहीं करनी चाहिये और सदा स्वाध्याय और ध्यानमें लगे रहना चाहिये।

असलमें श्रमण धर्मका एक मात्र लक्ष्य निर्वाणकी प्राप्ति है। और निर्वाणकी प्राप्ति शुद्धोपयोगके विना नहीं हो सकती। और शुद्धोपयोग आत्मभावके सिवाय पर भावमें रंचमात्र भी आत्मभावकी भावना रहते हुए नहीं हो सकता।

प्रवचनसारका आरम्भ करते हुए कुन्दकुन्दने चारित्रको ही धर्म कहा है। और धर्मको साम्यभाव रूप कहा है तथा मोह और क्षोभसे रहित आत्मपरिणामको साम्यभाव कहा है। अतः मोहको दूर करना श्रमणका प्रधान कर्तव्य है। इस तरह श्रमणके स्वरूप, और लक्ष्यका सुन्दर निरूपण किया है।

आत्मनिरूपण—

कुन्दकुन्द स्वामीने निश्चनयय और व्यवहार नयसे आत्माका जो वर्णन समयसारमें किया है वह अपूर्व है, आत्म स्वरूपका वैसा वर्णन अन्यत्र नहीं

पाया जाता। उन्होंने मोक्ष प्राभृतमें आत्माके तीन भेद किये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। और बहिरात्माको छोडकर अन्तरात्माके द्वारा परमात्माका ध्यान करनेका उपदेश दिया है। जो शरीरको ही आत्मा मानता है, इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त है और उन्हीमें ममत्व भाव रखता है वह बहिरात्मा है। और जो शरीरसे भिन्न तथा रागद्वेष और मोह जन्यभावोंसे अलिप्त आत्माको ही आत्मा मानता है वह भेद विज्ञानी अन्तरात्मा है। तथा कर्म कलंकसे मुक्त आत्मा परमात्मा है।

समयसारमें उन्होंने आत्माके यथार्थ स्वरूपका चित्रण करते हुए कहा है कि समयसारका बोध न होनेसे यह जीव कर्म और नोकर्ममें 'वह मैं हूं या वे मेरे हैं' ऐसी बुद्धि रखता है। और जब तक उसकी ऐसी बुद्धि रहती है, तब तक वह जीव अज्ञानी कहलाता हैं। अज्ञानी ऐसा मानता है कि शरीरादि मैं हूँ अथवा ये मेरे है और मैं इनका हूँ। परन्तु शरीरादि जड़ है और आत्मा चेतन है। वे दोनों एक कैसे हो सकते है। क्योंकि जीव तो उपयोग लक्षण वाला है और जड उपयोगसे रहित होता है।

इस प्रकार जीवको शरीरसे भिन्न बतलाने पर शिष्य पूछता है—भगवन्! यदि शरीर जीव नही है तो तीर्थंकरकी जो शरीरपरक स्तुतियां की जाती हैं कि आपका रूप बड़ा मनोहर है, आदि, वे सब मिथ्या हो जायेंगी। तब आचार्य उत्तर देते है कि व्यवहार नयसे जीव और शरीरका संयोग सम्बन्ध होनेसे जीव और शरीरमें कथंचित् एकत्व मान लिया जाता है और इसलिए व्यवहार नयसे शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति हो सकती है। किन्तु निश्चय नयसे तो शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न है इसलिए शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति नही हो सकती आत्माकी स्तुतिसे ही आत्माकी स्तुति होती है।

आगे अजीवाधिकारमें उन औपाधिक भावोंको भी अजीव बतलाया है जो संसारी जीवमें तो पाये जाते है किन्तु शुद्ध जीवमें नहीं पाये जाते है। लिखा है - आत्माके शुद्ध स्वरूपसे अनजान कोई व्यक्ति अध्यवसानको, कोई कर्मोंको कोई अध्यवसानोंमे तीव्र मन्द अनुभागको, कोई नोकर्मको, कोई कर्मोंके उदयको, कोई कर्मोके अनुभागको, और कोई जीव और कर्मोंको आत्मा मानते हैं किन्तु ऐसा माननेवाले परमार्थवादी नहीं है। ये सब भाव तो पुद्गल द्रव्यके परिणमनसे उत्पन्न होते हैं ऐसा केवली जिनने कहा है। उन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है (गा० ३९-४४)। ये अध्यवसानादि भाव जीव हैं ऐसा जो कथन शास्त्रमें पाया जाता है वह तो व्यवहार नयका कथन है। आत्मा तो

रस, रूप, गन्ध और स्पर्शसे रहित है। वह इन्द्रियोंके अगोचर है। उसका चेतना गुण है। (गा० ४६)। जीवके तो न वर्ण है, न रस है, न गंध है, न रूप है, न रस है, न संस्थान और संहनन है, न शरीर है, न राग द्वेष और मोह हैं न कर्म और नो कर्म है, न योगस्थान अनुभाग स्थान और उदय स्थान हैं, न जीव स्थान और गुण स्थान है, क्योंकि ये पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं। (गा० ५०–५५)। वर्णसे लेकर गुण स्थान पर्यन्त ये सभी भाव व्यवहार नयसे जीवके हैं, निश्चय नयसे नहीं। इनके साथ जीवका जल और दूधकी तरह एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध है किन्तु वे सब जीवके नहीं हैं क्योंकि जीवमें उन सबसे अधिक एक उपयोग नामका गुण है जो उन सबमें नहीं पाया जाता (गा० ५६–५७)। यदि उन सब भावोंको जीव माना जायेगा, जो कि जड हैं तो जीवमें और अजीवमें कोई भेद ही न रहेगा। (गा० ६२)

इसी तरह जो एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि, तथा बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त आदि भेद हैं ये सब नाम कर्मकी प्रकृतियां है। इन सबके योगसे जो जीव समास होते हैं वे सब जीव कैसे कहे जा सकते हैं (६५–६६)। इसी तरह मोहनीय कर्मके निमित्तसे जो गुणस्थान कहे गये है उन्हे भी जीव कैसे कहा जा सकता है। (६८)

सारांश यह कि जिनका जीवके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नही है, संयोग सम्बन्ध है उन सब भावोंसे भिन्न ज्ञान-दर्शन उपयोग वाला जीव है। इस तरहसे कुन्दकुन्दाचार्यने जीवके सम्बन्धमें फैले हुए मतिविभ्रमोंका निरास करके जीवके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन किया है। उसको जानकर ज्ञानी आत्माके अन्तःकरणमें यह दृढ़ प्रतीति हो जाती है कि 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूं, दर्शन ज्ञानमय सदा अरूपी हू। अन्य परमाणु मात्र भी मेरा कुछ नहीं है (गा० ३८)।' यही दृढ़ प्रतीति मोक्षका सोपान है। इसी पर आरूढ होनेसे आत्मा परमात्मा हो जाता है।

आत्मा और ज्ञानमे अभेद—

समयसारका आरम्भ करते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है कि—व्यवहार नयसे ज्ञानी (आत्मा) के चारित्र, दर्शन और ज्ञान कहे जाते है। किन्तु निश्चय नयसे न ज्ञान है न दर्शन है और न चारित्र है, ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक मात्र है। इस कथनका आशय यह है कि यद्यपि व्यवहार दृष्टिसे आत्मा और उसके ज्ञानादि गुणोंमें भेद किया जाता है किन्तु निश्चय दृष्टिसे तो जो ज्ञाता है वही आत्मा है। इसीसे उन्होंने प्रवचनसार (१, ३५) में कहा है

जो जानता है वही ज्ञान है, ज्ञानके योगसे आत्मा ज्ञाता नहीं है। आत्मा स्वयं ज्ञान रूप परिणमन करता है।

नैयायिक-वैशेषिक आदि दार्शनिक आत्माको व्यापक मानते हैं। कुन्द-कुन्दाचार्यने भी ज्ञानके द्वारा आत्माके व्यापकत्वको बतलाते हुए लिखा है—आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है। तथा लोक और अलोक सभी ज्ञेय है अत; ज्ञान सर्वगत है। और चूंकि आत्मा ज्ञान प्रमाण है अतः आत्मा भी सर्वगत है। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दने आत्मा और ज्ञानका अभेद बतलाते हुए आत्माके सर्वगतत्व तथा सर्वज्ञत्वको सिद्ध किया है।

स्वपर प्रकाशकता—

नियम सार (गा० १६०) में आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है कि केवलीके ज्ञान और दर्शन दोनों साथ रहते हैं जैसे सूर्यमें ताप और प्रकाश साथ साथ रहते हैं।

जैन सिद्धान्तके अभ्यासियोंको यह बात ज्ञात है कि वीरसेन स्वामीने धवला टीकामें, अन्तर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन और वहिर्मुख चित्प्रकाशको ज्ञान कहा है। दर्शन और ज्ञानका यह आगमिक स्वरूप अवश्य ही प्राचीन होना चाहिये। संभवतया उसीको लक्ष्यमें रखकर कुन्दकुन्दाचार्यने नियमसारमें नीचे लिखी चर्चा उठाई है।

शङ्का—केवली भगवान केवल लोकालोकको ही जानते है आत्माको नही जानते, यदि ऐसा कोई कहे तो क्या दोष है? (गा० १६६)।

समाधान—ज्ञान जीवका स्वरूप है इसलिये आत्मा आत्माको जानता है। यदि ज्ञान आत्माको नहीं जानता वह आत्मासे भिन्न ठहरेगा। अतः आत्माको ज्ञान जानो और ज्ञानको आत्मा जानो इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिये ज्ञान और दर्शन दोनों ही स्वपर प्रकाशक हैं॥ १७०-१७१॥

ज्ञान और दर्शनकी उक्त चर्चा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। स्वाध्याय प्रेमियोंसे यह बात अज्ञात नहीं है कि छद्मस्थ जीवोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है किन्तु केवलीके दर्शन और ज्ञान एक साथ होते हैं। श्वेताम्बर परम्परामें केवलीके भी ज्ञान और दर्शन क्रमसे माने गये है। किन्तु आचार्य सिद्धसेनने अपने सम्मति तर्क नामक ग्रन्थमें क्रमोपयोगवाद और अक्रमोपयोगवाद दोनोंका खण्डन किया है, और कहा है कि केवलीके दर्शन और ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। उन्होंने कहा है—जब दर्शनावरण और ज्ञानावरण कर्म एक साथ क्षय होते हैं तो दर्शन और ज्ञानमें कौन पहले और कौन पीछे होगा। अतः

दोनोंही एक साथ उत्पन्न होते हैं। और वास्तवमें दोनों एक दूसरेसे भिन्न नही है (सन्मति०, का० २, गा० ६)। इससे पहले इस प्रकरणको आरम्भ करते हुए सिद्धसेनाचार्यने लिखा है—'मनःपर्ययज्ञान तक ही दर्शन और ज्ञानमें अन्तर है। किन्तु केवल ज्ञान अवस्थामें दर्शन और ज्ञान समान है।' का०२, गा०३।

आचार्य कुन्दकुन्दने भी ज्ञान और दर्शन दोनोंको स्वपर प्रकाशक बतलाकर प्रकारान्तरसे वही बात कही है। किन्तु कुन्दकुन्दाचार्यने दोनोंको स्वपर प्रकाशक बतलाकर भी केवलीके दोनोंकी सत्ता स्वीकार की है। परन्तु तार्किक सिद्धसेनने तर्कके आधार पर दोनोंको एक ही सिद्ध किया है जो उचित प्रतीत होता है; क्योंकि जब दर्शन और ज्ञान दोनों ही स्वपर प्रकाशक हैं तो दोनोंमें केवल नाम मात्रका ही अन्तर रह जाता है। परन्तु दर्शनावरण कर्मके क्षयसे दर्शन प्रकट होता है और ज्ञानावरण कर्मका क्षय होनेपर ज्ञान प्रकट होता है अतः दोनों की सत्ता स्वीकार करनी पडती है।

सर्वज्ञताकी व्याख्या—

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने प्रवचनसारके प्रथम ज्ञानाधिकारमे शुद्धोपयोगका फल बतलाते हुए आत्माके सर्वज्ञ होनेकी चर्चा विस्तारसे की है। लिखा है—शुद्धोपयोगी आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्मरूपी रजको दूर करके स्वयं ही ज्ञेयभूत पदार्थोंके अन्तको प्राप्त करता है ॥ १५ ॥ अर्थात् सबको जान लेता है। आगेकी गाथामें उसे लब्धस्वभाव और 'सर्वज्ञ' कहा है। अर्थात् उसने अपने स्वभावको प्राप्त कर लिया है और वह सर्वज्ञ है। इसके दो मतलब निकलते हैं एक जो अपने स्वभावको प्राप्त कर लेता है वह सर्वज्ञ होता है दूसरा, सर्वज्ञता आत्मस्वभावरूप ही है। आत्मस्वभाव-से वह भिन्न नही है।

इसके पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्यने यह चर्चा उठाई है कि बिना इन्द्रियोंके भी ज्ञान और सुख होते है। उन्होंने लिखा है—चूँकि घातिकर्म नष्ट हो गये हैं अतः उसका तेज अर्थात् ज्ञान विकसित हो गया है और साथ ही अनन्तशक्ति भी प्रकट हो गई है अतः इन्द्रियातीत होकर वह स्वयं ज्ञान और सुखरूप परिणमन करता है ॥ १९ ॥

आगे लिखा है—'केवलज्ञानीके शारीरिक सुख दुःख नहीं होते क्योंकि अतीन्द्रियपना प्रकट हो चुका है ॥२०॥ इतनी भूमिकाके पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य ने सर्वज्ञताकी व्याख्या की है—आत्माके केवल ज्ञानरूप परिणमन करते ही सब द्रव्य और सब पर्याय प्रत्यक्ष हो जाती हैं अतः वह उन्हें अवग्रह ईहा

आदि के द्वारा नहीं जानता ॥२१॥ वह तो स्वयं ही सदाके लिये इन्द्रियातीत ज्ञानरूप हो गया है और इन्द्रियोंमें जो रूप रस आदिको जाननेकी विशेषता है वह विशेषता स्वय उसमें वर्तमान है, अतः किञ्चित् मात्र भी वस्तु उसके परोक्ष नहीं है ॥२२॥

इस तरह सर्वज्ञ केवल ज्ञानीको सब द्रव्य पर्यायोंका ज्ञाता बतलाकर आचार्य कुन्दकुन्दने, आगे उसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है, तथा ज्ञेय लोकालोक है अतः अपने ज्ञानरूपसे आत्मा लोकालोकव्यापी है। समयसारमें कुन्दकुन्दाचार्यने लिखा है कि लोग विष्णुको जगतका कर्ता मानते हैं। साथ ही यह भी मानते हैं कि यह ब्रह्माण्ड विष्णुके उदरमे समाया है। गीतामें आया है कि जब श्रीकृष्ण युद्धविरत अर्जुनको युद्धके लिये तैयार नहीं कर सके तो उन्होंने अर्जुनको अपना विराटरूप दिखलाया। उस विराटरूपमें सचराचर जगत विष्णुके उदरमें समाया हुआ अर्जुनने देखा। कुन्दकुन्द शायद विष्णुके उसी विराटरूपकी कल्पनाको सामने रखकर कहते हैं—'भगवान ऋषभदेव ज्ञानमय है और ज्ञानमय होनेसे सब लोकालोकमें व्याप्त है। अतएव जगतमें जितने पदार्थ हैं वे उनके ज्ञानके विषय होनेसे भगवान ऋषभदेवके अन्तर्गत कहे जाते हैं॥ २६ ॥ क्योंकि ज्ञान आत्मा है और जितना आत्मा है उतना ही ज्ञान है। अतः जितना ज्ञानका विस्तार है उतना ही आत्माका विस्तार है, क्योंकि न आत्माके बिना ज्ञान रह सकता है और न ज्ञानके बिना आत्मा रह सकता है।

इस तरह ज्ञानको ज्ञेयप्रमाण और ज्ञेयोंको ज्ञानगत बतलानेसे यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि शायद ज्ञान ज्ञेयोंके पास जाता है या ज्ञेय ज्ञानके पास आते हैं। इस भ्रमका निवारण करनेके लिए आचार्य कुन्दकुन्द कहते है—

ज्ञानी ज्ञानस्वभाव है और पदार्थ ज्ञेयस्वभाव हैं। जैसे चक्षु रूपको जानती है किन्तु न तो चक्षु रूपके पास जाती है और रूप चक्षुके पास जाता है वैसे ही न तो ज्ञान ज्ञेयके पास जाता है और न ज्ञेय ज्ञान के पास जाता है। ज्ञेय अपने स्थान पर रहते हुए ज्ञेयरूप परिणमन करता रहता है और ज्ञान ज्ञानरूप परिणत होता है। इस तरह ज्ञान अशेष अतीन्द्रिय जगतको जानता रहता है। जैसे दूधके मध्यमें रखा हुआ नीलम अपनी किरणोंसे उस दूधको नीला बना देता है वैसे ही ज्ञान ज्ञेय पदार्थोंमे रहता है ॥३०॥

आगे लिखा है—द्रव्योंकी अतीत और अनागत पर्यायें भी केवल ज्ञानमें वर्तमानकी तरह प्रतिभासित होती है ॥ ३७ ॥ यदि केवल ज्ञान

अतीत और अनागत पर्यायोंको नहीं जानता तो कौन उसे दिव्यज्ञान कहेगा ॥३९॥ जो ज्ञान अप्रदेशी सप्रदेशीको, मूर्त अमूर्तको, अर्तात और अनागत पर्यायोंको जानता है, उस ज्ञानको अतीन्द्रिय कहा है ॥ ४१ ॥ जो ज्ञान पूरी तरहसे वर्तमान, अतीत, अनागत, विचित्र विषम सब पदार्थोंको एक साथ जानता है उस ज्ञानको क्षायिक कहा है ॥ ४७ ॥ जो तीनों लोकोंमे स्थित त्रिकालवर्ती पदार्थोंको एक साथ नही जानता, वह पर्यायसहित एक द्रव्यको नहीं जान सकता ॥४८॥ और जो अनन्त पर्यायसहित एक द्रव्यको नहीं जानता वह समस्त अनन्त द्रव्योंको कैसे जान सकता है ॥४९॥ जिनेन्द्रदेवका ज्ञान त्रिकालवर्ती सर्वत्र विद्यमान विषम और विचित्र पदार्थोंको एकसाथ जानता है, ज्ञानका यह माहात्म्य आश्चर्यजनक है ॥५१॥

क्षायिक अतीन्द्रिय केवलज्ञानकी उक्त व्याख्यासे यह स्पष्ट है कि केवलज्ञान सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है—वर्तमानकी तरह ही वह अतीत और अनागत पर्यायोंको भी जानता है। एक द्रव्यमे जितनी अतीत अनागत और वर्तमान अर्थपर्याय तथा व्यञ्जनपर्याय होती है वह सब मिलकर एक द्रव्य होता है। अतः उन सबको जाने बिना एक द्रव्यका पूरा ज्ञान नहीं होता। पूर्ण ज्ञाता वही है जो उन सबको जानता है। तथा सत्का सर्वथा विनाश नहीं होता और असत्की उत्पत्ति नही होती, यह वस्तु नियम है। अत द्रव्यदृष्टिसे अतीत और अनागत पर्यायें भी सत् हैं और जो सत् है वह सब ज्ञेय है अतः पूर्णदर्शीके ज्ञानका विषय है।

सभी जैन शास्त्रोंमें केवलज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञकी यही व्याख्या पाई जाती है। षट् खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत प्रकृति अनुयोगद्वारमे कहा है—

'सइं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववाद बंधं मोक्खं इड्ढि ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कद पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्म सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति ॥८२॥

अर्थ—स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञानदर्शनसे युक्त भगवान देवलोक असुरलोक और मनुष्यलोककी आगति (अन्य गतिसे इच्छित गतिमें आना), गति (इच्छित गतिसे अन्यगतिमें जाना), चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति (आयु) युति (संयोग), अनुभाग, तर्क, कला, मन, मानसिक (विचार) भुक्त (राज्य और महाव्रतादिका पालन करना), कृत, प्रतिसेवित

आदिकर्म (अर्थपर्याय और व्यञ्जनरूपसे सब द्रव्योंकी आदिको), अरहःकर्म (शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके विषय रूपसे सब द्रव्योंकी अनादिता), सब लोकों, सब जीवों और सब भावोंको सम्यक् प्रकारसे एक साथ जानते देखते हुए विहार करते हैं।

इस सिद्धान्तसूत्रसे भी उक्त कथनका ही समर्थन और स्पष्टीकरण होता है। अतः यह स्पष्ट है सर्वज्ञ क्या जानता है? इसका यथार्थ उत्तर है 'सर्वज्ञ क्या नही जानता। उक्त व्याख्याके अनुसार सर्वज्ञ शब्दका व्यवहार केवल औपचारिक नही है किन्तु यथार्थ है।

आत्मज्ञ ही सर्वज्ञ है—

नियमसार (गा० १५६) में कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है कि निश्चयनयसे केवली आत्माको जानता देखता है और व्यवहारनयसे सबको जानता है। यह पहले बतला आये हैं कि निश्चयनय शुद्ध द्रव्यका प्ररूपक है और अध्यात्म में आत्मद्रव्यकी ही प्रधानता है अतः यथार्थमें केवली आत्मदर्शी ही होता है। किन्तु उसके आत्मदर्शित्वका विश्लेषण सर्वदर्शित्व ही है क्योंकि जो सबको नहीं जानता है वह एक आत्माको भी नहीं जानता और जो एक आत्माको जानता है वही सबको जानता है। अस्तु,

इस तरह कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने ग्रन्थोंमें जिन विशेष मन्तव्योंकी चर्चा की है, उनका यहाँ संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया है। उनके ये मन्तव्य जैन सिद्धान्त और जैनदर्शनके आधारभूत हैं। अतः विशेष रूपसे मननीय और चिन्तनीय है। उनको हृदयंगत किये विना जैनाचार और विचारको सम्यक्रूपसे नहीं समझा जा सकता।

विषय-सूची

११ भक्ति अधिकार पृ० १५४-१७६

१२ मोक्ष अधिकार पृ० १७६-१६२

समय प्राभृत पृ० १९३ से २६६ तक

श्री कुन्दकुन्द प्राभृतसंग्रह

१. सम्यग्दर्शन अधिकार

काऊण णमोयार जिणवर [1]उसहस्स वड्ढमाणस्स ।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण ॥ [द० प्रा० १]

जिनवर श्रेष्ठ भगवान वर्धमानको अथवा प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान स्वामीको नमस्कार करके क्रमानुसार संक्षेपसे सम्यग्दर्शनका स्वरूप कहूँगा ।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

छद्दव्व णव पयत्था पञ्चत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूव सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ [द० प्रा० १९]

छै द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व जिनवर भगवानने कहे हैं । जो उनके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टी जानना चाहिये ।

जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्त ॥ [द०प्रा० २०]

जिनवर भगवानने जीव आदि पदार्थोंके श्रद्धानको व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन कहा है । किन्तु निश्चयनयसे आत्मा ही सम्यग्दर्शन है ।

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पाव च ।
आसव संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ [समय० १३]

भूतार्थ अर्थात् निश्चयनयसे जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्षको सम्यग्दर्शन कहते हैं । अर्थात् इन जीवादि नौ तत्त्वोंको निश्चयनयसे जानना ही सम्यग्दर्शन है ।

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारह दोस वज्जिए देवे ।
निग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ [मो०प्रा० ९०]

---

[1] वसहस्स ऊ ।

हिंसा रहित धर्ममें, अट्ठारह दोषोंसे रहित देवमें और निर्ग्रन्थ प्रवचनमें श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो॥ [नि० सा० ५]

आप्त, आगम और तत्वोंके श्रद्धानसे सम्यग्दर्शन होता है। तथा समस्त दोषोंसे रहित और समस्त गुणमय आप्त होता है।

अट्ठारह दोष

छुह-तण्ह-भीरु-रोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
सेदं खेद मदो रइ विण्हिय णिद्दा जणुव्वेगो॥ [नि० सा० ६]

भूख, प्यास, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म और उद्वेग, ये अठारह दोष हैं।

आप्त का स्वरूप

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइ-परमविभवजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा॥ [नि० सा० ७]

जो समस्त दोषोंसे रहित है और केवलज्ञान आदि परम ऐश्वर्यसे सहित है उसे ही परमात्मा (आप्त) कहते हैं। इससे जो विपरीत है वह परमात्मा नहीं है।

आगम का स्वरूप

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था॥ [नि०सा० ८]

उस परमात्माके मुखसे निकले हुए वचन, पूर्वापर दोषसे रहित और शुद्ध होते हैं। उसीको आगम कहते है। और उस आगमके द्वारा कहे हुए पदार्थोंको तत्त्वार्थ कहते हैं।

आगम का महत्त्व

जिणवयण ओसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमियभूयं।
जर-मरण-वाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं॥ [द० प्रा० १७]

यह जिन भगवानका वचन विषय सुखका विरेचन करनेवाली औषधि

है। तथा बुढ़ापा, मृत्यु आदि रोगोको हरने और सब दुःखोंका नाश करनेके लिए अमृतके समान है।

सम्यग्दर्शन के दोष

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससंकाई।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥ [चा० प्रा० ६]

इस प्रकार जानकर, मिथ्यात्वके उदयसे होनेवाले शंका आदि सब दोषोंको, मन वचन कायसे दूर करो; क्योकि जिन भगवानने उन्हे सम्यक्त्वके मल कहा है।

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरण वच्छल्ल पहावणा अट्ठ ॥ [चा० प्रा० ७]

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये सम्यग्दर्शनके आठ अङ्ग हैं, जो शंका आदि दोषोंके दूर होनेसे प्रकट होते है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमे निमित्त

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्त तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेयो भणिदा दसणमोहस्स खयपहुदी ॥ [नि० ५३]

जिन भगवानके द्वारा प्रतिपादित आगम और उसके ज्ञाता पुरुष सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे वाह्य निमित्त है और दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम और उपशम अन्तरंग कारण है।

सम्यग्दर्शनका माहात्म्य

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता ण।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥ [द० प्रा० ५]

सम्यग्दर्शनसे रहित मनुष्य भले प्रकारसे कठोर तपश्चरण भी करें तौ भी हजार करोड़ वर्षों मे भी उन्हे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती।

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हिय[१]यम्मि पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स ॥ [द० प्रा० ७]

---

१. हियएण ऊ।

जिसके हृदयमें सदा सम्यक्त्वरूपी जलका प्रवाह बहता रहता है उसका पूर्वमें बाँधा हुआ भी कर्मरूपी रेतका आवरण नष्ट हो जाता है।

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥ [द० प्रा० १०]

जैसे जड़के नष्ट हो जानेपर वृक्षके शाखा पत्र पुष्प आदि परिवारकी वृद्धि नहीं होती; वैसे ही जो जिनमतके श्रद्धानसे भ्रष्ट हैं उनका मूलधर्म ही नष्ट हो गया है। उन्हें मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

जह मूलाओ खंधो साहा परिवार बहुगुणो होइ।
तह जिणदंसणमूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥ [द० प्रा० ११]

जैसे वृक्षकी जड़से शाखा पत्र पुष्प आदि परिवारवाला तथा बहुगुणी स्कन्ध (तना) उत्पन्न होता है वैसे ही जिनधर्मके श्रद्धानको मोक्षमार्गका मूल कहा है।

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ [द० प्रा० ४]

जो सम्यग्दर्शन रूपी रत्नसे रहित हैं वे अनेक प्रकारके शास्त्रोंको जानते हुए भी चार प्रकारकी आराधनासे रहित होनेके कारण नरकादि गतियोंमें ही भ्रमण करते रहते हैं।

सम्म विणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणुक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं ॥ [र०सा० ४७]

सम्यग्दर्शनके विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियमसे नहीं होते। इसलिए रत्नत्रयके बीचमें सम्यक्त्व गुण ही उत्कृष्ट है ऐसा जिनवर भगवानने कहा है।

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं ॥ [मो०प्रा० ३९]

जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है वही शुद्ध है। सम्यग्दर्शनसे शुद्ध मनुष्य ही मोक्षको प्राप्त करता है। और जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे रहित है उसे इच्छित वस्तुका लाभ नहीं होता।

दंसणभट्ठा भट्टा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥ [द०प्रा० ३]

जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे ही भ्रष्ट हैं। सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट मनुष्यका निर्वाण नहीं होता। जो चरित्रसे भ्रष्ट हो जाते है वे मोक्ष चले जाते हैं। किन्तु जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है उन्हे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

जीवविमुक्को सवग्रो दंसणमुक्को य होइ चलसवग्रो।
सवग्रो लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवग्रो॥ [भा०प्रा० १४१]

लोकमे जीव रहित शरीरको मुर्दा कहते हैं। किन्तु जो सम्यदर्शनसे रहित है वह चलता फिरता मुर्दा है। मुर्दा लोकमे अपूज्य माना जाता है और चलता फिरता मुर्दा लोकोत्तर पुरुषोंमे अथवा परलोकमे अपूज्य माना जाता है (क्योंकि उसे नीच गति मे जन्म लेना पड़ता है)।

जह तारयाण चदो मयराग्रो मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माण॥ [भा०प्रा०१४२]

जैसे ताराओंमे चन्द्रमा प्रधान है और समस्त मृग कुलोंमे मृगराज सिह प्रधान है। वैसे ही मुनि और श्रावक सम्बन्धी दोनो प्रकारके धर्मों मे सम्यग्दर्शन ही प्रधान है।

जह फणिराओ रेहइ[1] फणमणिमाणिक्किरणविप्फुरिय[2]।
तह विमलदंसणधरो जिण[3]भतिपरायणो जीवो॥ [भा० प्रा० १४३]

जैसे नागराज फणकी मणिओंके वीचमे स्थित माणिक्यकी किरणोसे शोभायमान होता है। वैसे ही निर्मल सम्यग्दर्शनका धारी जिनेन्द्र भक्त जीव जैन आगममे शोभित होता है।

जह तारायणसहिय ससहरविंबं खमंडले विमले।
भाइ य[4] तह वयविमल जिणलिंग दंसणविसुद्ध॥ [भा०प्रा०१४४]

जैसे निर्मल आकाशमण्डलमे तारागणसे सहित चन्द्रमाका विम्ब शोभित होता है वैसे ही व्रतोसे निर्मल तथा सम्यग्दर्शनसे शुद्ध जिन लिंग (निर्ग्रन्थ मुनिवेश) शोभित होता है।

उपसंहार

इय णाउ गुणदोस दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स॥ [भा०प्रा० १४५]

---

१. सोहइ ग। २. परिफुडिय ग, ऊ। ३. भत्ति पवयणो आ० ग। ४. भावियतवयविमल ग।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके गुण और मिथ्यात्वके दोष जानकर सम्यग्दर्शन रूपी रत्नको भावपूर्वक धारण करो। यह समस्त गुणरूपी रत्नोंमे सारभूत है और मोक्ष रूपी महलकी पहली सीढ़ी है।

---

२. ज्ञान अधिकार

उपयोगके भेद

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विहावणाणं ति॥[नि० सा० १०]

जीव उपयोगमय है और उपयोग ज्ञान और दर्शनरूप है। अर्थात् उपयोगके दो भेद है एक ज्ञानोपयोग और एक दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग-के दो भेद हैं स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान।

स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति।
सण्णाणिदर वियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं॥[नि० सा० ११]

सण्णाण चउभेयं मदि सुद-ओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाण तिवियप्पं मदियाइभेददो चेव॥ [नि०सा० ११-१२]

इन्द्रिय आदि परद्रव्योंकी सहायताके विना होनेवाला जो अतीन्द्रिय केवल ज्ञान है वह स्वभावज्ञान है। विभावज्ञानके दो भेद हैं—एक सम्यक् ज्ञान और एक मिथ्याज्ञान। सम्यक् ज्ञानके चार भेद है—मति, श्रुत अवधि और मनःपर्यय ज्ञान। तथा मिथ्याज्ञानके तीन भेद हैं—कुमतिज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और कुअवधि ज्ञान।

दर्शनोपयोगके भेद

तह दंसण उवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं॥ [नि०सा० १३]

ज्ञानोपयोगकी तरह दर्शनोपयोगके भी दो भेद हैं—एक स्वभाव दर्शनोपयोग और एक विभाव दर्शनोपयोग। इन्द्रियोंकी सहायताके विना होनेवाला जो असहाय केवल दर्शन है उसे स्वभाव दर्शनोपयोग कहा है।

चक्खु अचक्खु ओही तिण्णि वि भणिदं विभावदिच्छित्ति।
[नि० सा० १४]

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन इन तीनोंको विभाव दर्शनोपयोग कहा है।

आत्मा के सब पदार्थ प्रत्यक्ष हैं—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं॥ [प्रव० १, २१]

जब यह आत्मा केवलज्ञानरूप परिणमन करता है तो सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायें उसके प्रत्यक्ष होती हैं। वह उन द्रव्य और पर्यायोंको अवग्रह ईहा आदिके क्रमसे नहीं जानता।

आत्मा के कुछ भी परोक्ष नहीं है—

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स॥ [प्रव० १, २२]

अपने सब प्रदेशोंमें समस्त इन्द्रियोंके गुणोंसे परिपूर्ण तथा इन्द्रिय व्यापारसे रहित और सर्वदा स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमन करने वाले उस आत्माके कुछ भी परोक्ष नहीं है। अर्थात् आवरणकी दशामें यह आत्मा एक एक इन्द्रियके द्वारा स्पर्श रस आदि एक एक गुणको जानता है। किन्तु जाननेवाला तो आत्मा ही है उसीमें सबको जानने की शक्ति है। अतः जब वह ज्ञानावरण आदि आवरणोंको नष्ट करके स्वयं ही ज्ञानरूप हो जाता है तो उसके लिये कुछ भी परोक्ष नहीं रहता, वह सबको प्रत्यक्ष जानता है।

आगे आत्माको ज्ञान प्रमाण और ज्ञानको सर्वव्यापक बतलाते हैं—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्टं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥ [प्रव० १, २३]

आत्माको ज्ञानके बराबर और ज्ञानको ज्ञेय पदार्थोंके बराबर

कहा है। तथा समस्त लोक और अलोक ज्ञेय (ज्ञानका विषय) है। अतः ज्ञान सर्वव्यापक है।

आत्मा को ज्ञानप्रमाण न मानने में दोष—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥
[प्रव० १, २४-२५]

जो आत्माको ज्ञानके बराबर नहीं मानता, उसके मतानुसार आत्मा निश्चय ही या तो ज्ञानसे छोटा है या वड़ा है। यदि आत्मा ज्ञानसे छोटा है तो वह ज्ञान अचेतन होनेसे कुछ भी नहीं जान सकेगा। और यदि आत्मा ज्ञानसे वड़ा है तो ज्ञानके बिना आत्मा पदार्थोंको कैसे जानेगा।

ज्ञान की तरह आत्मा भी सर्वगत है—

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणा विसयादो तस्स ते भणिदा ॥ [प्रव० १, २६]

ज्ञानमय होनेसे जिनश्रेष्ठ सर्वज्ञदेव सर्वव्यापी है। तथा उनके विषय होनेसे जगतके सभी पदार्थ उनमें वर्तमान हैं। अर्थात् सब पदार्थोंको जाननेसे ज्ञानको सर्वगत कहा है। और भगवान ज्ञानमय हैं इसलिये भगवान भी सर्वगत हैं।

आत्मा और ज्ञान में भेद-अभेद—

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥ [प्रव० १, २७]

ज्ञान आत्मा है अर्थात् ज्ञान और आत्मामें भेद नहीं है ऐसा माना गया है. क्योंकि ज्ञान आत्माको छोड़कर नहीं रहता। अतः ज्ञान आत्मा ही है। किन्तु आत्मा (अनन्तधर्मवाला होनेसे) ज्ञान गुण रूप भी है और अन्य सुखादिगुण रूप भी है।

आगे कहते हैं कि ज्ञान पदार्थों को कैसे जानता है—

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥ [प्रव० १, २८]

ज्ञानी आत्मा ज्ञानस्वभाव वाला है और पदार्थ उस ज्ञानीके ज्ञेय-स्वरूप (जानने योग्य) हैं। अतः जैसे चक्षु रूपी पदार्थोंके पास नहीं जाती और वे पदार्थ भी चक्षुके पास नही जाते। इसी प्रकार आत्मा भी न तो उन पदार्थोंके पास जाता है और न वे पदार्थ ही आत्माके निकट आते हैं।

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥ [प्रव० १, २९]

जैसे चक्षु यद्यपि निश्चयसे रूपी पदार्थोंको छूता नहीं है फिर भी व्यवहारमें ऐसा भी प्रतीत नहीं होता कि चक्षु रूपी पदार्थोंको नहीं छूता। उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा निश्चयनयसे ज्ञेय पदार्थोंमें प्रवेश नहीं करता हुआ भी व्यवहारनयसे अप्रवेश नहीं करता हुआ, इन्द्रियों-की सहायताके बिना समस्त जगतको सन्देह रहित जानता और देखता है।

व्यवहार से ज्ञान पदार्थों में कैसे रहता है, दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

रयणमिह इंदणील दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥ [प्रव० १, ३०]

जैसे दूधमें रखी हुई इन्द्रनील मणि अपनी प्रभासे उस दूधको अपना सा नीला करके वर्तमान रहती है। उसी प्रकार ज्ञान पदार्थोंमें रहता है।

आगे कहते हैं कि पदार्थ ज्ञान में रहते हैं—

जदि ते ण सति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं कह ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥ [प्रव० १, ३१]

यदि वे ज्ञेय पदार्थ ज्ञानमें न हों तो ज्ञान सर्वव्यापक नहीं हो सकता। और यदि ज्ञान सर्वव्यापक है तो पदार्थ ज्ञानमें स्थित क्यों नहीं हैं। सारांश यह कि व्यवहारसे ज्ञान और पदार्थ दोनों ही एक दूसरे में मौजूद हैं।

केवल ज्ञानी केवल जानता ही है—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥ [प्रव० १, ३२]

केवली भगवान् परपदार्थोंको न तो ग्रहण करते हैं और न छोड़ते हैं, और न उनरूप परिणमन ही करते हैं। वे तो सब पदार्थोंको पूरी तरह से जानते और देखते हैं।

श्रुत केवली का स्वरूप

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥ [प्रव० १, ३३]

जो श्रुतज्ञानरूप अपने सहज स्वभावसे ज्ञायकस्वरूप आत्माको जानता है, उसे समस्त लोकको प्रकाशित करने वाले ऋषिगण श्रुत-केवली कहते हैं।

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहि वयणेहिं।
त जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥ [प्रव०१,३४]

पुद्गलद्रव्यस्वरूप वचनोंके द्वारा जो जिन भगवानके द्वारा उपदेश किया हुआ है उसे सूत्र अथवा द्रव्य श्रुत कहते हैं। और उसके जानने-को श्रुतज्ञान कहते हैं। तथा व्यवहारसे उस सूत्ररूप द्रव्य श्रुतको भी श्रुतज्ञान कहा है। [आशय यह है कि एक केवली होते हैं और एक श्रुत-केवली होते है। केवलीके द्वारा उपदिष्ट और गणधरके द्वारा ग्रथित सूत्रोंको उपचारसे श्रुत कहते हैं और उसके ज्ञानको श्रुत ज्ञान कहते हैं। सम्पूर्ण द्वादशांग रूप श्रुतके ज्ञाताको श्रुतकेवली कहते हैं। श्रुत-केवली श्रुतके द्वारा आत्माको जानता है। और केवली परकी सहायता-के बिना स्व-परको जानता है]

आत्मा और ज्ञान में भेद नहीं है—

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥ [प्रव० १,३५]

जो जानता है वही ज्ञान है। ज्ञान गुणके सम्बन्धसे आत्मा ज्ञायक नहीं होता। किन्तु आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणमन करता है और सब ज्ञेय पदार्थ ज्ञानमे स्थित हैं।

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिधा समक्खाद।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥ [प्रव० १,३६]

इसलिये आत्मा ही ज्ञान है और भूत भविष्यत् वर्तमानके भेदसे

अथवा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यके भेदसे या द्रव्य गुण पर्यायके भेदसे तीन रूप कहा जाने वाला द्रव्य ज्ञेय है—ज्ञानका विषय है। तथा वह ज्ञेयद्रव्य आत्मद्रव्यरूप भी है और अन्य द्रव्यरूप भी है और परिणामी है। [आशय यह है कि ज्ञेयके दो प्रकार हैं एक स्व और एक पर। उनमेंसे पर तो केवल ज्ञेय ही है। किन्तु 'स्व' ज्ञेय रूप भी है और ज्ञानरूप भी है; क्योंकि आत्मा दीपककी तरह स्वपर प्रकाशक है, स्वयं अपनेको भी जानता है और अन्य पदार्थोंको भी जानता है। ये दोनों ही परिणामी हैं। आत्मा ज्ञानरूप परिणमन करता है और पदार्थ ज्ञेयरूप परिणमन करते हैं]।

अतीत अनागत पर्यायें भी ज्ञानमें प्रतिभासित होती हैं—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥ [प्रव० १,३७]

उन जीवादि द्रव्योकी वे समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्याये वर्तमान पर्यायोंकी तरह ज्ञानमें पृथक् पृथक् वर्तमान रहती हैं।

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥ [प्रव० १,३८]

जो पर्याय उत्पन्न ही नही हुई है तथा जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं उन सब पर्यायोको असद्भूत कहते हैं। वे पर्याय भी केवलज्ञानमें प्रत्यक्ष है।

जदि पच्चक्खमजायं पज्जाय पलइयं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥ [प्रव० १,३९]

यदि अनागत और अतीत पर्याय केवलज्ञानके प्रत्यक्ष नही होती तो उस ज्ञानको दिव्य कौन कहता।

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥ [प्रव० १-४०]

जो अल्पज्ञानी इन्द्रियगोचर पदार्थोंको ईहा आदि ज्ञानपूर्वक जानते हैं उनके लिये अतीत अनागत आदि परोक्षभूत पर्यायोको जानना शक्य नहीं है, ऐसा कहा है।

क्षायिक अतीन्द्रिय ज्ञानकी महिमा

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं ।
पलय गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥ [प्रव० १, ४१]

जो ज्ञान प्रदेशरहित परमाणु वगैरहको, प्रदेशसहित जीवादि द्रव्योंको, मूर्त और अमूर्त पदार्थोंको, तथा उनकी आगे होने वाली और नष्ट हुई पर्यायोंको जानता है उस ज्ञानको अतीन्द्रिय कहा है।

जं तक्कालियमिदर जाणदि जुगवं समंतदो सव्व ।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥ [प्रव० १, ४७]

जो ज्ञान वर्तमान भूत और भावि तथा अनेक प्रकारके मूर्त अमूर्त, चेतन अचेतन आदि समस्त पदार्थोंको पूरी तरहसे एक साथ जानता है, उस ज्ञानको क्षायिक (कर्मोंके क्षयसे प्रकट होनेवाला) कहा है।

जो सबको नहीं जानता वह एक को भी नहीं जानता—

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ [प्रव० १, ४८]

जो तीनों लोकोंमें स्थित त्रिकालवर्ती पदार्थोंको एक साथ नहीं जानता वह अनन्त पर्याय सहित एक द्रव्यको भी जाननेमे असमर्थ है। अर्थात जो सब ज्ञेय पदार्थोंको नहीं जानता वह आत्माको नहीं जानता।

जो एक को नहीं जानता वह सबको नहीं जानता—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादीणि ।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥ [प्रव० १, ४९]

जो अनन्त पर्याय सहित एक आत्मद्रव्यको नहीं जानता, वह समस्त अनन्त द्रव्योंको एक साथ कैसे जान सकता है। अर्थात् जो आत्माको नहीं जानता वह सबको नही जानता।

क्रमसे जानने वाला ज्ञान सबको नहीं जान सकता—

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स ।
त णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥ [प्रव० १, ५०]

यदि ज्ञानीका ज्ञान क्रमसे पदार्थोंका अवलम्बन लेकर उत्पन्न होता

है, अर्थात् जो ज्ञान एक एक पदार्थको लेकर क्रमसे जानता है वह ज्ञान न तो नित्य ही है, न क्षायिक है और न सबको जाननेवाला है।

केवल ज्ञानका माहात्म्य

तिक्कालणिच्चविसयं सयलं सव्वत्थ संभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥ [प्रव० १, ५१]

ज्ञानका माहात्म्य तो देखो, जिनदेवका केवलज्ञान सदा तीनों कालोंमें और तीनों लोकोंमें होनेवाले नाना प्रकारके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानता है।

केवल ज्ञानीके बन्ध नहीं होता—

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥ [प्रव० १, ५२]

केवलज्ञानी आत्मा उन पदार्थोंको जानते हुए भी न तो उनरूप परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनसे उत्पन्न होता है, इस कारणसे वह नवीन कर्मबन्धसे रहित कहा गया है। अर्थात् यद्यपि केवलज्ञानी सब पदार्थोंको जानता है फिर भी उनमें राग द्वेष नहीं करता, इसलिये मात्र जाननेसे उसके नवीन कर्मका बन्ध नहीं होता।

केवल ज्ञान ही प्रत्यक्ष है

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सकलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥ [प्रव० १,५४]

ज्ञाताका जो ज्ञान अमूर्त पदार्थोंको, मूर्तिक पदार्थोंमेंसे अतीन्द्रिय परमाणुओं वगैरहको तथा प्रच्छन्न पदार्थोंको और सब ही स्वज्ञेयोंको जानता है वही प्रत्यक्ष है।

निश्चय और व्यवहार से केवल ज्ञानका विषय—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ [नि०सा० १५८]

व्यवहारनयसे केवली भगवान् सबको जानते देखते हैं। और निश्चयनयसे केवलज्ञानी आत्माको जानते देखते हैं।

केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्रवृत्ति एक साथ होती है—

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥ [नि० सा० १५६]

जैसे सूर्यमे प्रकाश और प्रताप एक साथ रहते है, वैसे ही केवलज्ञानींमें दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते है, ऐसा जानना चाहिये।

केवल ज्ञान और केवलदर्शन के भेदाभेद की चर्चा—

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव।
अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ॥ [नि०सा० १६०]

ज्ञान परका प्रकाशक है और दर्शन आत्माका ही प्रकाशक है। तथा आत्मा 'स्व' का भी प्रकाशक है और परका भी प्रकाशक है, यदि ऐसा मानते हो तो।

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिद तम्हा ॥ [नि०सा० १६१]

यदि ज्ञान केवल परका प्रकाशक है तो ज्ञानसे दर्शन भिन्न ठहरा। किन्तु ज्ञान केवल परका प्रकाशक नहीं है, इसलिए उसे दर्शन कहा है।

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगओ दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥ [नि०सा०१६२]

यदि आत्मा पर प्रकाशक ही है तो आत्मासे दर्शन भिन्न ठहरा। किन्तु आत्मा केवल पर प्रकाशक नहीं है इसलिए उसे दर्शन कहा है।

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दसणं तम्हा ॥ [नि०सा० १६३]

व्यवहारनयसे ज्ञान परका प्रकाशक है इसलिए दर्शन भी पर प्रकाशक है। व्यवहारनयसे आत्मा परका प्रकाशक है इसलिए दर्शन भी परका प्रकाशक है।

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ॥ [नि०सा०१६४]

निश्चयनयसे ज्ञान आत्माका प्रकाशक है इसलिए दर्शन भी आत्माका प्रकाशक है। निश्चयनयसे आत्मा आत्माका प्रकाशक है इसलिये दर्शन भी आत्माका प्रकाशक है।

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं ।
जइ कोई भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥ [नि० सा० १६५]

उक्त स्थितिमें यदि कोई ऐसा कहे कि केवली भगवान आत्माके स्वरूपको देखते हैं, लोक सहित अलोकको नहीं देखते तो उसके इस कथनमें क्या दूषण है, अर्थात् कुछ भी दोष नहीं है ।

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भयवं ।
जइ केइ भणइ एवं तस्स य किल दूसणं होई ॥ [नि० सा० १६८]

यदि कोई ऐसा कहता है कि केवली भगवान लोक-अलोकको जानते हैं और आत्माको नहीं जानते, तो उसका कथन सदोष है ।

क्योंकि—

णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा ।
अप्पाणं णवि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं॥ [नि०सा० १६६]

ज्ञान जीवस्वरूप है इसलिए आत्मा आत्माको जानता है। यदि ज्ञान आत्माको नहीं जानता तो आत्मासे भिन्न हो जायेगा ।

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो ।
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि ॥ [नि० सा० १७०]

इसलिए आत्माको ज्ञान जानो और ज्ञानको आत्मा जानो। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अतः ज्ञान तथा दर्शन दोनों ही स्व-पर प्रकाशक हैं ।

केवल ज्ञानीके बन्ध नहीं होता

जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।
केवलिणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो ॥ [नि०सा० १७१]

केवल ज्ञानीका जानना-देखना इच्छा पूर्वक नहीं होता। इसीसे वे केवलज्ञानी हैं और इसीसे उन्हें अबन्धक (बन्धरहित) कहा है ।

इन्द्रिय ज्ञानकी असमर्थता

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं ।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥ [प्र०सा० १,५५]

जीव स्वयं अमूर्तिक है। किन्तु मूर्तिक शरीरमें रहता है। अत.

मूर्तिक इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रियोंके योग्य मूर्त पदार्थको अवग्रह पूर्वक जानता है अथवा कर्मका उदय होनेसे नहीं भी जानता।

फासो रसो य गधो वरणो सद्दो य पुग्गला होंति।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥ [प्र० १,५६]

स्पर्श, रस, गंध, रूप, और शब्द ये पौद्गलिक गुण क्रमसे पाँचो इन्द्रियोके विषय हैं। किन्तु वे इन्द्रियाँ इन विषयोको एक साथ नहीं ग्रहण करतीं।

इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो हदि ॥ [प्रव० १, ५७]

आत्माका जो ज्ञान दर्शन स्वभाव है वह उन इन्द्रियोंमे नहीं है, इस लिए उन इन्द्रियोंको परद्रव्य कहा है। उन परद्रव्य इन्द्रियोंके द्वारा जाना गया पदार्थ आत्माका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है।

परोक्ष और प्रत्यक्षका लक्षण

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥ [प्रव० १, ५८]

पदार्थोंका जो ज्ञान परकी सहायतासे होता है उसे परोक्ष कहा है। और जो परकी सहायताके विना केवल जीवके द्वारा जाना जाता है वह प्रत्यक्ष है।

प्रत्यक्ष ज्ञान ही सुखरूप है

जादं सयं समत्त णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं।
रहियं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणियं ॥ [प्रव० १, ५९]

जो स्वयं उत्पन्न हुआ है, सम्पूर्ण है, सब पदार्थोंमें फैला हुआ है, निर्मल है और अवग्रह ईहा आदिसे रहित है वही ज्ञान सर्वथा सुखरूप है।

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥ [प्रव० १, ६०]

जो यह केवल ज्ञान है वह सुखरूप है और उसका परिणमन भी उसी रूप होता है। केवलज्ञानमे इन्द्रियज्ञानकी तरह खेद नहीं होता, क्योंकि घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं।

३. ज्ञेय अधिकार

सत्ताका स्वरूप

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥ [पञ्चा० ८]

सत्ता एक है, वह सब पदार्थोंमें वर्तमान है, विश्वरूप है, अनन्त पर्यायवाली है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है और प्रतिपक्ष सहित है। [आशय यह है कि सत्ताके दो प्रकार है—एक महासत्ता और एक अवान्तर सत्ता। समस्त पदार्थोंमे रहनेवाली सत्ताको महासत्ता कहते हैं। उक्त कथन महासत्ताका ही है। और प्रतिनियत वस्तुमे रहनेवाली सत्ताको अवान्तर सत्ता कहते हैं। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि प्रत्येक वस्तुमे दो सत्ताएं रहती हैं। एक ही सत्ताको जब व्यापक दृष्टिकोणसे देखते हैं तो वह महा सत्ताके रूपमे प्रतीत होती है और उसीको जब संकुचित दृष्टिकोणसे देखते हैं तो वह अवान्तर सत्ताके रूपमे प्रतीत होती है। अतः महासत्ताकी अपेक्षासे अवान्तर सत्ता असत्ता है और अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे महासत्ता असत्ता है। इसतरह सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है। महासत्ता समस्त पदार्थोंमे समान रूपसे व्याप्त है, इसलिये वह सर्वपदस्था' है और अवान्तर सत्ता एक ही पदार्थमे रहती है अतः वह 'एक पदस्था' है। इस तरह सर्वपदार्थस्थिताका प्रतिपक्ष एकपदार्थस्थितपना है। महासत्ता विश्वरूपा है और अवान्तर सत्ता एकरूपा है। अतः विश्वरूपाका प्रतिपक्ष एकरूपपना है। महासत्ता अनन्त पर्याय वाली है क्योंकि अपनी अपनी पर्यायोंकी अपेक्षासे द्रव्योंकी अनन्त सत्ताएँ हैं, और अवान्तर सत्ता एक पर्यायवाली है क्योंकि एक द्रव्यकी विवक्षित एक पर्यायकी अपेक्षासे वह एक पर्यायरूप है। अतः अनन्तपर्यायाका प्रतिपक्ष एक पर्यायपना है। महासत्ता उत्पाद आदि तीन लक्षणोंसे युक्त है। किन्तु अवान्तर सत्ता ऐसी नहीं है; क्योकि जिसरूपसे उत्पाद है उसरूपसे उत्पाद ही है, जिस रूपसे व्यय है उस रूपसे व्यय ही है और जिस रूपसे ध्रौव्य है उस रूपसे ध्रौव्य ही है। इस कारण वस्तुका जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है उसमेसे उत्पाद या व्यय या ध्रौव्यके उत्पाद आदि तीन तीन रूप नही होते। अतः त्रिलक्षणाका प्रतिपक्ष अ-त्रिलक्षणा है। महासत्ता एक है और अवान्तरसत्ता अनेक हैं, अतः एकका प्रतिपक्ष अनेकपना

है। इस तरह सत्ता एक भी है और अनेक भी है, सर्व पदार्थोंमे भी रहनेवाली है और एक पदार्थमें भी रहनेवाली है, विश्वरूप भी है और एक रूप भी है, अनन्त पर्यायवाली भी है और एक पर्यायवाली भी है। उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक होनेसे त्रिलक्षण भी है और अ-त्रिलक्षण भी है, और एक भी है, अनेक भी है]

सत्ता और द्रव्यमें अभेद

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ॥ [पञ्चा० ६]

जो उन उन अपनी पर्यायोंको प्राप्त करता है उसे द्रव्य कहते हैं। वह द्रव्य सत्तासे अभिन्न है।

तीन प्रकारसे द्रव्यका लक्षण

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥ [पञ्चा० १०]

सर्वज्ञ देवने द्रव्यको सत्ता लक्षण वाला कहा है। अर्थात् जो सत् है वह द्रव्य है, अथवा जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे संयुक्त है वह द्रव्य है, अथवा जो गुण और पर्यायोका आधार है वह द्रव्य है।

सत् होते हुए भी द्रव्यके उत्पाद व्ययध्रौव्यात्मक होनेमें कारण

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥ [प्रव० २, ७]

द्रव्यका अपने अर्थों में—गुण-पर्यायोंमें जो परिणमन है वह ध्रौव्य उत्पाद और विनाशसे सम्बद्ध है वही द्रव्यका स्वभाव है। और अपने उस स्वभावमें सदा स्थित रहनेसे द्रव्य सत् है। [आशय यह है कि परिणमन ही द्रव्यका स्वभाव है और परिणमनका मतलब है प्रति समय द्रव्यमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका होना। अपने इस स्वभावमे द्रव्य सदा अवस्थित है। इस स्वभावको वह कभी भी नहीं छोड़ता, अतः उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त होने पर भी द्रव्य सदा सत् है]।

उत्पाद व्यय ध्रौव्यका परस्परमें अविनाभाव

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥ [प्रव० २, ८]

बिना व्ययके उत्पाद नही होता और बिना उत्पादके व्यय नहीं होता। तथा ध्रौव्य पदार्थके बिना उत्पाद और व्यय नहीं होते। [इस कथनको दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं—जो घड़ेका उत्पाद है वही मिट्टीके पिण्डका नाश है क्योंकि एक पर्यायकी उत्पत्ति अपनी पूर्व पर्यायके नाशसे होती है। जो मिट्टीके पिण्डका विनाश है वही घटका उत्पाद है; क्योकि वर्तमान पर्यायका अभाव उत्तर पर्यायके उत्पाद स्वरूप होता है। तथा जो घड़ेका उत्पाद और मिट्टीके पिण्डका विनाश है वही मिट्टीकी ध्रुवता है, क्योंकि पर्यायके बिना द्रव्यकी स्थिति नहीं देखी जाती। और जो मिट्टीकी ध्रुवता है वही घड़ेका उत्पाद और पिण्डका विनाश है, क्योंकि द्रव्यकी स्थिरताके बिना पर्याय नहीं हो सकती। अतः ये तीनों परस्परमे सम्बद्ध है।

उत्पाद आदिका द्रव्यसे अभेद

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वं हिं संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥ [प्रव० २, ९]

उत्पाद व्यय और ध्रौव्य पर्यायोंमे होते हैं और पर्याय द्रव्यमे होती है। इसलिये यह निश्चय है कि उत्पाद आदि सब द्रव्यरूप ही हैं।

उत्पाद आदि में एक क्षणका भी भेद नहीं है——

समवेदं खलु दव्वं संभवट्ठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥ [प्रव० २, १०]

द्रव्य एक ही समयमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य नामक भावोंसे एकमेक है। अतः वे तीनों द्रव्यस्वरूप ही हैं।

उप्पत्तीव विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेति तस्सेव पज्जाया ॥ [पञ्चा० ११]

द्रव्यका उत्पाद अथवा विनाश नही होता, वह तो सत्स्वरूप है। किन्तु उसीकी पर्याय उत्पाद व्यय ध्रौव्यको करती हैं। अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे द्रव्यमें उत्पाद व्यय नहीं हैं, किन्तु पर्यायकी दृष्टिसे हैं।

द्रव्य और पर्याय में अभेद

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥ [पञ्चा० १२]

पर्यायरहित द्रव्य नहीं है और द्रव्यरहित पर्याय नहीं हैं। अतः महाश्रमण सर्वज्ञदेव भावको द्रव्य और पर्यायसे अभिन्न कहते हैं।

द्रव्य और गुणमें अभेद

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ॥ [पञ्चा० १२]

द्रव्यके विना गुण नहीं होते और गुणोंके विना द्रव्य नहीं होता। अतः भाव द्रव्य और गुणसे अभिन्न होता है।

सत्ता और द्रव्यके अभेदमें युक्ति

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुवं हवदि तं कहं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ [प्रव० २,१३]

यदि द्रव्य सत् नहीं है तो निश्चय ही असत् है। ऐसी स्थितिमें वह द्रव्य कैसे हो सकता है और कैसे सत्तासे भिन्न हो सकता है? इसलिये द्रव्य स्वयं ही सत्स्वरूप है।

पृथक्त्व और अन्यत्वका लक्षण

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ॥ [प्रव० २,१४]

भेदके दो प्रकार हैं—पृथक्त्व और अन्यत्व। प्रदेशोंके अलग-अलग होनेको पृथक्त्व कहते हैं ऐसा वीर भगवानका उपदेश है। और प्रदेशभेद न होकर संज्ञा आदिके भिन्न होनेको अन्यत्व कहते हैं। सत्ता और द्रव्यमें प्रदेशभेद नहीं है इसलिये उनमे पृथक्त्व तो नहीं है किन्तु सत्ता और द्रव्यके नाम लक्षण आदि भिन्न हैं। तब वे सर्वथा एक कैसे हो सकते हैं? क्योंकि उनमें अतद्भाव है।

अतद्भाव का उदाहरण

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥ [प्रव० २,१५]

सत् द्रव्य है, सत् गुण है, सत् पर्याय है, यह सत्ताका विस्तार है। और एक द्रव्यमें जो सत्ता गुण है, वह द्रव्य नहीं है, न वह अन्य गुण

है और न पर्याय है। तथा जो द्रव्य, अन्यगुण और पर्याय है वह सत्ता नहीं है। इस प्रकार जो परस्परमे एकका दूसरेमे अभाव है, वही अतद्भाव है और यही अन्यत्वका कारण है। सारांश यह है कि सत्ता और द्रव्यमे प्रदेशभेद नहीं है, किन्तु नामादिभेद है। अतः सत्ता द्रव्यसे अभिन्न भी है और भिन्न भी हैं।

सत्ता और द्रव्य मे गुणगुणी भाव

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठिदं सहावे दव्व त्ति जिणोवदेसो यं॥ [प्रव० २,१७]

द्रव्यका स्वभावभूत जो परिणाम है वही सत्ता नामक गुण है(क्योकि उत्पाद व्यय ध्रौव्यका नाम परिणाम है और उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे युक्त को सत् कहते हैं।) तथा अपने स्वभावसें अवस्थित द्रव्य ही सत् है ऐसा जिन भगवानका उपदेश है।

सत्तभंगो

सिय अत्थि णत्थि उभयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभगं आदेसवसेण सभवदि॥ [पञ्चा० १४]

अपेक्षा भेदसे द्रव्य सात भंगरूप होता है—किसी अपेक्षा द्रव्य है १, किसी अपेक्षा द्रव्य नहीं है २, किसी अपेक्षा द्रव्य है भी और नहीं भी है ३, किसी अपेक्षा द्रव्य अवक्तव्य है ४, किसी अपेक्षा द्रव्य अस्ति अवक्तव्य है ५, किसी अपेक्षा द्रव्य नास्ति अवक्तव्यरूप है ६, और किसी अपेक्षा द्रव्य अस्ति, नास्ति और अवक्तव्यरूप है ७,।

अत्थि त्ति णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा॥ [प्रव० २,२३]

द्रव्य किसी पर्यायसे अस्तिरूप है, किसी एक पर्यायसे नास्तिरूप है, किसी एक पर्यायसे अवक्तव्य रूप है, किसी एक पर्यायसे अस्ति नास्ति-रूप है इसी तरह किसी एक पर्यायसे शेष तीन भंगोमेसे एक एक भंग-रूप है।

[द्रव्य अनन्त धर्मोंका एक अखण्ड पिण्ड है। और शब्दकी प्रवृत्ति वक्ताके अधीन है। इसलिये वक्ता वस्तुके अनन्त धर्मोमेसे किसी एक धर्मकी मुख्यतासे वस्तुका कथन करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह वस्तु सर्वथा उस एक धर्मस्वरूप ही है। अतः यह कहना होगा कि उस वस्तुमे विवक्षित धर्म की मुख्यता और शेष धर्मोंकी गौणता है।

इसीलिये गौण धर्मोंका द्योतक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्योंके साथ गुप्त रूपसे सम्बद्ध रहता है। 'स्यात्' शब्दका अभिप्राय 'कथंचित्' या किसी अपेक्षासे है। जब हम किसी वस्तुको 'सत्' कहते हैं तो उस वस्तुके स्वरूप-की अपेक्षासे ही उसे सत् कहते हैं। अन्य वस्तुओंके स्वरूपकी अपेक्षासे विश्वकी प्रत्येक वस्तु 'असत्' है। अतः संसारमें जो कुछ 'है' वह किसी अपेक्षासे नहीं भी है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु नहीं है। इसी अपेक्षावादका सूचक 'स्यात्' शब्द है। जो प्रत्येक वाक्यके साथ प्रयुक्त किया जाता है। यथा—'स्यात् सत्' 'स्यात् असत्'।

वस्तुके इन दोनों धर्मोंको मिलानेसे तीसरा भंग 'स्यात् सत् स्यात् असत्' बनता है। यदि कोई उक्त दोनों धर्मोंको एक साथ कहना चाहे तो नहीं कह सकता ऐसी दशामें वस्तुको 'अवाच्य' कहा जाता है। इस तरह 'स्यात् सत्', 'स्यात् असत्', 'स्यात् सदसत्', स्यादवक्तव्य ये चार भंग सप्तभंगीके मूल हैं। इन्हींमेंसे चतुर्थभंग स्यादवक्तव्यके साथ क्रमशः पहले दूसरे और तीसरे भंगको मिलानेसे पांचवा, छठा और सांतवा भंग बनता है। संक्षेपमें यह सात भंगोंका परिचय है।]

द्रव्य के भेद

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवजोगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि अज्जीवं ॥ [प्रव० २, ३५]

द्रव्यके दो भेद हैं—जीवद्रव्य और अजीव द्रव्य। उनमेंसे जीवद्रव्य चेतन और उपयोगमय है। पुद्गल आदि पांच अचेतन द्रव्य अजीव हैं।

छै द्रव्यों के नाम

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥ [नि० ९]

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छै मूलतत्त्व हैं। ये अपने अपने अनेक गुण और पर्यायोंसे सहित होते हैं।

गुणोंके भेदसे ही द्रव्योंमें भेद है—

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
ते तब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥ [प्रव० २, ३८]

जिन चिन्होंसे अर्थात् विशेष धर्मोंसे जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य

जाने जाते हैं उन्हें गुण समझना चाहिये। [उन गुणोंके कारण ही द्रव्योंमें यह जीव द्रव्य है और यह अजीव द्रव्य है इत्यादि भेद प्रकट होता है] वे गुण भी तद्भावसे विशिष्ट होनेके कारण मूर्त और अमूर्तके भेदसे दो प्रकारके हैं। [आशय यह है कि जिस जिस द्रव्यका जो जो स्वभाव है वह वह द्रव्य उस उस स्वभावसे विशिष्ट है। इसलिये मूर्त द्रव्य अपने मूर्तत्व स्वभावसे विशिष्ट है और अमूर्त द्रव्य अपने अमूर्तत्व स्वभावसे विशिष्ट है। ऐसा होनेसे गुणोंमें भी दो भेद हो जाते हैं]।

मूर्त और अमूर्त गुणोंका लक्षण·

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥ [प्रव० २, ३९]

मूर्त गुण इन्द्रियोंसे ग्रहण करनेके योग्य होते हैं, तथा वे पुद्गल द्रव्यमें ही पाये जाते हैं और अनेक प्रकारके होते हैं। और अमूर्तिक द्रव्योंके गुणोंको अमूर्त जानना चाहिए।

मूर्त पुद्गल द्रव्यके गुण

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥ [प्रव० २, ४०]

सूक्ष्म परमाणुसे लेकर स्थूल पृथिवी स्कन्ध पर्यन्त समस्त पुद्गल द्रव्योंमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्शगुण रहते हैं। अनेक प्रकारका जो शब्द है वह भी पौद्गलिक है।

अमूर्त द्रव्योंके गुण

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥ [प्रव० २, ४१-४२]

एक साथ सब द्रव्योंके साधारण अवगाहमें कारण होना आकाशका विशेष गुण है। एक साथ सब चलनेवाले जीव और पुद्गलोंके गमनमें कारण होना धर्म द्रव्यका विशेष गुण है। एक साथ सब ठहरते हुए जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें कारण होना अधर्म द्रव्यका विशेष गुण है। समस्त द्रव्योंकी प्रत्येक पर्यायके प्रतिसमय होनेमें कारण होना काल

द्रव्यका विशेष गुण है। चैतन्य परिणाम आत्माका विशेष गुण है। इस तरह संक्षेपसे अमूर्तिक द्रव्योंके विशेष गुण जानने चाहिये।

पाँच अस्तिकाय

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकाय त्ति।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुप्पदेसत्तं॥ [नियम० २, ४८]

इन छै द्रव्योंमेसे कालद्रव्यको छोड़कर शेष पाँच द्रव्योंको जिनागममें अस्तिकाय कहा है। बहुप्रदेशी द्रव्यको काय कहते हैं।

प्रदेशका लक्षण

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणियं।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं॥ [प्रव० २, ४८]

जितने आकाशको पुद्गलका एक परमाणु रोकता है उतनेको प्रदेश या आकाश प्रदेश कहा है। वह आकाश प्रदेश शेष पाँच द्रव्योंके प्रदेशोंको तथा अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे परिणत हुए अनन्त परमाणु स्कन्धोंको स्थान देनेमे समर्थ है।

बहुप्रदेशीय और एकप्रदेशीय द्रव्य

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसी परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो॥ [प्रव० २, ४५]

जैसे आकाशके प्रदेश हैं वैसे ही शेष द्रव्योंके भी प्रदेश हैं। किन्तु परमाणु अप्रदेशी है उसके दो आदि प्रदेश नहीं हैं। परन्तु प्रदेशकी उत्पत्ति परमाणुके द्वारा कही है अर्थात् जितने आकाशको एक परमाणु रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं।

छै द्रव्योंकी प्रदेश संख्या

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसा हु॥
लोयायासे ताव इदरस्स अणंतयं हवे देहो।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा॥ [नियम० ३५-३६]

मूर्त पुद्गल द्रव्यके संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य, एक जीव और लोकाकाश, इनमेंसे प्रत्येकके

असंख्यात प्रदेश होते हैं। अलोकाकाशके अनन्त प्रदेश होते हैं। काल द्रव्य काय नहीं है क्योंकि उसके एक ही प्रदेश होता है।

लोक-आलोकका भेद

समवाओ पंचण्हं समओ त्ति जिणुत्तमेहि पण्णत्तं।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं॥ [पञ्चा० ३]

पाँचों अस्तिकायोंके समवायको जिनेन्द्रदेवने 'समय' कहा है। वही पञ्चास्तिकायरूप समय लोक है। उस लोकसे बाहर सब ओर जो अनन्त आकाश है, वह अलोक है।

लोकका स्वरूप

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु॥ [प्रव० २,३६]

आकाशमे जितना क्षेत्र पुद्गल और जीव द्रव्यसे सम्बद्ध है और धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय तथा काल द्रव्यसे सम्पन्न है अर्थात् आकाशके जितने भागमें सब द्रव्य अनादि कालसे वर्तमान हैं, उसे अतीतमे लोकाकाश कहते थे, वर्तमानमे लोकाकाश कहते हैं और भविष्य-मे भी वह लोकाकाश कहा जायेगा। अर्थात् लोक-आलोकका यह भेद अनादि और अनन्त है।

द्रव्योंका अवस्थान

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा॥ [प्रव० २,४४]

आकाशद्रव्य लोक और अलोकमें व्याप्त है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य लोककाशमे व्याप्त है। काल द्रव्यकी समय आदि पर्याय जीव और पुद्गलके परिणमनसे प्रकट होती है इसलिए काल द्रव्य भी लोकमे ही व्याप्त हैं। शेष बचे जीव और पुद्गल, वे भी लोकमे ही रहते हैं।

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सहावं ण विजहंति॥ [पञ्चा० ७]

छहों द्रव्य परस्पर एक दूसरेमे प्रविष्ट होते हुए और एक दूसरेको स्थान प्रदान करते हुए तथा सदा मिले जुले रहते हुए भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ते।

सक्रिय और निष्क्रिय द्रव्य

जीवा पोग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा ।
पोग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ॥ [पञ्चा० ६८]

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य बाह्यनिमित्तकी सहायतासे क्रियावान हैं। शेप द्रव्य क्रियावान नहीं है। जीव तो पुद्गलका निमित्त पाकर क्रियावान होते हैं, और पुद्गल द्रव्यकालद्रव्यका निमित्त पाकर क्रियावान होते हैं।

जीवके भेद

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा ।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा ॥ [पञ्चा० १०६]

जीव दो प्रकारके होते हैं—संसारी और मुक्त। दोनों ही प्रकारके जीव चैतन्यस्वरूप और उपयोग लक्षणवाले होते हैं। किन्तु उनमेंसे संसारी जीव देह सहित होते हैं और मुक्त जीव देह रहित होते हैं।

संसारी जीवके भेद

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेएण ॥
चउदह भेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा ।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागे सुणादव्वं ॥ [निय० १६-१७]

चार गतियोंकी अपेक्षा संसारी जीवके चार भेद हैं—मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च और देव। मनुष्योंके दो भेद हैं—कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए और भोगभूमिमे उत्पन्न हुए। सात पृथिवियाँ हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा. धूमप्रभा, तमःप्रभा. और महातमःप्रभा, इन सात पृथिवियोंमे नारकी जीव रहते हैं। अतः सात पृथिवियोंके भेदसे नारक जीवोके सात भेद हैं। तिर्यञ्चोंके चौदह भेद हैं–सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक, सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, बादर एकेन्द्रियपर्याप्तक, बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, दो इन्द्रिय पर्याप्तक, दो इन्द्रिय अपर्याप्तक, त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक, चौइन्द्रिय पर्याप्तक, चौइन्द्रिय अपर्याप्तक, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक, असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक। देवोके चार भेद हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी। लोक विभागमेइनका विस्तार जानना चाहिये।

पुढवी य उदगमगणी वाउवणप्फदि जीवसंसिदा काया।
देंति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं ॥ [पञ्चा० ११०]

जीव सहित पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकायके वहुतसे भेद हैं। और ये काय अपने आश्रित जीवोंको मोहसे भरपूर स्पर्श विपयको देती है। अर्थात् इन पाँचों कायवाले जीवोंके एक स्पर्शको विषय करनेकी शक्ति रहती है और मोहका प्रबल उदय होनेसे ये केवल कर्मफल चेतनाका ही अनुभवन करते हैं।

तित्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ॥ [पञ्चा० १११]

इनमेंसे पृथिवीकायिक जलकायिक और वनस्पतिकायिक जीव स्थावर-कायके सम्बन्धसे स्थावर हैं। और अग्निकायिक तथा वायुकायिक जीव त्रस हैं; क्योंकि वे गतिशील हैं। सभी जीव मनसे रहित एकेन्द्रिय जाननें।

एदे जीवणिकाया पञ्चविहा पुढविकाइयादीया।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ॥ [पञ्चा० ११२]

ये पाँचों प्रकारके पृथिवीकायिक आदि जीवोंके समूह मनके विकल्पोंसे रहित है और इन्हें एकेन्द्रिय कहा है।

एकेन्द्रियोंमें जीवन है

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥ [पञ्चा० ११३]

अण्डोंमे बढ़ते हुए और गर्भमें स्थित जीवों तथा मूर्छित मनुष्योंकी जैसी दशा होती है वैसी ही दशा एकेन्द्रियोंकी जानना। अर्थात् जैसे अण्डे वगैरहको बढ़ती देखकर उनमे जीवका अस्तित्व जानते हैं, वैसे ही एकेन्द्रियोंमे भी जानना।

दो इन्द्रिय जीव

संबुक्क मादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रस फासं जे ते वेइंदिया जीवा ॥ [पञ्चा० ११४]

शंबुक, मातृवाह, शंख, सीप, बिना पैरके कृमि लट वगैरह जो जीव स्पर्श और रसको जानते हैं, वे दो इन्द्रिय वाले हैं।

त्रीन्द्रिय जीव

जूगागुंभीमक्कणपिपीलियाविच्छियादिया कीडा ।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ॥ [पञ्चा० ११५]

जूं, कुम्भी, खटमल, चिऊंटी और विच्छु आदि कीट स्पर्श, रस और गंधको जानते हैं इसलिये वे तेइन्द्रिय जीव हैं ।

चौइन्द्रिय जीव

उद्दंस-मसय-मक्खि-मधुकर-भमरा पतंगमादीया ।
रूप रसं च गधं फासं पुण ते वि जाणंति ॥ [पञ्चा० ११६]

डांस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भंवरा और पतंग वगैरह स्पर्श रस, गन्ध, और रूपको जानते हैं । अतः वे चौइन्द्रिय जीव हैं ।

पञ्चेन्द्रिय जीव

सुर-णर-णारय-तिरिया वण्ण-रस-प्फास-गंध-सद्दण्हू ।
जलचर-थलचर-खचरा बलिया पंचेंदिया जीवा ॥ [पञ्चा० ११७]

देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यञ्च स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दको जानते है। तिर्यञ्च, जलचर, थलचर और नभचरके भेदसे तीन प्रकारके हैं। ये सब जीव पञ्चेन्द्रिय होते हैं। इनमेंसे कुछ जीव मनोवलसे सहित होते हैं अर्थात् देव मनुष्य और नारकी तो मन सहित ही होते हैं। किन्तु तिर्यञ्च मनसहित भी होते हैं और मन रहित भी होते हैं।

गति अपेक्षा जीव भेद

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया ।
तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा ॥ [पञ्चा० ११८]

देव चार प्रकारके होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी । मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—कर्मभूमिया और भोगभूमिया । तिर्यञ्च बहुत प्रकारके होते हैं और नारकी सात पृथिवियोकी अपेक्षा सात प्रकारके होते हैं ।

एक गतिसे दूसरी गतिमें जन्म

खीणे पुव्वणिवद्धे गदिणामे आउसे य ते वि खलु ।
पापुण्णाति य अण्णा गदिमाउस्सं सलेस्सवसा ॥ [पञ्चा० ११९]

पूर्व भवमें बाँधे हुये गतिनाम कर्म और आयुकर्मके क्रमसे फल देकर क्षीण हो जानेपर वे ही जीव अपनी अपनी लेश्याके वश अन्य गति और अन्य आयुको प्राप्त करते हैं। अर्थात् एक गतिकी आयु पूरी हो जानेपर अपने परिणामोंके अनुसार अन्य गतिकी आयु बाँध, मरण करके उस गतिमें जन्म लेते हैं। और इसी तरह जन्म लेते और मरते रहते हैं।

उपसंहार

एदे जीवणिकाया देहप्पवीचारमस्सिदा भणिदा।
देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा य॥ [पञ्चा० १२०]

ये सब जीव देह भोगसे सहित कहे हैं। जो शरीरसे रहित है वे सिद्ध जीव है। संसारी जीवोंके दो भेद है—भव्य और अभव्य। [जिन संसारी जीवोंमे अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेकी शक्ति है वे भव्य कहे जाते हैं। और जिनमे ऐसी शक्ति नहीं है वे अभव्य कहे जाते हैं]

ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवंति॥ [पञ्चा० १२१]

इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं। छै प्रकारके जो पृथिवी आदि काय कहे हैं वे भी जीव नहीं हैं। किन्तु उन इन्द्रिय और शरीरोंमे जो ज्ञानवान है उसीको जीव कहते हैं।

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं॥ [पञ्चा० १२२]

जीव सबको जानता और देखता है, सुखको चाहता है, दुःखसे डरता है, हित अथवा अहितको करता है और उनके फलको भोगता है।

१ जीव द्रव्य

संसारी जीव का स्वरूप

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥ [पञ्चा० २७]

वह जीव है, चेतयिता है, उपयोगसे विशिष्ट है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, अपने शरीर प्रमाण है, मूर्तिक नहीं है, किन्तु कर्मोंसे संयुक्त है।

जीवत्व गुण का व्याख्यान

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥ [पञ्चा० ३०]

जो चार प्राणोके द्वारा वर्तमानमे जीता है, भविष्यमे जीवेगा और पूर्वकालमें जिया था वह जीव है। वे चार प्राण है—वल (कायबल, वचन वल, मनो बल), इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र), आयु और श्वासोच्छ्वास।

जीवों का स्वाभाविक प्रमाण और भेद

अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे ।
देसेहिं असखादा सियलोगं सव्वमावण्णा ॥ [पञ्चा० ३१]

केच्चित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसायजोगजुदा ।
विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा ॥ [पञ्चा० ३२]

अनन्त अगुरुलघु गुण हैं। वे अनन्त अगुरुलघु गुण सब जीवोमें पाये जाते हैं। यों तो प्रदेशोंकी अपेक्षा प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् लोकाकाशके बराबर है किन्तु उनमेसे कुछ जीव (जो केवली अवस्थामे समुद्धात करते हैं) कुछ समयके लिये लोकके बराबर हो जाते हैं। और जो वैसा नहीं करते वे अपने शरीर प्रमाण ही रहते हैं। उन जीवोंमेसे जो जीव अनादि कालसे मिथ्यादर्शन कषाय और योगोंसे युक्त हैं वे संसारी हैं और जो उनसे छूटकर शुद्ध हो गये हैं वे मुक्त जीव हैं। संसारी जीव भी बहुत हैं और मुक्त जीव भी बहुत हैं।

जीव शरीर के बराबर है

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं ।
तह देही देहत्थो सदेहमेत्तं पभासयदि ॥ [पञ्चा० ३३]

जैसे दूधमे रखा हुआ पद्मराग नामक रत्न दूधको अपनी प्रभासे प्रकाशित करता है। वैसे ही यह जीव शरीरमें रहता हुआ अपने शरीर मात्रको प्रकाशित करता है। [आशय यह है कि पद्मराग मणिको यदि दूधसे भरे हुय बरतनमें डाल दिया जाये तो दूध उसके रंगका होकर उसकी प्रभासे व्याप्त हो जाता है। अग्निके संयोगसे यदि दूध उबलकर बढ़ता है तो उसके साथ ही मणिकी कान्ति भी फैलती है और जब दूध

घट जाता है तब मणिकी प्रभा भी संकुचित हो जाती है। इसी प्रकार संसारी जीव भी प्राप्त शरीरमें व्याप्त होकर रहता है। शरीरके बढ़ने पर जीवके प्रदेश भी फैल जाते हैं और शरीरके घटने पर जीवके प्रदेश संकुचित हो जाते हैं]

जीव चेतयिता है

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को ।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण ॥ [पञ्चा० ३८]

एक जीव राशि कर्मोंके फलका अनुभवन करती है। एक जीव राशि कर्मका अनुभवन करती है, और एक जीव राशि शुद्ध ज्ञानका अनुभवन करती है। इस तरह कर्मफल चेतना, कर्म चेतना और ज्ञान चेतना रूप तीन चैतन्य भावोंसे युक्त जीवराशिका अनुभवन जुदा जुदा होता है।

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं ।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा ॥ [पञ्चा० ३९]

जितने स्थावरकायिक जीव हैं वे सब कर्मफल चेतनाका अनुभवन करते हैं। त्रस जीव कर्मचेतनाका अनुभवन करते हैं। और जो दस प्रकारके प्राणों द्वारा जीवन मरणरूप प्राणिपनेको लाँघ गये हैं, वे जीवन्मुक्त जीव ज्ञान चेतनाका अनुभवन करते हैं। [चेतनाका मतलब है अनुभवन करना। चेतनाके तीन भेद हैं—कर्मफल चेतना, कर्म चेतना और ज्ञान चेतना। स्थावर जीवोंकी चेतना कर्मफल चेतना है; क्योंकि कर्मोंके उदयसे उनकी चैतन्य शक्ति एकदम हीन हो गई है। इसलिये वे कुछ भी कार्य करनेमें असमर्थ हुए केवल सुख दुःख रूप कर्मफलको भोगते हैं। त्रस जीवोंके कर्म चेतना है, क्योंकि यद्यपि त्रस जीव भी कर्मोंके उदयके कारण चैतन्य शक्तिसे अत्यन्त हीन होते हैं फिर भी वीर्यान्तराय कर्मका कुछ विशेष क्षयोपशम होनेसे वे कर्मफलको भोगनेके लिए थोड़ा बहुत प्रयत्न भी करते हैं। और घातिया कर्म नष्ट हो जानेसे जिन जीवोंके चैतन्यशक्ति विकसित हो जाती है वे ज्ञानचेतनासे युक्त होते हैं]।

उपयोग गुणका व्याख्यान

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो ।
सोवि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥ [प्रव० २, ६३]

जीव उपयोग स्वरूप है। और उपयोग जानने देखने रूप कहा है। जीवका वह उपयोग भी शुभ और अशुभ होता है।

शुभोपयोग और अशुभोपयोगका कार्य

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥ [प्रव० २, ६४]

यदि उपयोग शुभ होता है तो जीवके पुण्य कर्मका सञ्चय होता है। और यदि उपयोग अशुभ होता है तो पाप कर्मका सञ्चय होता है। किन्तु शुभोपयोग और अशुभोपयोगका अभाव होनेपर न पुण्य कर्मका सञ्चय होता है और न पाप कर्मका सञ्चय होता है।

शुभोपयोग का स्वरूप

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥ [प्रव० २,६५]

जो जिनेन्द्रदेवके स्वरूपको जानता है, सिद्ध परमेष्ठीका दर्शन करता है उसी प्रकार आचार्य उपाध्याय और साधुओंके स्वरूपको जानता देखता है, तथा समस्त प्राणियोंमे दया भाव रखता है उस जीवके शुभ उपयोग होता है।

अशुभोपयोग का स्वरूप

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥ [प्रव० २,६६]

जिसका उपयोग विषय और कषायमें खूब अनुरक्त है, मिथ्या शास्त्रों को सुननेमे दुर्ध्यानमें और कुसंगतिमें रमा हुआ है, उग्र है और कुमार्गमे तत्पर है, उसका उपयोग अशुभ है।

कर्तृत्व गुणका व्याख्यान

जीव के भाव

उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा। [पञ्चा० ५६]

क्रमशः कर्मोंके उदयसे, कर्मोंके उपशमसे, कर्मोंके क्षयसे, कर्मोंके क्षय और उपशमके मेलसे तथा स्वभावसे ही जो औदयिक औपशमिक, क्षायिक,

क्षायोपशमिक और परिणामिक भाव होते हैं वे जीवके भाव हैं। उन भावोंके बहुतसे भेद हैं।

जीव औदयिक आदि भावों का कर्ता है

कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं।
सो तेण तस्स कत्ता हवदि त्ति य सासणे पढिद ॥ [पञ्चा० ५७]

कर्मका अनुभव करता हुआ जीव जैसे भावको करता है वह उसके द्वारा उस भावका कर्ता होता है, ऐसा जैन शासनमें कहा है।

द्रव्य कर्म औदायिक आदि भावों का कर्ता है

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ॥ [पञ्चा० ५८]

कर्मके बिना जीवके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम नहीं होता। इसलिये औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव कर्म-कृत हैं। [आशय यह है कि उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम ये चारो द्रव्यकर्मोंकी ही अवस्थाएं हैं। अतः कर्मोंके उदय आदिसे उत्पन्न हुए जीवके भावोका कर्ता द्रव्यकर्म भी ठहरता है।]

शङ्का

भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता।
ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्णं सगं भावं ॥ [पञ्चा० ५९]

यदि जीवके औदयिक आदि भाव कर्मकृत हैं तो जीव उनका कर्ता कैसे हो सकता है ? जीव तो अपने भावोको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता। [शङ्काकारका कहना है कि यदि द्रव्य कर्मको औदयिक आदि भावोका कर्ता माना जायगा तो जीव उनका कर्ता नहीं हो सकता। तब प्रश्न होता है कि जीव किसका कर्ता है। क्योकि जीवको अकर्ता माननेसे तो संसारका ही अभाव हो जायेगा। अतः यही कहा जायगा कि जीव द्रव्य कर्मोंका कर्ता है। किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जीव तो अपने भावोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं करता। तब वह द्रव्य-कर्मोंका कर्ता कैसे हो सकता है ?]

समाधान

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं हवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ॥ [पञ्चा० ६०]

औदयिक आदि भाव कर्मके निमित्तसे होते हैं; और कर्म भावके निमित्तसे होता है। किन्तु न तो जीवके भावोंका कर्ता कर्म है और न कर्मों-का कर्ता जीवके भाव हैं। परन्तु वे दोनों कर्ताके बिना भी नहीं हुए। [अतः वास्तवमें जीवके भावोंका कर्ता जीव है और कर्मके भावोंका कर्ता कर्म है।]

कुव्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं॥ [पञ्चा० ६१]

अपने भावोंको करता हुआ जीव अपने भावका कर्ता है, पुद्गल कर्मोंका कर्ता नहीं है। ऐसा जिन भगवानका कथन जानना चाहिये।

कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण॥ [पञ्चा० ६२]

कर्म भी अपने स्वभावसे यथार्थमें अपने स्वरूपको करता है। जीव भी कर्मरूप रागादि भावोंसे स्वयं ही अपना कर्ता है।

शंका

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं।
किध तस्स फलं भुंजदि अप्पा कम्मं च देदि फलं॥ [पञ्चा० ६३]

यदि कर्म कर्मको करता है और आत्मा अपने स्वरूपको करता है तो उस कर्मका फल आत्मा कैसे भोगता है, और कर्म कैसे उसे फल देता है?

समाधान

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविहेहिं॥ [पञ्चा० ६४]

यह लोक सब जगह अनेक प्रकारके अनन्तानन्त सूक्ष्म और स्थूल पुद्गलस्कन्धोसे ठसाठस भरा हुआ है।

अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सहावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा॥ [पञ्चा० ६५]

जीव अपने रागादिरूप भावोको करता है। जब जहाँ वह इन भावोंको करता है, उन भावोंका निमित्त पाकर उसी समय वहीं स्थित पुद्गल जीवके प्रदेशोमें परस्पर एकक्षेत्र अवगाह रूपसे दूध पानीकी तरह मिलकर कर्मरूप हो जाते हैं।

जह पोग्गलदव्वाण बहुप्पयारेहिं खधणिव्वत्ती ।
अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माण वियाणाहि ॥ [पञ्चा० ६६]

जैसे दूसरोके द्वारा किये विना अनेक प्रकारसे पुद्गल द्रव्योके स्कन्धों की रचना देखी जाती है, उसी तरह कर्मोंकी भी जानना। अर्थात् जैसे सूर्य की किरणोके निमित्तसे आकाशमे सन्ध्या, इन्द्रधनुष आदि की रचना विना किसी कर्ताके स्वयं ही हो जाती है वैसे ही जीवके अशुद्ध भावोके निमित्तसे पुद्गल स्कन्ध स्वय ही कर्मरूप हो जाते है।

जीवा पोग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा ।
काले विजुज्जमाणा सुहदुक्खं दिंति भुंजति ॥ [पञ्चा० ६७]

कर्मरूप होनेपर जीव और पुद्गल स्कन्ध परस्परमे अत्यन्त सघन रूपसे बद्ध होकर रहते है। उदयकाल आनेपर जब वे जुदे होने लगते हैं तो पुद्गल कर्म सुख दुःख देते हैं और जीव उनको भोगता है।

कर्तृत्व और भोक्तृत्वके वर्णनका उपसहार

तम्हा कम्म कत्ता भावेण हि सजुदोध जीवस्स ।
भोत्ता दु हवदि जीवो चेदगभावेण कम्मफलं ॥ [पञ्चा० ६८]

अतः जीवके भावोसे संयुक्त हुआ कर्म कर्ता है। और जीव चेतनात्मक भावसे कर्मफलका भोक्ता है। [सारांश यह है कि निश्चय नयसे कर्म अपना कर्ता है और व्यवहारनयसे जीवके भावोका कर्ता है। जीव भी निश्चयनयसे अपने भावका कर्ता है और व्यवहार नयसे कर्मोका कर्ता है। किन्तु जैसे कर्म दोनो नयोंसे कर्ता है, वैसे एक भी नयसे भोक्ता नही है; क्योंकि जड़ होनेसे उसमे अनुभव करनेवाली चैतन्यशक्तिका अभाव है। अतः चेतन होनेसे केवल जीव ही कर्मफलका भोक्ता है।]

जीवके प्रभुत्वगुणका कथन

एवं कत्ता भोत्ता होज्जं अप्पा सगेहि कम्मेहिं ।
हिंडदि पारमपारं ससारं मोहसछण्णो ॥ [पञ्चा० ६९]

इस प्रकार यह जीव अपने कर्मोके द्वारा कर्ता भोक्ता होता हुआ, मोहमे डूबकर सान्त अथवा अनन्त संसारमे भ्रमण करता है।

उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो ।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ॥ [पञ्चा० ७०]

वही धीरात्मा जीव जिन भगवानके द्वारा कहे हुए मार्गको अपना कर. मोहनीयकर्मका उपशम अथवा क्षय करके, सम्यग्ज्ञानका अनुसरण करनेवाले मार्गपर चलता हुआ मोक्षपुरी को जाता है।

२ पुद्गल द्रव्य

पुद्गलके भेद

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्व हवेइ दुवियप्पं।
खधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो॥ [नियo २०]

परमाणु और स्कन्धके भेदसे पुद्गलद्रव्यके दो भेद हैं। उनमेसे स्कन्धके छै भेद हैं, और परमाणुके दो भेद है।

स्कन्धके भेद

अइथूलथूल थूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं॥
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया॥
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुम थूलेदि भणिया खधा चउरक्खविसया य॥
सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेति॥ [नियo २१-२४]

स्कन्धके छै भेद हैं—अति स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूल सूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म। जो पुद्गल स्कन्ध दो खण्ड होनेपर अपने आप नहीं मिल सकता, जैसे पृथ्वी पहाड़ वगैरह, उसे अतिस्थूलस्थूल कहते हैं। जो पुद्गल स्कन्ध खण्ड-खण्ड होकर पुनः मिल जाते हैं, जैसे घी, पानी, तेल वगैरह, उन्हे स्थूल कहते हैं। जो देखनेमे तो स्थूल हों किन्तु जिनको पकड़ा न जा सके और न जिनका छेदन भेदन किया जा सके, जैसे छाया धूम वगैरह, उन्हे स्थूल सूक्ष्म कहते है। जो स्कन्ध हों तो सूक्ष्म, परन्तु स्थूलसे प्रतीत होते हों, जैसे चक्षुको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, गन्ध वगैरह, उन्हे सूक्ष्म स्थूल कहते है। कर्मरूप होनेके योग्य कार्मण वर्गणारूप स्कन्धोंको सूक्ष्म कहते हैं। और जो स्कन्ध कार्मण वर्गणासे भी सूक्ष्म होते हैं उन्हे सूक्ष्मसूक्ष्म कहते हैं।

दूसरे प्रकारसे पुद्गलके भेद

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू ।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥ [पञ्चा० ७४]

स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु, इस प्रकार ये पुद्गल द्रव्यके चार भेद जानना ।

स्कन्ध आदिका लक्षण

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति ।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥ [पञ्चा० ७५]

जो सब कार्य करनेमे समर्थ हो उसे स्कन्ध कहते हैं । स्कन्धके आधे भागको स्कन्धदेश कहते है । उस आधेके भी आधे भागको स्कन्धप्रदेश कहते हैं । और जिसका दूसरा भाग न हो सके उसको परमाणु कहते है ।

परमाणु के दो भेद

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं ति तं णेओ ।
खंधाण अवसाणं णादव्वो कज्जपरमाणू ॥ [निय० २५]

परमाणु दो प्रकारके होते हैं—एक कारण परमाणु और एक कार्य-परमाणु । जो परमाणु पृथ्वी, जल, आग और हवाका कारण है अर्थात् जिन परमाणुओंसे ये चारों बनते हैं वे तो कारणपरमाणु है । और स्कन्धों का जो अन्त है अर्थात् स्कन्धोंके टूटते टूटते अन्तमे जो अविभागी द्रव्य हो जाता है वह कार्यरूप परमाणु है ।

परमाणुका स्वरूप

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं ।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ॥ [निय० २६]

जो स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्त रूप है, अर्थात् जिससे आदि, मध्य और अन्तका भेद नहीं है, तथा जो इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जानेके योग्य नहीं है; ऐसा जो अविभागी (जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता) द्रव्य है, उसे परमाणु जानो ।

णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेत्ता ।
खंधाणं पि य कत्ता पविहत्ता कालसंखाणं ॥ [पञ्चा० ८०]

परमाणु नित्य है, अवकाश देनेमे असमर्थ भी नहीं है और समर्थ भी नहीं है, प्रदेशकी अपेक्षा स्कन्धोंका भेदक है और स्कन्धोंका बनाने वाला भी है तथा कालकी संख्याका भी विभाग करनेवाला है। [आशय यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, चारोंका भेदक परमाणु ही है। सबसे छोटा पुद्गल द्रव्य परमाणु है, परमाणुके द्वारा ही स्कन्धोमे द्रव्योंकी संख्या गिनी जाती है कि अमुक स्कन्ध कितने प्रदेशवाला है। सबसे छोटा क्षेत्र आकाशका एक प्रदेश है। प्रदेशका विभाग भी परमाणुके द्वारा ही किया जाता है; क्योकि एक परमाणु आकाशके जितने भागको रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। कालका सबसे छोटा अंश समय है। इसका भेदक भी परमाणु ही है; क्योंकि आकाशके एक प्रदेशमे स्थित परमाणु मन्दगतिसे चलता हुआ अनन्तरवर्ती दूसरे प्रदेशपर जितनी देरमे पहुंचता है उसे समय कहते हैं। भावका सबसे छोटा अंश अविभागी प्रतिच्छेद है। इसका भेदक भी परमाणु ही है क्योंकि परमाणुमें रहनेवाले रूप रस गन्ध वगैरहके जघन्य आदि अंशोंके विभागके द्वारा ही उसकी प्रतीति होती है]

परमाणु में गुण

एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।
खधतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि ॥ [पञ्चा० ८१]

जिसमें एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श गुण रहते हैं, जो शब्दकी उत्पत्तिमे कारण है, किन्तु स्वयं शब्दरूप नहीं है, तथा स्कन्धरूपमें परिणमन करके भी जो स्कन्धसे जुदा है, उस द्रव्यको परमाणु जानो। [एक परमाणुमे पाँच रसोंमेसे कोई एक रस, पॉच रूपोंमेसे कोई एक रूप; दो प्रकारकी गन्धोंमेसे कोई एक गन्ध और शीत, उष्ण तथा स्निग्ध रूक्ष इन दो युगल स्पर्शोंमेसे एक एक स्पर्श गुण रहता है]।

पुद्गलकी पर्याय

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ ॥ [नियः २८]

अन्यकी अपेक्षाके बिना जो परिणाम होता है वह स्वभाव पर्याय है। और स्कन्धरूपसे जो परिणाम होता है वह विभाव पर्याय है। अर्थात् परमाणु पुद्गलकी शुद्ध पर्याय है और स्कन्ध अशुद्ध पर्याय है।

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण ।
पोग्गलदव्वो त्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥ [निय० २६]

निश्चय नयसे परमाणुको पुद्गल द्रव्य कहते हैं, और व्यवहार नयसे स्कन्धको भी पुद्गलद्रव्य कहते हैं ।

परमाणु किस प्रकार स्कन्धरूप होता है

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो ।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥ [प्रव० २,७१]

दो आदि प्रदेशोंके न होनेसे परमाणु अप्रदेशी है और एक प्रदेश-वाला होनेसे प्रदेशमात्र है । तथा परमाणु स्वयं शब्दरूप नहीं है क्योंकि शब्द अनेक परमाणुओंके मेलसे बनता है । परमाणु स्निग्ध गुणवाला भी होता है और रूक्ष गुणवाला भी होता है । स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके कारण ही एक परमाणु दूसरे परमाणुके साथ मिलकर दो तीन आदि प्रदेशवाला हो जाता है ।

परमाणुमे स्निग्ध और रूक्ष गुणोंका परिणमन

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं ।
परिणामादो भणिदं जाव अणतत्तमणुभवदि ॥ [प्रव० २,७२]

परमाणु परिणमनशील है । परिणमनशील होनेसे परमाणुमे स्थित स्निग्ध और रूक्ष गुण एक अविभागी प्रतिच्छेदसे लेकर एक एक बढ़ते हुए अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदवाले तक हो जाते हैं ।

किस प्रकारके स्निध रूक्ष गुण बंधमे कारण होते है ?

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदिपरिहीणा ॥ [प्रव० २,७३]

स्निग्ध गुणवाले अथवा रूक्ष गुणवाले, दो चार छै आदि समान संख्यक गुणवाले अथवा तीन पाँच सात आदि विषम संख्यक गुणवाले परमाणुओंमेसे यदि एकसे दूसरेमे दो गुण अधिक हों तो दोनोंका परस्परमे बन्ध होता है; किन्तु एक गुणवाले परमाणुका बन्ध नहीं होता । [सारांश यह है कि बंधनेवाले दो परमाणुअ के स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणो मे यदि दोका अन्तर होता है अर्थात् एकमे दो और दूसरेमें चार या एकमे तीन और दूसरेमे पॉच स्निग्ध या रूक्ष गुण हों तो दोनोंका परस्परमें

बन्ध होता है, किन्तु जिस परमाणुमें एक ही स्निग्ध या रूक्ष गुण होता है उसका किसी भी परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता]।

उक्त कथन का स्पष्टीकरण

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुहवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥ [प्रव० २,७४]

दो गुण स्निग्धवाले परमाणुका चार गुण स्निग्धवाले परमाणुके साथ बन्ध होता है। अथवा तीन गुण रूक्षवाले परमाणुका पाँच गुणवाले परमाणुके साथ बन्ध होता है।

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥ [प्रव० २,७५]

दोप्रदेशी, त्रिप्रदेशी आदि स्कन्ध और अपने अपने आकारको लिये हुए सूक्ष्म अथवा बादर पृथ्वी, जल, तेज और वायु अपने ही स्निग्ध और रूक्ष गुणके परिणामसे उत्पन्न होते हैं।

आत्मा और कर्मके बन्धमें आशङ्का

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ [प्रव० २,८१]

रूप आदि गुण वाला मूर्तिक पुद्गल स्निग्ध और रूक्षरूप स्पर्शगुणके निमित्तसे परस्परमें बन्धको प्राप्त होता है। किन्तु आत्मा तो रूप आदि गुण वाला नहीं, तब वह पुद्गल कर्मोंको कैसे बाँधता है अर्थात् आत्माके साथ पुद्गल कर्मोंका बन्ध कैसे होता है ?

समाधान

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बधो तेण जाणीहि ॥ [प्रव० २,८२]

आत्मा रूप स्पर्श आदि गुणवाला नहीं है, किन्तु जैसे वह रूप आदि गुणवाले पुद्गल द्रव्योंको और उनके रूप आदि गुणोंको जानता देखता है, वैसेही पुद्गल द्रव्यके साथ आत्माका बन्ध जानो।

उक्त कथनका स्पष्टीकरण

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहि सबंधो ॥ [प्रव० २,८३]

जीव उपयोगमय है अर्थात् जानने देखनेवाला है। वह जो अनेक प्रकारके इष्ट अनिष्ट विषयोंको पाकर मोह करता है अथवा राग करता है अथवा द्वेष करता है, वह उन राग द्वेष और मोहके द्वारा बन्धको प्राप्त होता है।

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥ [प्रव० २,८४]

जीव प्राप्त हुए विषयोंको जिस राग द्वेष या मोहरूप भावसे जानता देखता है उसी भावसे रंग जाता है और फिर उसी भावसे पौद्गलिक कर्म बन्धते है। अर्थात् जीवका यह उपराग ही स्निग्ध रूक्ष गुणका स्थानापन्न होकर पौद्गलिक कर्मोंके बन्धमे निमित्त होता है।

पुद्गल, जीव और उभयबन्धका स्वरूप

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णंस्सवगाहो पुद्गलजीवप्पगो भणिदो ॥ [प्रव० २,८५]

स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श गुणके द्वारा पुद्गलोंका परस्पर बन्ध होता है और राग आदिके द्वारा जीवका बन्ध होता है। तथा परस्परमें परिणामोंका निमित्त पाकर जीव और कर्म पुद्गलोंका परस्परमे एक क्षेत्रावगाह रूप बन्ध कहा गया है।

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति ॥ [प्रव० २,८६]

यह आत्मा लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशी होनेसे सप्रदेशी है। उन प्रदेशोमे कर्मवर्गणा रूप पुद्गलस्कन्ध कायवर्गणा, मनोवर्गणा, अथवा वचनवर्गणाके आलम्बनसे होने वाले प्रदेश परिस्पन्दरूप योगके अनुसार प्रवेश करते हैं। और प्रवेश करते ही ठहर जाते हैं और बंध जाते है। उसके बाद उदयकाल आने पर अपना फल देकर चले जाते हैं।

३ धर्मद्रव्य

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंध असद्दमप्फास।
लोगोगाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेस ॥ [पञ्चा० ८३]

धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य पांच प्रकारके रसोंसे रहित है, पांच प्रकारके वर्ण और दो प्रकारकी गन्धसे रहित है, शब्दरूप नहीं है, आठ

प्रकारके स्पर्शसे रहित है, समस्त लोकमे व्याप्त है, अखण्ड प्रदेशवाला है, स्वभावसे ही सब जगह फैला हुआ है और असंख्यात प्रदेशी है।

अगुरुगलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥ [पञ्चा० ८४]

यह धर्मद्रव्य सदा उन अगुरुलघु नामके अनन्त गुणोंके द्वारा परिणमनशील होते हुए भी नित्य है। और गमन करते हुए जीव और पुद्‍गलोंके गमनमे निमित्त कारण है। किन्तु स्वयं किसीका कार्य नहीं है अर्थात् धर्मद्रव्य किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है।

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीवपोग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणाहि ॥ [पञ्चा० ८५]

जैसे लोकमें जल मछलियोंके गमनमें निमित्तमात्र होता है। वैसे ही जीव और पुद्‍गलोंके गमनमें सहायक धर्मद्रव्यको जानो। [आशय यह है धर्मद्रव्य स्वयं नहीं चलता है और न जीव पुद्‍गलोंको चलनेकी प्रेरणा करता है। किन्तु यदि जीव और पुद्‍गल चलते हैं तो निमित्त मात्र सहायक हो जाता है।

४ अधर्म द्रव्य

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥ [पञ्चा० ८६]

जैसा धर्मद्रव्य है वैसा ही अधर्म नामके द्रव्यको जानो। इतना विशेष है कि यह ठहरते हुए जीव और पुद्‍गलोंके ठहरनेमें पृथ्वीकी तरह निमित्त कारण है अर्थात् जैसे पृथिवी स्वयं ही ठहरी हुई है और किसीको बलपूर्वक नहीं ठहराती। किन्तु स्वयं ही ठहरते हुए घोड़े वगैरहको ठहरने मे सहायक होती है। वैसे ही अधर्मद्रव्य भी किसीको बलपूर्वक नहीं ठहराता। किन्तु जो चलते चलते स्वयं ठहरता है उसमे सहायक मात्र होता है।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के सद्‍भाव में युक्ति

जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥ [पञ्चा० ८७]

जिन धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके सद्भावसे लोक और अलोकका विभाग तथा गमन और स्थिति होती है वे दोनो ही परस्परमें जुदे जुदे है। अर्थात् दोनों का अस्तित्व स्वतंत्र है, किन्तु दोनों एक ही क्षेत्रमें रहते हैं इसलिये जुदे नहीं भी है। और लोकके बराबर प्रमाणवाले हैं। [आशय यह है कि यदि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य न होते तो लोक और अलोकका विभाग नहीं होता; क्योकि जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य गति और स्थिति करते हैं। इनकी गति और स्थितिका बाह्य निमित्त धर्म और अधर्मद्रव्य लोकमे ही है। यदि ये दोनो द्रव्य न होते तो गति करते हुए जीव पुद्गल लोकसे आगे भी चले जाते और तब लोक अलोकका भेद समाप्त हो जाता; क्योकि जितने आकाशमे जीव आदि सभी द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं और जहाँ केवल आकाश द्रव्य है वह अलोक कहा जाता है।]

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गदिस्स प्पसरो जीवाण पोग्गलाणं च ॥ [पञ्चा० ८८]

धर्मास्तिकाय द्रव्य स्वयं नहीं चलता और अन्य द्रव्योका भी गमन नही कराता। किन्तु वह जीव और पुद्गलोंकी गतिका प्रवर्तकमात्र है। इसीप्रकार अधर्मद्रव्यको भी समझना।

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥ [पञ्चा० ८९]

जिनका गमन होता है स्थिति भी उन्हींकी संभव है। अर्थात् जो चलते हैं वे ही ठहरते भी हैं। किन्तु वे चलने और ठहरनेवाले जीव और पुद्गल अपने परिणामोसे ही गति और स्थिति करते हैं। अर्थात् उन्हें कोई जबरदस्ती चलाता या ठहराता नहीं है। गमन करने और ठहरनेकी शक्ति उन्हींमे ही है, धर्म अधर्म तो सहायकमात्र हैं।

५ आकाश द्रव्य

आकाश द्रव्यका स्वरूप

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ॥ [पञ्चा० ९०]

जो सब जीवोंको, पुद्गलोंको और शेष बचे धर्म अधर्म और काल द्रव्यको पूरा स्थान देता है उसे लोकमे आकाशद्रव्य कहते है।

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोरगण्णा ।
तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अतवदिरित्तं ॥ [पञ्चा० ९१]

अनन्त जीवद्रव्य, अनन्त पुद्‌गल स्कन्ध, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और कालद्रव्य ये पाँचों द्रव्य लोकसे अभिन्न हैं। अर्थात् जितने आकाशमे ये पाँचो द्रव्य पाये जाते है उसका नाम लोकाकाश है। आकाश द्रव्य तो अन्त रहित अनन्त है। अतः वह लोकाकाशसे भिन्न भी है और अभिन्न भी है। अर्थात् आकाशद्रव्य लोकमे भी पाया जाता है और लोकसे बाहर भी पाया जाता है।

आकाशको गति-स्थितिका कारण

माननेमें दोष

आगासं अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि ।
उड्ढं गदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ ॥ [पञ्चा० ९२]

यदि आकाशद्रव्य चलने और ठहरनेमे कारण होनेके साथ ही साथ अवकाश भी देता है अर्थात् अवगाहके इच्छुक द्रव्योंके अवगाह और चलनेवाले तथा ठहरनेवाले द्रव्योके चलने और ठहरनेमे भी यदि आकाश सहायक माना जाता है तो स्वभावसे ही ऊपरको गमन करनेवाले सिद्ध भगवान सिद्ध शिलापर कैसे ठहरते है ? [आशय यह है कि यदि गति और स्थिति का कारण आकाशको ही मान लिया जायगा तो सिद्ध परमेष्ठी लोकके अग्रभागमे न ठहरकर आगे भी चले जायेगे क्यो कि गमनमे कारण आकाशद्रव्य आगे भी पाया जाता है]।

जम्हा उवरि ट्ठाणं सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
तम्हा गमणट्ठाण आयासे जाण णत्थि त्ति [पञ्चा० ९३]

किन्तु यतः जिनवर भगवानने सिद्धोंका निवासस्थान ऊपर लोकके अग्रभागसे वतलाया है। अतः आकाश द्रव्य गति और स्थितिमे कारण नही है ऐसा जानो।

जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं ।
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अंतपरिवुड्ढी ॥ [पञ्चा० ९४]

यदि आकाशद्रव्य उन जीवों और पुद्‌गलोंके गमनमे और स्थितिमे सहकारी कारण होता है तो अलोकाकाश की तो हानिका प्रसंग आता

और लोकके अन्त की वृद्धिका प्रसंग आता है [आशय यह है कि यदि आकाशको गति और स्थितिका कारण माना जाता है तो आकाश तो लोकके बाहर भी है अतः वहाँ भी जीवों और पुद्गलोंका गमन होगा। और ऐसा होनेसे लोककी मर्यादा टूट जायेगी, एक ओर लोकाकाश बढ़ता जायेगा, दूसरी ओर अलोकाकाश घटता जायेगा]।

तम्हा धम्माधम्मा गमणट्ठिदिकारणाणि णागासं।
इदि जिणवरेहिं भणिद लोगसहावं सुणंताण ॥ [पञ्चा० ९५]

अतः धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य ही गति और स्थितिमें कारण है, आकाश नहीं। इसप्रकार जिनवर भगवानने लोकके स्वभावको सुननेवाले जीवोंको कहा है।

६ काल द्रव्य

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो ॥ [पञ्चा० १००]

व्यवहारकाल जीव और पुद्गलोंके परिणामसे प्रकट होता है और जीव तथा पुद्गलोंका परिणाम निश्चयकाल द्रव्यसे उत्पन्न होता है। निश्चय और व्यवहारकाल दोनोंका यही स्वभाव है। व्यवहारकाल क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाला है और निश्चयकाल अविनाशी है। [सारांश यह है कि क्रमसे होनेवाली जो समय नामक पर्याय है वह व्यवहारकाल है। और उस व्यवहारकालका जो आधार है वह निश्चयकाल है। निश्चय-काल की पर्यायका नाम व्यवहारकाल है। इस तरह यद्यपि व्यवहारकाल निश्चयकालकी पर्याय रूप है फिर भी जीव और पुद्गलोंके परिणमनसे ही वह प्रकट होता है। जैसे, आकाशके एक प्रदेशमें स्थित पुद्गल परमाणु मन्द गतिसे चलकर अपने समीपवर्ती दूसरे प्रदेशपर जितनी देरमें पहुँचे उसे समय कहते हैं एकवार आँखोंकी पलक टिमकारनेके कालको निमिष कहते हैं। सूर्यके उदयकालसे लेकर अस्त होनेके कालको दिन कहते हैं। समय, निमेष, दिन ये सब व्यवहारकाल है जो पुद्गलोंके परिणमनसे जाने जाते है। किन्तु जीवों और पुद्गलोंका यह परिणाम भी बाह्य निमित्त कारण काल द्रव्यके रहते हुए ही होता है। अतः परिणामको द्रव्यकालसे उत्पन्न हुआ कहा है। इस तरह जीव और पुद्गलोंके परिणमनसे व्यवहार कालका निश्चय किया जाता है और व्यवहार कालसे निश्चय कालका निश्चय किया जाना है, क्यो कि निश्चयकालके

बिना काल व्यवहार हो नहीं सकता। इनमेसे व्यवहारकाल क्षणिक है क्योंकि क्षण क्षणमे नष्ट होता रहता है, और निश्चयकाल द्रव्य है, अतः गुण पर्यायोंका आधार होनेसे दूसरे द्रव्योंकी तरह वह भी अविनाशी है]।

काल द्रव्यकी सिद्धि

कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥ [पञ्चा० १०१]

जो यह 'काल' ऐसा शब्द है यह अपने वाच्य निश्चय कालके सद्भावको बतलाता है जो नित्य है। और जो उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है वह उसी काल द्रव्यकी समयरूप पर्याय है जिसे व्यवहार काल कहते हैं। यह व्यवहार काल क्षणस्थायी होते हुए भी प्रवाह रूपसे दीर्घ काल तक स्थायी है। [अतः निश्चयकाल द्रव्य रूप होनेसे नित्य है और व्यवहार काल पर्याय रूप होनेसे क्षणिक है]।

निश्चय काल द्रव्य

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥ [प्रव० २,४६]

निश्चय काल द्रव्य (पुद्गलके परमाणुकी तरह द्वितीय आदि प्रदेशसे रहित होनेके कारण) अप्रदेशी है। (इसीसे उसे कालाणु कहते है)। जव एक प्रदेशी पुद्गल परमाणु उस कालाणुसे व्याप्त आकाश द्रव्यके एक प्रदेश को मन्द गतिसे लाँघता है तो उसमें वह काल द्रव्य सहायक होता है।

निश्चय काल द्रव्य और उसकी पर्याय

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥ [प्रव० २,७४]

ऊपर किये गये कथनके अनुसार कालाणुसे व्याप्त एक आकाश प्रदेशको मन्द गतिके द्वारा लाँघनेमे परमाणुको जितनी देरी लगती है उसके समान ही समय है अर्थात् कालके उतने परिमाण को समय कहते हैं। यह समयरूप पर्याय तो उत्पन्न और नष्ट होती है। किन्तु अतीत कालमे हुई और भविष्यमे होनेवाली समयरूप पर्याय जिस द्रव्यकी है और जो उन सब पर्यायोमे सदा अनुस्यूत रहता है वही काल द्रव्य है।

—:०:—

४. नौ पदार्थ अधिकार

१ जीव पदार्थका व्याख्यान

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो ।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्केण संवद्धो ॥ [प्रव० २,४३]

यह लोक अपने अपने प्रदेशोसे युक्त जीवादि पदार्थोंसे परिपूर्ण है, स्थिर और नित्य है। जो इसको जानता है वह जीव है। वह जीव इन्द्रिय, वल, आयु, और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणोसे संवद्ध है।

जीवके प्राण

इंदियपाणो य तधा वलपाणो तह य आउपाणो य ।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥ [प्रव० २,५४]

स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियप्राण, कायवल वचन-वल मनोवल ये तीन वलप्राण, एक आयुप्राण और एक श्वासोच्छ्वासप्राण ये जीवोंके दस प्राण होते हैं।

जीव शब्दकी व्युत्पत्ति

पाणेहि चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो ते पाणा पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥ [प्रव० २,५५]

जो उक्त चार प्राणोके द्वारा जीता है, जीवेगा और पहले जीता था, वह जीव है। और वे प्राण पुद्गल द्रव्यसे बने है।

प्राण पौद्गलिक हैं

जीवो पाणणिवद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।
उवभुंजदि कम्मफलं बज्झदि अण्णेहि कम्मेहिं ॥ [प्रव० २,५६]

मोह आदि पौद्गलिक कर्मोंसे वँधा हुआ जीव प्राणोंसे वँधा है, और कर्मोंके फलको भोगता है तथा अन्य नये कर्मोंसे वँधता है।

पाणावाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं ।
जदि सो हवदि हि वधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥ [प्रव० २,५७]

जीव प्राणोंके द्वारा कर्मफलको भोगता है, कर्म फलको भोगते हुए राग-द्वेष करता है। और रागद्वेषके द्वारा स्वयं अपने तथा दूसरे जीवोंके प्राणोंको पीड़ा देता है। और ऐसा होनेसे ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे बँधता है।

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण चयदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु॥ [प्रव० २,५८]

कर्मोंसे मलिन आत्मा तबतक बराबर नये नये प्राण धारण करता है जबतक शरीर आदि विषयोमे ममत्वको नहीं छोड़ता।

इससे छूटनेका उपाय

जो इंदियादि विजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति॥ [प्रव० २,५६]

जो इन्द्रियादिको जीतकर उपयोग स्वरूप आत्माका ध्यान करता है वह कर्मोंसे नहीं बँधता। ऐसी स्थितिमे प्राण कैसे उसका पीछा कर सकते हैं।

जीवकी पर्याय

णर-णारय-तिरिय-सुरा सठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स॥ [प्रव० २,६१]

मनुष्य, नारकी, तिर्यञ्च और देव ये जीवोंकी पर्याय हैं। ये पर्यायें नामकर्मके उदय आदिसे तथा संस्थान आदिके निमित्तसे विभिन्न प्रकार की हो गई हैं। अर्थात् मनुष्यभवमें जो औदारिक शरीर तथा संस्थान होता है नारक आदिके भवोंमे उससे भिन्न ही प्रकारका होता है। अतः ये पर्यायें कर्मकृत हैं।

शुद्ध जीवका स्वरूप

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो॥ [नियं० ३८]

जीव आदि बाह्य तत्त्व हेय है अपना आत्मा ही उपादेय है। वह आत्मा कर्म की उपाधिसे उत्पन्न होने वाले गुण पर्यायोसे भिन्न है।

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाण भावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्स हरिस्सठाणा वा॥ [नियं० ३६]

निश्चय रूपसे आत्माके न तो स्वभावस्थान हैं, न मान अपमान

भावरूप स्थान हैं, न हर्षभावरूप स्थान हैं और न अहर्ष-शोकभाव-रूप स्थान हैं।

णो ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा ॥ [नियः ४०]

शुद्ध जीवके न तो स्थितिबन्धके स्थान हैं, न प्रकृतिबन्ध स्थान हैं, न प्रदेशबन्ध स्थान हैं, न अनुभाग न्ध स्थान हैं, और न उदय स्थान हैं।

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा ॥ [नियः ४१]

न क्षायिकभावरूप स्थान हैं, न क्षायोपशमिक भावरूप स्थान हैं, न औदयिक भावरूप स्थान हैं, और न औपशमिक भावरूप स्थान है।

चउगइ भवसंभमणं जाइजरामरणरोयसोगा य।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति ॥ [नियः ४२]

शुद्ध जीवके चारो गतियोंके भवोंमे भ्रमण नहीं है, जन्म, बुढ़ापा मरण, रोग, शोक नहीं है, कुल, योनि, जीवसमास और मार्गणा स्थान नहीं हैं।

णिद्दंडो णिद्दंदो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥ [नियः ४३]

यह आत्मा मन वचन कायरूप दण्डोंसे रहित है, निर्द्वन्द्व है, ममतासे रहित है, शरीरसे रहित है, आलम्बनसे रहित हैं, रागसे रहित हैं, द्वेषसे रहित है, मूढतासे रहित है और निर्भय है।

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥ [नियः ४४]

यह आत्मा निर्ग्रन्थ है, वीतराग है, शल्यसे रहित है. समस्त दोषोंसे रहित है, निष्काम है, क्रोधसे रहित है, मानसे रहित है और मदसे रहित है।

वण्ण-रस-गंध-फासा थी-पुंसणओसयादिपज्जाया।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति ॥ [नियः ४५]

रूप, रस, गंध, स्पर्श, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद आदि पर्याय, संस्थान, संहनन, ये सब जीवके नहीं हैं।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ [निय० ४६]

यह जीव रससे रहित है, रूपसे रहित है, गन्धसे रहित है, इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य न होनेसे अव्यक्त है, चैतन्य गुणवाला है, शब्दसे रहित है, किसी पौद्गलिक चिन्हसे ग्रहण करनेके अयोग्य है, और आकारसे रहित है।

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥ [निय० ४७]

जैसे सिद्ध जीव होते हैं वैसे ही संसारी जीव होते हैं; क्योंकि जीव स्वभावसे जरा, मरण, जन्मसे मुक्त तथा आठ गुणोंसे युक्त होता है।

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा ।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥ [निय० ४८]

जैसे लोकके अग्रभागमें विराजमान सिद्ध जीव शरीरसे रहित, विनाशसे रहित, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्ध हैं वैसे ही संसारी जीवोंको जानना चाहिये।

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु ।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा ॥ [निय० ४९]

ये सब भाव—गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि—व्यवहारनयकी अपेक्षासे कहे हैं। शुद्धनयसे सभी संसारी जीव सिद्धोंके समान स्वभाववाले हैं।

२ अजीव पदार्थका व्याख्यान

आगास-काल-पुग्गल-धम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा ।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ॥ [पञ्चा० १२४]

आकाश द्रव्य, काल द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यमें जीवके गुण नहीं हैं; अतः उन्हे अचेतन कहा है और जीवको चेतन कहा है।

सुह-दुक्ख-जाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं ।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं ॥ [पञ्चा० १२५]

जिसको कभी भी सुख दुःख का ज्ञान नहीं होता तथा कभी भी जो

हितमे प्रवृत्ति और अहितसे भय नहीं करता, उसको श्रमण भगवान अजीव मानते है।

३-४ पुण्य और पाप पदार्थका व्याख्यान

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ॥ [पञ्चा० १३१]

जिसके भावोमे मोह, राग, द्वेप और चित्तकी निर्मलता पाई जाती है, उसके शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते हैं। अर्थात् जिसका चित्त निर्मल होता है और जिसमे प्रशस्त राग पाया जाता है उसके परिणाम शुभ होते हैं और जिसमे मोह द्वेप और अप्रशस्त राग होता है उसके परिणाम अशुभ होते हैं।

सुहपरिणामो पुण्ण असुहो पाव त्ति होदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो ॥ [पञ्चा० १३२]

शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है। जीवके इन दोनों शुभाशुभ परिणामोंके निमित्तसे पुद्गल पिण्ड रूप जो परिणाम है, वह कर्मपनेको प्राप्त होता है। [आशय यह है कि पुण्यके दो प्रकार हैं— भावपुण्य और द्रव्यपुण्य। इसी तरह पापके भी दो प्रकार हैं—भावपाप और द्रव्य पाप। जब जीव शुभ परिणाम करता है तो उन परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म वर्गणा उस जीवके शुभ कर्मरूप परिणमन करती है। अतः शुभ कर्म तो द्रव्य पुण्य है और शुभ परिणाम भावपुण्य है। इसी तरह जब जीव अशुभ परिणाम करता है तो उन परिणामोका निमित्त मिलते ही पुद्गल कर्मवर्गणा उस जीवके अशुभ कर्मरूप परिणमन करती है। अतः अशुभ कर्म द्रव्य पाप है और अशुभ परिणाम भाव पाप है।

कर्म मूर्तिक हैं—

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्ख तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥ [पञ्चा० १३३]

यतः कर्मका फल सुख या दुःख है, वह सुख या दुःख संसारिक विषयोके द्वारा प्राप्त होता है। उन विषयोको यह जीव नियमसे इन्द्रियोंके द्वारा ही भोगता है। अतः कर्म मूर्तिक है; क्यो कि जिसका फल मूर्तिक है और मूर्तके द्वार ही जिसका भोग जाता है वह मूर्तिक है।

५ आस्त्रव पदार्थका व्याख्यान

पुण्यास्त्रवके कारण

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥ [पञ्चा० १३५]

जिस जीवका राग प्रशस्त है, परिणाम दयाभावसे भीगे हुए हैं और चित्तमें कलुपता नहीं है, उस जीवके पुण्य कर्मका आस्त्रव होता है ।

प्रशस्त रागका स्वरूप

अरहंत-सिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥ [पञ्चा० १३६]

अर्हन्त, सिद्ध और साधुओंमें भक्ति, धर्ममें जो प्रवृत्ति, तथा गुरुओंका जो अनुगमन है, इन सबको प्रशस्त राग कहते हैं ।

अनुकम्पाका स्वरूप

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥ [पञ्चा० १३७]

प्यासे अथवा भूखे अथवा दुखी प्राणीको देखकर जिसका मन दुखी होता है, और जो दया भावसे अर्थात् उसका कष्ट दूर करनेकी भावनासे उस दुखीके पास जाता है उसीके यह अनुकम्पा होती है ।

चित्तकलुषता

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज ।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा बेंति ॥ [पञ्चा०१३८]

जव क्रोध अथवा मान अथवा माया अथवा लोभ चित्तको प्राप्त होकर जीवको क्षोभ उत्पन्न करता है, ज्ञानीजन उसे कालुप्य कहते हैं । अर्थात् क्रोध मान माया या लोभ कषायका तीव्र उदय होनेपर चित्तमें जो क्षोभ होता है उसका नाम कालुष्य है ।

पापास्त्रवके कारण

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरिदावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥ [पञ्चा० १३९]

प्रमादसे भरपूर आचरण, चित्तकी कलुषता, विपयोंमे लोलुपता,

दूसरोंको सताना और दूसरोंको झूठा दोष लगाना, ये सब पाप कर्मका आस्त्रव करते हैं।

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्त मोहो पावप्पदा होंति ॥ [पञ्चा० १४०]

आहार भय मैथुन परिग्रह ये चार संज्ञा, कृष्ण नील कापोत ये तीन लेश्या, इन्द्रियोंकी अधीनता, आर्त और रौद्रध्यान, बुरे कामोंमे ज्ञानकी प्रवृति और मोह, ये पापास्त्रवके कारण होते हैं।

६ संवर पदार्थका व्याख्यान

इदिय-कसाय-सण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठु मग्गम्मि।
जावत्तावत्तेहिं पिहियं पावासव छिद्दं ॥ [पञ्चा० १४१]

जिन पुरुषोने मोक्षके मार्गमे स्थित होकर इन्द्रिय, कषाय और संज्ञाओंका जितने अंशमें अथवा जितने काल तक अच्छी तरहसे निग्रह किया, उतने अंशमे और उतने काल तक उन्होंने पापास्त्रवके द्वारको बन्द कर दिया।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुह असुह समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥ [पञ्चा० १४२]

जिसके समस्त परद्रव्योंमे राग अथवा द्वेष अथवा मोह नही है, दुःख सुखमे समबुद्धि रखनेवाले उस साधुके शुभ और अशुभ कर्मोंका आस्त्रव नही होता।

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पाव च्च णत्थि विरदस्स।
संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥ [पञ्चा० १४३]

सब ओरसे निवृत्त जिस योगीके मन वचन और कायकी क्रिया-रूप योगसे जब शुभ परिणामरूप पुण्य और अशुभ परिणामरूप पाप नहीं होता तब उस साधुके शुभ और अशुभ परिणामोके द्वारा किये गये द्रव्य कर्मका संवर होता है। [साराश यह है कि शुभ अशुभ परिणामोंके रोकनेका नाम भाव संवर है और वह भाव संवर द्रव्य संवरका प्रधान कारण है]।

७ निर्जरापदार्थका व्याख्यान

संवरजोगेहिं जुदो तवेहि जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥ [पञ्चा०१४४]

जो शुभाशुभ परिणामोंको रोकनेरूप संवर तथा शुद्धोपयोगसे युक्त होकर अनेक प्रकारके तपोंके द्वारा प्रयत्न करता है, वह नियमसे बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करता है।

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं ॥ [पञ्चा० १४५]

जो संवरसे युक्त होता हुआ, शुद्धात्मानुभूतिरूप आत्मार्थका पूरी तरहसे साधक है और आत्मस्वरूपको जानकर ज्ञानस्वरूप अपनी आत्माका ही ध्यान करता है वह कर्मरूपी धूलको उड़ा देता है।

ध्यानका स्वरूप

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिणामो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायदे अगणी ॥ [पञ्चा० १४५]

जिसके राग द्वेष मोह और योगरूप परिणाम नहीं हैं, उसके शुभ अशुभ कर्मोंको जलानेवाली ध्यानरूप अग्नि उत्पन्न होती है।

८ बन्धपदार्थका व्याख्यान

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि बंधो पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥ [पञ्चा० १४७]

यदि यह अनादि कालसे रागमें फँसा हुआ आत्मा कर्मके उदयसे होनेवाले शुभ अथवा अशुभ भावको करता है तो उस भावके निमित्तसे वह अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मों से बंध जाता है।

बन्धके कारण

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मण-वयण-कायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥ [पञ्चा० १४८]

योगके निमित्तसे कर्म पुद्गलोका ग्रहण होता है। और योग मन वचन और कायसे उत्पन्न होता है। बंध भावके निमित्तसे होता है और वह भाव रति, राग, द्वेष और मोहसे युक्त होता है। [आशय यह है कि मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके आलम्बनसे जो आत्माके प्रदेशोंमें कम्पन होता है उसे योग कहते हैं। कर्मपुद्गलोंका जीवके प्रदेशोमें रहनेवाले कर्म स्कन्धोमें मिल जानेका नाम ग्रहण है। वह ग्रहण योगसे होता है। तथा राग द्वेष मोहसे युक्त जीवके भाव बंधके कारण है। कर्मपुद्गलोका

विशिष्ट शक्तिको लेकर ठहरनेका नाम बन्ध है। इस तरह बन्धका बाह्य कारण योग है और अन्तरंग कारण जीवके भाव हैं]।

हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण वज्झंति॥ [पञ्चा० १४९]

चार प्रकारके हेतुओंको आठ प्रकारके कर्मोंके बन्धका कारण कहा है। और उन चार प्रकारके हेतुओंका भी कारण रागादि भाव है। अतः उनके अभावमें कर्मोंका बन्ध नहीं होता। [सारांश यह है कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके द्वारा आठ प्रकारके कर्म बँधते है। अतः ये चारों बन्धके कारण हैं। इन बन्धके कारणोंका भी कारण रागादि भाव है। रागादि भावका अभाव हो जानेपर कर्मबन्ध नहीं होता]।

जीव और कर्मका बन्ध कैसे होता है ?

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहि जोग्गेहिं॥ [प्रव० २,७६]

यह लोक सब जगह पुद्गल स्कन्धोंसे ठसाठस भरा हुआ है। उनमें कुछ पुद्गलस्कन्ध सूक्ष्म है, कुछ बादर हैं, कुछ कर्मरूप होनेके योग्य है और कुछ अयोग्य हैं।

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा॥ [प्रव० २,७७]

जो पुद्गल स्कन्ध कर्मरूप होनेके योग्य हैं वे जीवके परिणामोंको पाकर कर्मरूप हो जाते हैं। जीवने उन्हे कर्मरूप नहीं परिणमाया है।

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं॥ [प्रव० २,९५]

जब आत्मा राग द्वेषसे युक्त होकर शुभ अथवा अशुभभाव रूपसे परिणमन करता है तब कर्मरूपी धूलि ज्ञानावरण आदि आठ कर्म रूपसे उसमें प्रवेश करती है।

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोह-राग-दोसेहिं।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये॥ [प्रव० २,९६]

वह संसारी आत्मा सप्रदेशी है तथा मोह राग और द्वेषके रंगसे

रंजित है। अतः कर्मरूपी धूलिसे सम्बद्ध होता है। इसे ही आगममे बंध कहा है।

परिणाम ही बन्ध और मोक्षका कारण है

पावं हवइ असेसं पुरणमसेसं च हवइ परिणामो।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ [भा० प्र० ११६]

परिणाम ही समस्त पापरूप होता है और परिणाम ही समस्त पुण्यरूप होता है। जैन शासनमे परिणामसे ही वन्ध और मोक्ष कहा है।

अशुभबन्धके कारण

मिच्छत्त तह कसायासंजमजोगेहिं असुहलेस्सेहिं।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥ [भा० प्रा० ११७]

जिनवचनसे पराङ्मुख जीव मिथ्यात्व, कषाय, असंयम, योग और अशुभ लेश्याओंके द्वारा अशुभ कर्मका बंध करता है।

शुभबंधके कारण

तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्म भावसुद्धिमावण्णो।
दुविहपयार बंधइ संखेवेणेव वज्जरियं ॥ [भा० प्रा० ११८]

जिनवचनका श्रद्धानी विशुद्ध भाववाला होनेके कारण शुभकर्मका बंध करता है। इस प्रकार जीव दोनो प्रकारके कर्मोंका वन्ध करता है। वन्धका यह कथन संक्षेपसे ही किया है।

उपसंहार

रत्तो बंधदि कम्म मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ [प्रव० २,८७]

रागी जीव कर्मोंको बाँधता है और वीतरागी आत्मा कर्मोंसे छूट जाता है। निश्चयसे यह जीवोके वन्धके कथनका संक्षेप जानो।

९ मोक्षपदार्थका व्याख्यान

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ॥
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं ॥ [पञ्चा० १५०-१५१]

कारणका अभाव होने पर नियमसे ज्ञानी जीवके आस्रवका निरोध हो जाता है। आस्रव भावके विना अर्थात् आस्रवका निरोध हो जाने पर कर्मोंका निरोध हो जाता है। और कर्मोंका अभाव होनेसे यह आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर इन्द्रियोंसे उत्पन्न न होनेवाले बाधारहित अनन्त सुखको प्राप्त करता है।

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो॥ [पञ्चा० १५२]

जो परम संवरसे युक्त होता हुआ समस्त कर्मोंकी निर्जरा करता है। और वेदनीय और आयु कर्मसे रहित होकर संसारको छोड़ देता है. अतः वह मुक्त हो जाता है।

—:०:—

५. चारित्र-अधिकार

१ व्यवहार चारित्र

मंगलाचरण

सव्वण्हु सव्वदंसी णिम्मोहा[1] वीयरायपरमेट्ठी।
वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहि॥
णाणं दसण सम्म चारित्त सोहिकारणं तेसिं।
[2]मोक्खाराहणहेउ[3] चारित्त पाहुडं वोच्छे॥ [चा० प्रा० १,२]

सबको जानने और देखने वाले, मोह रहित, वीतराग, परम पदमें स्थित, तीनों लोकोंके द्वारा बन्दनीय और भव्य जीवोंके द्वारा पूज्य अरहन्त परमेष्ठीको नमस्कार करके, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी शुद्धताके कारण तथा उन अर्हन्तोंके मोक्षकी प्राप्तिमें उपायरूप चारित्र प्राभृतको कहूँगा।

---

१. –म्मोहो ग० ऊ०। २. मुक्खा –आ० ऊ०। ३ –हेउ आ०।

रत्नत्रयका स्वरूप

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं [चा० प्रा० ३]

जो जानता है वह ज्ञान है। जो देखता है अर्थात् श्रद्धान करता है उसे दर्शन कहा है। और ज्ञानी तथा सम्यग्दृष्टीके साम्यभावके होनेसे चारित्र होता है।

चारित्रके भेद

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया ।
तिण्हं पि [1]सोहणत्थे जिणभणियं दुविहचारित्त ॥ [चा० प्रा० ४]

जीवके ये तीनों भाव अक्षय और अनन्त होते हैं। इन तीनोंकी शुद्धिके लिये जिन भगवानने दो प्रकारका चारित्र कहा है।

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरण चारित्तं ।
बिदियं संजमचरणं [2]जिणणाणसदेसियं तं पि ॥ [चा० प्रा० ५]

चारित्रके दो भेदोंमेसे पहला भेद सम्यक्त्व चरण चारित्र है, जो जिन भगवानके द्वारा प्रतिपादित ज्ञान और श्रद्धानसे शुद्ध होता है। दूसरा भेद संयम चरण है। यह भी जिन देवके ज्ञान द्वारा उपदिष्ट है।

सम्यक्त्वचरण चारित्रका स्वरूप

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्त सुमुक्खठाणाए ।
ज चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्त ॥ [चा० प्रा० ८]

उसी गुणोंसे विशुद्ध, जिन भगवानके द्वारा कहे हुए सम्यग्दर्शनको जो मोक्षकी प्राप्तिके लिये सम्यग्ज्ञान सहित आचरण करता है वह पहला सम्यक्त्वचरण चारित्र है।

सम्यक्त्वचरण चारित्रका महत्त्व

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ वि सुपसिद्धा ।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे[3] पावंति णिव्वाणं ॥ [चा० प्रा० ६]

जो ज्ञानी अमूढदृष्टि सम्यक्त्वचरणसे शुद्ध होते है यदि वे संयमचरण चारित्रसे भी अच्छी तरह शुद्ध हो तो शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त करते हैं।

---

१. –त्थो ऊ० । २. –णस्सदे आ० । ३. –रेण आ० ।

सम्मत्तचरणभट्ठा संजमचरणं चरंति जइ वि[1] णरा ।
अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं ॥ [चा० प्रा० १०]

सम्यक्त्वचरण चारित्रसे भ्रष्ट अज्ञानी मूढ़दृष्टि मनुष्य यद्यपि संयम-चरणचारित्रको पालते हैं फिर भी वे निर्वाणको प्राप्त नहीं करते ।

सम्यक्त्वचरण चारित्रकी पहचान

वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए ।
मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य ॥
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं ।
जीवो आराहतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ॥ [चा० प्रा० ११,१२]

मोह रहित होकर जिन भगवानके द्वारा कहे हुए सम्यक्त्वका आराधन करनेवाला जीव वातसल्य, विनय, दयाभाव, उत्तम दान देनेमे निपुणता, मार्गके गुणों की प्रशंसा, उपगूहन और रक्षा, इन लक्षणोंसे तथा आर्जव भावोसे पहचाना जाता है ।

दूसरे सयम चरण चारित्रके भेद

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायार ।
सायारं सग्गथे परिग्गहर[2]हिये णिरायार ॥ [चा० प्रा० २१]

संयम चरण चारित्रके दो भेद हैं सागार और णिरागार । परिग्रही श्रावकके सागार संयम चरण होता है और परिग्रहको ग्रहण न करने वाले मुनिके निरागार अथवा अनगार संयम चरण होता है ।

सागार अथवा देश विरतके भेद

दंसण वय सामाइय पोसहसच्चित्त रायभत्ते य ।
बंभारभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ [चा०प्रा०२२]

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रिभक्तविरत, ब्रह्मचर्य, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतविरत और उद्दिष्ट विरत ये ग्यारह देशविरत श्रावक हैं ।

श्रावकके बारह व्रत

पचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइ हवंति तह तिण्णि[3] ।
सिक्खावय चत्तारि सजमचरणं च सायारं ॥ [चा० प्रा० २३]

---

१. जे वि ग० । २. –हागहिय खलु णि उ० ग० । ३. तहेव तिण्णेव ग० उ० ।

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत, ये सागार संयम-चरण है।

पाँच अणुव्रत

थूले तसकायवहे थूले मोसे तितिक्ख थूले य।
परिहारो पर[1] महिला [2]परिग्गहारंभपरिमाणं ॥ [चा० प्रा० २४]

त्रसकायिक जीवोंके घातरूप स्थूल हिंसाका त्याग अहिंसाणुव्रत है, स्थूल झूठका त्याग सत्याणुव्रत है, स्थूल चोरीका त्याग अचौर्याणुव्रत है, पराई स्त्रीका त्याग ब्रह्मचर्याणुव्रत है। तथा परिग्रह और आरम्भका परिमाण करना परिग्रह परिमाण नामक पाँचवा अणुव्रत है।

तीन गुणव्रत

दिसिविदिसिमाणपढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥ [चा० प्रा० २५]

दिशा और विदिशाका परिमाण करना पहला गुणव्रत है। अनर्थ-दण्ड अर्थात बिना प्रयोजन मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिका त्याग करना अनर्थदण्ड नामका दूसरा गुणव्रत है। भोग और उपभोगका परिमाण करना भोगोपभोग परिमाण नामक तीसरा गुणव्रत है। इस तरह ये तीन गुणव्रत हैं।

चार शिक्षाव्रत

सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥ [चा० प्रा० २६]

सामायिक पहला शिक्षाव्रत है, प्रोषध दूसरा शिक्षाव्रत है, अतिथि-पूजा तीसरा शिक्षाव्रत है और अन्त समयमें सल्लेखना करना चौथा शिक्षाव्रत कहा है।

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं[3] णिक्कलं वोच्छे ॥ [चा० प्रा० २७]

इस प्रकार श्रावक धर्मसम्बन्धी सम्पूर्ण संयम चरण चारित्रका कथन किया। अब यतिधर्म सम्बन्धी सम्पूर्ण शुद्ध संयम चरणको कहूँगा।

---

१. परपिम्मो ऊ।   २. गाहारंभेण प-ग०।   ३. —म्मे ग० उ०।

अनगार संयम चरण

पंचिंदियसंवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु ।
पंचसमिदि तियगुत्ति संजमचरणं णिरायारं ॥ [चा० प्रा० २८]

पाँचो इन्द्रियोंका संवर, पॉच व्रत, पॉचव्रतोकी पच्चीस भावनाऍ पॉच समिति और तीन गुप्ति, ये मुनियोंका सयम चरण चारित्र है ।

पञ्चेन्द्रिय सवर

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य ।
ण करेइ रायदोसे पचेंदियसंवरो भणिओ ॥ [चा० प्रा० २६]

इष्ट और अनिष्ट सजीवद्रव्य स्त्री वगैरहमे और अचेतनद्रव्य भोजन वस्त्र वगैरहमे जो रागद्वेप नहीं करता—उसे पञ्चेन्द्रिय संवर कहा है ।

पॉच व्रत

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य ।
तुरियं अबंभविरई पचम संगम्मि विरई य ।

हिसासे विरत होना अहिसा महाव्रत है । असत्यविरति दूसरा महाव्रत है । अदत्तविरति तीसरा महाव्रत है । अब्रह्मविरति चौथा महाव्रत है । और परिग्रहविरति पॉचवा महाव्रत है ।

प्रथम महाव्रतका स्वरूप

कुल-जोणि-जीव-मग्गण-ठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं ।
तस्सारंभणियत्तण-परिणामो होइ पढमवदं ॥ [नियं० ५६]

जीवोंके कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थानोंको जानकर, उनके आरम्भसे निवृत्ति रूप जो परिणाम होता है, वह अहिंसा नामक पहला महाव्रत है ।

दूसरा महाव्रत

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं ।
जो पजहदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव ॥ [नियं० ५७]

जो साधु सदा रागसे, द्वेषसे, और मोहसे झूठ बोलनेके परिणाम को (अभिप्रायको) छोड़ता है उसीके दूसरा असत्यविरति महाव्रत होता है ।

---

१. सगथि ग० ।

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत, ये सागार संयमचरण है।

पाँच अणुव्रत

थूले तसकायवहे थूले मोसे तितिक्ख थूले य।
परिहारो पर[1] महिला [2]परिग्गहारंभपरिमाणं ॥ [चा० प्रा० २४]

त्रसकायिक जीवोंके घातरूप स्थूल हिंसाका त्याग अहिंसाणुव्रत है, स्थूल झूठका त्याग सत्याणुव्रत है, स्थूल चोरीका त्याग अचौर्याणुव्रत है, पराई स्त्रीका त्याग ब्रह्मचर्याणुव्रत है। तथा परिग्रह और आरम्भका परिमाण करना परिग्रह परिमाण नामक पाँचवा अणुव्रत है।

तीन गुणव्रत

दिसिविदिसिमाणपढमं अणत्थदंडस्स वज्जण विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥ [चा० प्रा० २५]

दिशा और विदिशाका परिमाण करना पहला गुणव्रत है। अनर्थदण्ड अर्थात विना प्रयोजन मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिका त्याग करना अनर्थदण्ड नामका दूसरा गुणव्रत है। भोग और उपभोगका परिमाण करना भोगोपभोग परिमाण नामक तीसरा गुणव्रत है। इस तरह ये तीन गुणव्रत हैं।

चार शिक्षाव्रत

सामाइय च पढम विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्ज चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥ [चा० प्रा० २६]

सामायिक पहला शिक्षाव्रत है, प्रोपध दूसरा शिक्षाव्रत है, अतिथिपूजा तीसरा शिक्षाव्रत है और अन्त समयमें सल्लेखना करना चौथा शिक्षाव्रत कहा है।

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयल।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं[3] णिक्कलं वोच्छे ॥ [चा० प्रा० २७]

इस प्रकार श्रावक धर्मसम्बन्धी सम्पूर्ण संयम चरण चारित्रका कथन किया। अब यतिधर्म सम्बन्धी सम्पूर्ण शुद्ध संयम चरणको कहूँगा।

---

१. परपिम्मो क०।　२. गाहारंभेण प-ग०।　३. —म्मे ग० उ०।

अनगार संयम चरण

पंचिंदियसवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु ।
पचसमिदि तियगुत्ति संजमचरणं णिरायारं ॥ [चा० प्रा० २८]

पाँचो इन्द्रियोंका संवर, पाँच व्रत, पाँचव्रतोकी पच्चीस भावनाएँ पाँच समिति और तीन गुप्ति, ये मुनियोंका सयम चरण चारित्र है ।

पञ्चेन्द्रिय संवर

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य ।
ण करेइ रायदोसे पंचेदियसंवरो भणिओ ॥ [चा० प्रा० २९]

इष्ट और अनिष्ट सजीवद्रव्य स्त्री वगैरहमे और अचेतनद्रव्य भोजन वस्त्र वगैरहमे जो रागद्वेष नही करता—उसे पञ्चेन्द्रिय संवर कहा है ।

पाँच व्रत

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य ।
तुरियं अवंभविरई पचम [1]संगम्मि विरई य ।

हिसासे विरत होना अहिसा महाव्रत है । असत्यविरति दूसरा महाव्रत है । अदत्तविरति तीसरा महाव्रत है । अब्रह्मविरति चौथा महाव्रत है । और परिग्रहविरति पाँचवा महाव्रत है ।

प्रथम महाव्रतका स्वरूप

कुल-जोणि-जीव-मग्गण-ठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं ।
तस्सारंभणियत्तण-परिणामो होइ पढमवदं ॥ [नियं० ५६]

जीवोंके कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थानोंको जानकर, उनके आरम्भसे निवृत्ति रूप जो परिणाम होता है, वह अहिंसा नामक पहला महाव्रत है ।

दूसरा महाव्रत

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं ।
जो पजहदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव ॥ [नियं० ५७]

जो साधु सदा रागसे, द्वेषसे, और मोहसे झूंठ बोलनेके परिणाम को (अभिप्रायको) छोड़ता है उसीके दूसरा असत्यविरति महाव्रत होता है ।

---

१. सगथि ग० ।

तीसरा व्रत

गामे वा णयरे वा रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं ।
जो मुयदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव ॥ [नियः ५८]

जो साधु गाँवमें अथवा नगरमे अथवा जंगलमे दूसरेकी पड़ी हुई वस्तुको देखकर उसके ग्रहण करनेके भावको छोड़ देता है उसीके तीसरा अदत्तविरति महाव्रत होता है ।

चौथे व्रतका स्वरूप

दट्ठूण इत्थिरूवं वंछाभावं णिवत्तदे तासु ।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरियवदं ॥ [नियः ५६]

जो स्त्रीके रूपको देखकर भी उनमे चाहरूप परिणामको हटा देता है । अथवा मैथुन संज्ञासे रहित परिणामको चौथा अब्रह्मविरति महाव्रत कहते हैं ।

पाँचवा महाव्रत

सव्वेसिं गंथाणं चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं ।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ॥ [नियः ६०]

निरपेक्ष भावना पूर्वक समस्त परिग्रहके त्याग को, चारित्रके भारको उठाने वाले साधुओका पाँचवा परिग्रह त्याग महाव्रत कहा है ।

इन्हे महाव्रत कहनेका कारण

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं ।
जं च महल्लाणि तदो महल्लयाइं तहेयाइं ॥ [चाः प्राः ३१]

यतः इन्हे महापुरुष पालते हैं, और यतः पूर्व महापुरुषोंने इनका पालन किया था, और यतः ये स्वयं महान् हैं इसलिये इन्हे महाव्रत कहते हैं ।

अहिंसाव्रतकी भावना

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो ।
अवलोयभोयणाए हिंसाए भावणा होंति ॥ [चाः प्राः ३२]

वचन गुप्ति, मनो गुप्ति, ईर्या समिति, आदान निक्षेपण समिति और देख भाल कर भोजन करना, ये अहिंसाव्रतकी भावना हैं ।

सत्यव्रतकी भावना

कोह-भय-हास-लोहा-मोहा विवरीयभावणा चेव ।
विदियस्स भावणाए ए' पंचेव तहा होंति ॥ [चा० प्रा० ३३]

क्रोध, भय, हास्य, लोभ और मोह इनकी विपरीत भावना अर्थात् क्रोध न करना, भय न करना, हँसी दिल्लगी न करना, लोभ और मोहको छोड़ना ये पाँच दूसरे सत्यव्रतकी भावना हैं ।

अदत्त विरति व्रतकी भावना

सुण्णायारणिवासो विमोचियावास जं परोधं च ।
एसणसुद्धिसउत्त साहम्मीसु'विसंवादो ॥ [चा० प्रा० ३४]

पर्वतों की गुफा, वृक्ष की खोल आदि शून्य स्थानोंमे वसना, दूसरोंके द्वारा छोड़े हुए ऊजड़ स्थानमें निवास करना, जहाँ आप ठहरे वहाँ यदि कोई दूसरा ठहरना चाहे तो उसे नहीं रोकना और जहाँ कोई पहलेसे ठहरा हो तो उसे हटाकर स्वयं नहीं ठहरना, शास्त्रोक रीतिसे शुद्ध भिक्षा लेना और साधर्मी भाइयोंसे लड़ाई झगड़ा नहीं करना, ये पाँच अदत्त-विरतिव्रतकी भावना हैं ।

अब्रह्म विरति व्रतकी भावना

महिलालोयण-'पुव्वरयसरण-संसत्तवसहि विकहाहिं ।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥ [चा० प्रा० ३५]

स्त्रियोंकी ओर ताकनेका त्याग, पहले किये हुए काम भोगके स्मरणका त्याग, स्त्रीसे संसक्त निवासस्थानका त्याग, खोटी कथाओंका त्याग और पौष्टिक रसोंका त्याग, ये पाँच भावना चौथे व्रतकी हैं ।

परिग्रह त्याग व्रतकी भावना

अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्द-परिस-रस-रूव-गधेसु ।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति ॥ [चा० प्रा० ३६]

इष्ट और अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप, और गंधमे राग द्वेप वगैरह न करना अपरिग्रह व्रतकी भावना हैं ।

---

१. एवचेव य ऊ०, ए पचवया ग० । २. –संविसंवादो ग० ऊ० ।
३. –रइ-ग० ऊ० ।

पाँच समिति

इरिया-भासा-एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो।
संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंच समिदीओ॥ [चा०प्रा० ३७]

ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान समिति, निक्षेपण समिति, संयमकी शुद्धिके लिये जिनेन्द्र भगवानने ये पाँच समितियाँ कही हैं।

ईर्या समिति

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरिया समिदी हवे तस्स॥ [नियo ६१]

जो श्रमण प्रासुक मार्गसे दिनमें एक युग प्रमाण पृथ्वीको आगे देखते हुए गमन करता है उसके ईर्या समिति होती है।

भाषा समिति

पेसुण्णहासकक्कस-परणिंदप्पपसंसियं वयणं।
परिचित्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स॥ [नियo ६२]

पैशून्य वचन (चुगल खोरके मुखसे निकले हुए वचन), हास्य वचन (किसीके हँसी उड़ाने वाले वचन), कर्कश वचन (कानमें पड़ते ही द्वेष उत्पन्न करनेवाले वचन), परकी निन्दारूप और अपनी प्रशंसा रूप वचनोंको छोड़कर अपने और दूसरोंके हितरूप वचन बोलने वालेके भाषा समिति होती है।

एषणा समिति

कद-कारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी॥ [नियo ६३]

कृत, कारित और अनुमोदना दोषसे रहित, प्रासुक और प्रशस्त तथा दूसरेके द्वारा दिये हुए भोजनको समभावसे ग्रहण करना एषणा समिति है।

आदान निक्षेपण समिति

पोत्थइ-कमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावण-णिक्खेवणसमिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा॥ [नियo ६४]

पुस्तक कमण्डल वगैरहके उठाने धरनेमें सावधानता रूप परिणामको आदान निक्षेपण समिति कहा है।

प्रतिष्ठापन समिति

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स ॥ [नियः ६५]

जो छिपे हुए और वेरोकटोक वाले प्रासुक भूमिस्थानमें मल मूत्र वगैरहका त्याग करता है, उस श्रमणके प्रतिष्ठापन समिति होती है।

मनोगुप्ति

कालुस्समोहसण्णा-रागद्दोसाइ-असुहभावाणं।
परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥ [नियः ६६]

कलुषता, मोह, चाह, राग, द्वेष आदि अशुभ भावोंके त्यागको व्यवहार नयसे मनोगुप्ति कहा है।

वचनगुप्ति

थी-राज-चोर-भत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।
परिहारो वचगुत्ती अलियादिणियत्तिवयणं वा ॥ [नियः ६७]

पापके कारणभूत स्त्री कथा, राज कथा, चोर कथा और भोजन कथा आदि रूप वचनोंका त्यागना वचन गुप्ति है। अथवा असत्य आदि दोषोंसे युक्त वचन न बोलना वचन गुप्ति है।

कायगुप्ति

बंधण-छेदण-मारण-आकुंचण तह पसारणादीया।
कायकिरयाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति ॥ [नियः ६८]

बाँधना, छेदना, मारना, संकोचना तथा फैलाना वगैरह शरीरकी क्रियाओंको न करनेको कायगुप्ति कहा है।

निश्चय मनोगुप्ति और वचनगुप्ति

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती ॥ [नियः ६९]

मनका जो रागादि भावोंसे निवृत्त होना है उसे मनोगुप्ति जानो। तथा असत्य आदि वचनोंसे निवृत्त होना अथवा मौन रहना वचन गुप्ति है।

निश्चय कायगुप्ति

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा ॥ [नियः ७०]

कायकी क्रियाओंसे निवृत्त होना और कायसे ममत्व छोड़ना काय गुप्ति है, अथवा हिंसादिकी निवृत्तिको कायगुप्ति कहा है।

बाईस परीषह सहनेका उपदेश

दस दस दोय परीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण।
सुत्तेण अप्पमत्ता संजमघादं [1]पमुत्तूण ॥ [भावप्रा० ९४]

हे मुनि! तू जैन आगमके अनुसार प्रमाद रहित होकर और संयमका घात करनेवाले कामोंको छोड़कर, शरीरसे सदा बाईस परीषहोंको सहन कर।

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण।
तह साहू णवि भिज्जइ उवसग्गपरीस[2]हाण उदएण ॥ [भावप्रा०९५]

जैसे पत्थर बहुत कालतक जलमें डूबा रहने पर भी जलसे भेदा नहीं जाता अर्थात् अन्दरसे गीला नहीं होता, वैसे ही साधु उपसर्ग और परीषहोंके उदयसे खेदखिन्न नहीं होता।

भावनाओंको भानेका उपदेश

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीस भावणा भावि।
भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥ [भा०प्रा० ९६]

हे मुनि! तू अनित्य आदि बारह भावनाओंका तथा पाँच महाव्रतोंकी पच्चीस भावनाओंका चिन्तवन कर; क्योंकि भावरहित बाह्यलिंग नग्नवेषसे कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

सप्त तत्त्व आदिका चिन्तन करनेका उपदेश

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी चउदस गुणठाणणामाइं ॥ [भावप्रा० ९७]

हे मुनि! महाव्रतोंका धारी होने पर भी तू नौ पदार्थ, सात तत्त्व, चौदह जीवसमास और चौदह गुणस्थानोंके नामोंका चिन्तन कर।

ब्रह्मचर्य पालनका उपदेश

णवविह बंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमुत्तूण।
मेहुणसण्णासत्तो भमिओ सि भवण्णवे भीमे ॥ [भावप्रा०९८]

---

१. च मुत्तूण ऊ। २. सहेहि उ- ऊ।

हे मुनि ! तू कामविकारकी दस अवस्थाओंको छोड़कर नौ प्रकारके ब्रह्मचर्यको प्रकट कर। क्योंकि तूने कामसेवनमें आसक्त होकर भयंकर संसार समुद्रमें भ्रमण किया है।

छियालीस दोस सहित भोजनका निषेध

छायालदोसदूसियमसणं गसिओ असुद्धभावेण।
पत्तो सि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥ [भावप्रा० १०१]

हे मुनि ! अशुद्ध भावसे छियालिस दोषोंसे दूषित भोजनको खाकर तूने पराधीन होकर तिर्यञ्च गतिमे महा दु.ख पाया है।

सचित्त त्यागका उपदेश

सच्चितभत्तपाणं गिद्धी दप्पेणऽधी पभुत्तूण।
पत्तो सि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण तं चित्त[1] ॥ [भावप्रा० १०२]

हे अज्ञानी चित्त ! तूने अति तृष्णा और घमण्डसे अप्रासुक भोजन पानको खाकर अनादिकालसे तीव्र दुःख पाया है।

कंदं मूलं वीयं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं।
असिऊण माणगव्वे भमिओ सि अणंतसंसारे ॥ [भा०प्रा० १०३]

हे जीव ! तूने अभिमानके घमण्डमे कन्द, मूल, वीज, पुष्प, पत्र आदि कुछ सचित्त वस्तुओको खाकर अनन्त संसारमे भ्रमण किया है।

पॉच प्रकारकी विनयका उपदेश

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोए[2]ण।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं ण पावति ॥ [भा० प्रा० १०४]

हे मुनि ! तू मन वचन कायसे पॉच प्रकारकी विनयका पालन कर। अविनयी मनुष्य विनय करने वालोंकी विनय नहीं करते इस लिये वे मुक्तिको प्राप्त नहीं करते।

वैयावृत्यका उपदेश

णियसत्तीए महाजस भत्तिराएण णिच्चयालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपर विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥ [भा० प्र० १०५]

हे महा यशस्वी मुनि ! अपनी शक्तिके अनुसार जिन भगवानकी

---

१. चित्तं ग. ऊ.। २. –जोएहिं ऊ.।

भक्तिमें तत्पर करने वाली दस प्रकारका वैयावृत्य भक्ति और राग सहित सदा किया कर।

आलोचनाका उपदेश

जं किंचि कयं दोस मणवयकाएहिं असुहभावेण।
तं गरहि गुरुसयासे गारव माय च मोत्तूण ॥ [भा० प्रा० १०६]

हे मुनि ! तूने अशुभ भावसे मन वचन और कायके द्वारा जो कुछ दोष किया हो, गर्व और मायाको छोड़कर गुरुके सामने उसकी आलोचना कर।

कटुकवचन सहनेका उपदेश

दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहति सप्पुरिसा।
कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्ममा सवणा ॥ [भा० प्रा० १०७]

अन्तरंगसे ममत्त्व रहित सज्जनोत्तम श्रमण कर्मरूपी मलका नाश करनेके लिये दुर्जनोंके निष्ठुर और कटुक वचनरूपी शस्त्राघातको सहते हैं।

क्षमा गुणकी प्रशंसा

पावं खवइ असेसं खमाए परिमंडिओ य मुणिपवरो।
खेयर-अमर-णराणं पसंसणीओ धुवं होइ ॥ [भा० प्रा० १०८]

क्षमा गुणसे भूषित श्रेष्टमुनि समस्त पापकर्मोंका नाश कर देता है। और निश्चय ही विद्याधर देव और मनुष्योंकी प्रशंसाका पात्र होता है।

क्षमा गुणको पालनेका उपदेश

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयलजीवाणं।
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह ॥ [भा० प्रा० १०९]

इस प्रकार क्षमा गुणको जानकर मन वचन कायसे सब जीवोंको क्षमा कर। और चिर कालसे संचित क्रोधरूपी अग्निको उत्तम क्षमारूपी जलसे सींच।

उत्तर गुणोंको पालनेका उपदेश

वाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि।
पालहि भावविसुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो ॥ [भा० प्रा० ११३]

शीतकालमे वाहर सोना, ग्रीष्म ऋतुमे आतापन योग अर्थात् पर्वतके ऊपर खड़े होकर ध्यान लगाना, और वर्षा ऋतुमे वृक्षके नीचे ध्यान

लगाना आदि उत्तर गुणोंका विशुद्ध भावसे पूजा लाभकी इच्छा न करते हुए पालन कर।

बारह प्रकारका तपश्चरण और तेरह प्रकारकी क्रियाओंके पालनका उपदेश

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाओ भावि तिविहेण।
धरहि मणमत्तदुरयं णाणंकुसएण मुणिपवर ॥ [भा० प्रा० ८०]

हे मुनिश्रेष्ठ! बारह प्रकारके तपश्चरण और तेरह क्रियाओका मन वचन और कायसे पालन कर। तथा मनरूपी मस्त हाथीको ज्ञानरूपी अंकुशके द्वारा वशमे कर।

जिनलिंगकी भावनाका उपदेश

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं [१]भिक्खू।
भावं भावियपुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं ॥ [भा० प्रा० ८१]

हे भिक्षु! जिसमे रेशम, ऊन, सूत, छाल तथा चमड़ेके बने वस्त्रका त्याग किया जाता है, भूमीपर सोया जाता है, प्राणि संयम और इन्द्रिय संयमके भेदसे दो प्रकारका संयम पाला जाता है, उस पहले भाये हुए निर्मल शुद्ध जिनलिंगका चिन्तन कर।

जिनधर्मकी भावनाका उपदेश

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण [२]गोसीरं।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भावि भवमहणं ॥ [भा० प्रा० ८२]

जैसे सब रत्नोंमे श्रेष्ठ हीरा है और जैसे सब वृक्षोमे श्रेष्ठ चन्दन है, वैसे ही सब धर्मोंमे श्रेष्ठ जैनधर्म है, जो संसारका नाशक है। हे मुनि! तू उसका चिन्तन कर।

धर्मका स्वरूप

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि [३]जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो [४]धम्मो ॥ [भा० प्रा० ८३]

व्रत सहित पूजा आदि क्रियाओंका करना पुण्य है ऐसा जिनेन्द्र देवने शास्त्रमें कहा है। अर्थात् इन कामोंके करनेसे पुण्यकर्मका बन्ध

---

१. —'भिक्खा ग.। २. गोसीसं ग। ३. जिणसासणे ग०। ४. सुद्धो ग०।

होता है। और मोह तथा क्षोभ (चित्तकी चञ्चलता) से रहित आत्माका परिणाम धर्म है।

पुण्य धर्म नहीं है—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं॥ [भा० प्रा० ८४]

मुनि ऐसा श्रद्धान करता है; विश्वास करता है, उसे यह रुचता है और वारंवार वह इसे अपनाता है कि पुण्य भोगका कारण है, वह कर्मोंके क्षयका कारण नहीं है।

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदुं धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥ [भा० प्रा० ८५]

जो आत्मा राग आदि समस्त दोषोंसे रहित होता हुआ आत्मामें लीन होता है वही धर्म है, और वही संसार समुद्रसे पार उतारनेमें कारण है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइ करेदि णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो॥ [भा० प्रा० ८६]

किन्तु यदि आत्मा ऐसा नहीं मानता कि आत्माका आत्मामें लीन होना ही धर्म है, और सम्पूर्ण प्रकारके पुण्य कर्मोंका करता है, फिर भी उसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती और उसे संसारी ही कहा गया है।

एएण कारणेण य[1] तं अप्पा सद्दहेहु तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण॥ [भा० प्रा०८७]

इस कारणसे, मन वचन कायसे उस आत्माका श्रद्धान करो और प्रयत्न करके उसे जानो, जिससे तुम मोक्ष प्राप्त कर सको।

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउ अप्पाणं भावहि जिणभावणा णिच्चं॥ [भा० प्रा०८८]

तन्दुल नामक मत्स्य भी अशुद्ध भाववाला होनेसे मरकर सातवें नरकमें गया। ऐसा जानकर सर्वदा जिन भावनाके द्वारा अपनी आत्माका ही चिन्तन कर।

भावके विना सब निरर्थक है—

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइआवासो।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं॥ [भा० प्रा० ८९]

---

१. –य अंताग्गा ग।

शुद्ध आत्माकी भावनासे रहित मुनियोंका बाह्य परिग्रहका त्याग, पहाड़ नदी गुफा खोह आदिमें वसना और समस्त ज्ञान अध्ययन निरर्थक है।

श्रुतज्ञानकी भावनाका उपदेश

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥ [भा० प्रा० ९२]

हे मुनि! विशुद्ध भावसे तू उस अनुपम श्रुतज्ञानका रात दिन चिन्तवन कर, जिसे गणधर देवने भले प्रकारसे शास्त्र रूपमे निबद्ध किया है और जिसमें वर्णित वस्तुतत्त्वका कथन तीर्थङ्कर देवने किया है।

एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयराएण।
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं ॥ [भा० प्रा० ४४]

इस प्रकार वीतराग विज्ञानके द्वारा कहे हुए सम्यक्त्व और संयम-के आश्रय रूप सम्यक्त्वचरणचारित्र और संयमचरणचारित्रको संक्षेपसे कहा।

२ निश्चय चारित्र

निश्चय प्रतिक्रमण

णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुव-देवपज्जाओ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ [नियo ७८]
णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमता णेव कत्तीणं ॥ [नि० ७८]
णाहं बालो वुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमता णेव कत्तीणं ॥ [नि० ७९]
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमता णेव कत्तीण ॥ [नि० ८०]
णाह कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो हं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीण ॥ [नियo ८१]

न मै नारक भाववाला हूँ, न मै तिर्यञ्च मनुष्य या देव पर्यायरूप हूँ, न मै उनका कर्ता हूँ, न कारयिता—कराने वाला हूँ और न मैं उनकी अनुमोदना करने वाला हूं। न मैं मार्गणास्थानरूप हूं, न गुणस्थान-रूप हूँ, और न जीवस्थानरूप हूँ, न मै उनका कर्ता हूँ, न कारयिता हूँ

और न अनुमोदक हूँ। न मैं बालक हूँ, न बूढ़ा हूँ, न जवान हूँ और न उन अवस्थाओंका कारण हूँ। न मै उनका कर्ता हूँ. न कारयिता हूँ और न अनुमोदक हूँ। न मै रागरूप हूँ, न द्वेपरूप हूँ, न मोहरूप हूँ, और न उनका कारण हूँ। न मै उनका कर्ता हूँ, न कारयिता हूँ, और न अनुमोदक हूँ। न मै क्रोध रूप हूँ, न मान रूप हूँ, न माया रूप हूँ और न मैं लोभ रूप हूँ। न मैं उनका कर्ता हूँ, न कारयिता हूँ और न अनुमोदक हूँ।

एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं।
तं दिढकरणनिमित्तं पडिकमणादी पवक्खामि॥ [नि० ८२]

इस प्रकारके भेद ज्ञानका अभ्यास करनेपर आत्मा मध्यस्थ हो जाता है और उससे चारित्रकी प्राप्ति होती है। उस चरित्रको दृढ़ करनेके लिये प्रतिक्रमण आदिको कहूंगा।

मोत्तूण वयणरयणं रागादिभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं॥ [नि० ८३]

वचनकी रचनाको छोड़कर अर्थात् वचनात्मक प्रतिक्रमणको न करके तथा रागादि भावोको दूर करके जो आत्माका ध्यान करता है उसके प्रतिक्रमण होता है।

आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहणा विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ [नि० ८४]

जो मुनि विशेप रूपसे सव प्रकारकी विराधनाको छोड़कर आत्म-स्वरूपकी आराधनामे लगता है उसे प्रतिक्रमण कहा है क्यो कि वह प्रतिक्रमणमय होता है।

मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ [नि० ८५]

जो मुनि अनाचारको छोड़कर आचारमें स्थिर भावको करता है अर्थात् आत्म चारित्रमे दृढ़ होता है उसे प्रतिक्रमण कहा है; क्योकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।

उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ [नि० ८६]

जो उन्मार्गको छोड़कर जिनमार्गमें स्थिर भावको करता है अर्थात् जैन मार्गमें दृढ़ होता है उसे प्रतिक्रमण कहा है; क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।

मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥ [नि० ८७]

माया, मिथ्यात्व और निदानरूपी शल्य भावको छोड़कर जो साधु निःशल्य भावमे परिणमन करता है अर्थात् शल्य रहित होकर वर्तन करता है उसे प्रतिक्रमण कहा है; क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।

चत्ता [1]अगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥ [नि० ८८]

जो साधू अगुप्ति भावको छोड़कर तीन गुप्तियोंसे गुप्त अर्थात् रक्षित होता है उसे प्रतिक्रमण कहा है; क्यों कि वह प्रतिक्रमणमय होता है।

मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु ॥ [नि० ८६]

जो साधु आर्त और रौद्रध्यानको छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है उसे जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे गये सूत्रोंमें प्रतिक्रमण कहा है।

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण ॥ [नि० ६०]

पहले जीवने अनादि कालसे मिथ्यात्व आदि भावोंको भाया है तथा सम्यक्त्व आदि भावोको कभी भी नहीं भाया।

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण।
सम्मत्तणाणचरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं ॥ [नि० ६१]

जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्रको पूर्ण रूपसे त्यागकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको पालता है वह प्रतिक्रमण है।

उत्तमअट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं।
तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं ॥ [नि० ६२]

आत्मा ही उत्तमार्थ है उसीमे रहकर मुनिवर कर्मोंका नाश करते हैं। इस लिये उत्तमार्थ आत्माका ध्यान ही प्रतिक्रमण है।

---

१ 'ह्यगुत्ति' इति पाठान्तरम्।

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाण।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥ [नि० ९३]

ध्यानमें पूरी तरहसे लीन साधु समस्त दोषोंका त्याग कर देता है, अतः ध्यान ही सब अतीचारोंका प्रतिक्रमण है।

पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं।
तह णादा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिकमण ॥ [नि० ९४]

प्रतिक्रमण नामक सूत्रमे जसा प्रतिक्रमणका स्वरूप कहा है वैसा जानकर जो उसकी भावना करता है उसके प्रतिक्रमण होता है।

निश्चय प्रत्याख्यान

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारण किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाण हवे तस्स ॥ [नि० ९५]

जो समस्त वचन विलासको छोड़कर तथा आगामी शुभ और अशुभ भावोंको दूर करके आत्माका ध्यान करता है उसके प्रत्याख्यान होता है।

केवलणाणसहावो केवलदसणसहाव सुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिंतए णाणी ॥ [नि० ९६]

जो कोई केवल ज्ञान स्वभाव है, केवल दर्शन स्वभाव है, परमसुखमय और केवल शक्ति अर्थात् अनन्त वीर्य स्वभाव है, वह मै हूँ, ऐसा ज्ञानीको चिन्तवन करना चाहिये।

णियभावं ण वि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केई।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ॥ [नि० ९७]

जो आत्मभावको कभी नहीं छोड़ता, और परभावको कभी भी ग्रहण नहीं करता, परन्तु सबको जानता और देखता है वह मैं हूँ. ऐसा ज्ञानीको विचारना चाहिये।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा।
सोहं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं ॥ [नि० ९८]

प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धोंसे रहित जो आत्मा है वही मैं हूँ ऐसा विचारना चाहिए। ऐसा विचारता हुआ ज्ञानी उसी आत्मामें स्थिर भावको करता है अर्थात् उसीमें स्थिर हो जाता है।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे ॥ [नि० ९९]

मैं ममत्व भावको छोड़ता हूँ, और निर्ममत्व भावमें स्थिर होता हूँ। आत्मा ही मेरा आलम्बन है, शेष सबको मैं छोड़ता हूं।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ [नि० १००]

निश्चयसे मेरे ज्ञानमे आत्मा है, मेरे दर्शनमे आत्मा है, मेरे चारित्रमे आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यानमे आत्मा है, तथा मेरे संवर और उपयोगमे आत्मा है। अर्थात् ये सब आत्म स्वरूप ही है।

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरओ ॥ [नि० १०१]

यह जीव अकेला ही मरता है, स्वयं अकेला ही जन्म लेता है। अकेला ही मरणको प्राप्त होता है तो अकेला ही कर्मोंसे छूटकर सिद्ध पदको प्राप्त करता है।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा ॥ [नि० १०२]

ज्ञान दर्शन लक्षण वाला मेरा एक आत्मा ही शाश्वत-सदा स्थायी है, मेरे लिये एक आत्माको छोड़कर शेष सभी भाव बाह्य हैं-पर है; क्योंकि वे सभी संयोगलक्षण हैं अर्थात् पर द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न होते हैं।

जं किंचि मे दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइय तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥ [नि० १०३]

जो कुछ मेरा खोटा चारित्र है उस सबको मै मन वचन कायसे त्यागता हूँ। और तीन प्रकारसे समस्त निर्विकल्प सामायिकको करता हूँ।

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि।
आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ॥ [नि० १०४]

सब प्राणियोमे मेरा समता भाव है। किसीके भी साथ मेरा वैर भाव नहीं है। मै आशाको त्याग कर समाधिको प्राप्त होता हूँ।

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥ [नि० १०५]

जो कषायसे रहित है, इन्द्रियोंका दमन करने वाला है, उद्यमी है और संसारसे भयभीत है, उसका प्रत्याख्यान सुखमय होता है।

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदुं सो संजदो णियमा ॥ [नि० १०६]

इस प्रकार जो सदा जीव और कर्मके भेदका अभ्यास करता है अर्थात् जीव भिन्न है और कर्म भिन्न है इस प्रकार अनुभव करनेका सदा प्रयत्न करता रहता है, वही संयमी नियमसे प्रत्याख्यानको धारण कर सकता है।

निश्चय आलोचना

णोकम्म-कम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि ॥ [नि० १०७]

जो नोकर्म और कर्मसे रहित तथा विभाव गुण और विभाव पर्यायोंसे भिन्न आत्माका ध्यान करता है उसी श्रमणके आलोचना होती है।

आलोयणमालुंछण वियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए ॥ नि० १०८]

आलोचन, आलुञ्छन, अविकृति करण और भावशुद्धिके भेदसे आगममें आलोचनाका लक्षण चार प्रकारका कहा है।

आलोचनाका लक्षण

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं ॥ [नि० १०९]

जो समता भावमें अपने परिणामको स्थापित करके आत्माको देखता है उसे आलोचन जानो। ऐसा परम जिनेन्द्रका उपदेश है।

आलुंछनका लक्षण

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो।
साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं ॥ नि० ११०]

कर्म रूपी वृक्षकी जड़को काटनेमें समर्थ जो अपना स्वाधीन और समता भावरूप परिणाम है उसीको आलुञ्छन कहा है।

अविकृति करणका स्वरूप

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं ।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं ति विण्णेयं ॥ [नि० १११]

वीतराग भावनाके द्वारा निर्मल गुणोके स्थानरूप आत्माको जो कर्मोसे भिन्न अनुभव करता है उसे ही अविकृति करण जानना चाहिये ।

भावशुद्धिका स्वरूप

मद-माण-माय-लोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति ।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥ [नि० ११२]

मद, मान, माया, लोभसे रहित भाव भावशुद्धि है ऐसा लोक और अलोकको जानने देखने वाले जिनेन्द्रदेवने भव्य जीवोको कहा है ।

निश्चय प्रायश्चित्त

वद-समिदि-सील-संजम-परिणामो करणणिग्गहो भावो ।
सो हवदि पायच्छित्तं अणवरयं चेव कायव्वो ॥ [नि० ११३]

व्रत, समिति, शील और संयम रूप जो परिणाम है तथा इन्द्रियोंका निग्रह रूप जो भाव है वही प्रायश्चित्त है । उसे सदा करना चाहिये ।

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदी भावणाए णिग्गहणं ।
पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥ [नि० ११४]

निश्चय नयसे क्रोध आदि रूप अपने विभाव भावोंको क्षय करने आदिकी भावनामे प्रवृत्ति करना और अपने गुणोंकी चिन्ता करनेको प्रायश्चित्त कहा है ।

कषायोंको जीतनेका उपाय

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चउविहकसाए ॥ [नि० ११५]

क्रोधको क्षमासे, मानको मार्दवसे, मायाको आर्जवसे और लोभको सन्तोपसे, इस प्रकार चारों कषायोको साधु जीतता है ।

उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं ।
जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स ॥ [नि० ११६]

उसी आत्माका जो उत्कृष्ट बोध, अथवा ज्ञान अथवा चित्त, उसे जो मुनि नित्य धारण करता है उसके प्रायश्चित्त होता है। अर्थात् शुद्ध ज्ञानको स्वीकार करने वाले मुनिके प्रायश्चित्त होता है ।

किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं।
पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेऊ ॥ [नि० ११७]

अधिक कहनेसे क्या ? महर्षियोंके सब उत्कृष्ट तपश्चरणको प्रायश्चित्त जानो। वह प्रायश्चित अनेक कर्मोंके क्षयका कारण है।

णंताणंतभवेण समज्जिअसुहअसुहकम्मसंदोहो।
तवचरणेण विणस्सदि पायच्छित्तं तवं तम्हा ॥ [नि० ११८]

अनन्तानन्त भवोंके द्वारा इस जीवने जो शुभ और अशुभ कर्मोंका समूह संचित किया है, वह तपश्चरणके द्वारा नष्ट हो जाता है। अतः तप प्रायश्चित्त है।

अप्पसरूवालंवणभावेण दु सव्वभावपरिहारं[1]।
सक्कदि काउं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं ॥ [नि० ११९]

आत्म स्वरूपके आलम्बन रूप भावके द्वारा यह जीव सब परभावोंको नष्ट करनेमें समर्थ होता है। अतः ध्यान ही सब कुछ है।

सुह-असुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा ॥ [नि० १२०]

जो शुभ और अशुभ वचन रचनाको तथा रागादि भावोंको दूर करके आत्माका ध्यान करता है उसके नियमसे 'नियम' होता है।

कायोत्सर्गका स्वरूप

कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरित्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्वियप्पेण ॥ [नि० १२१]

काय आदि पर द्रव्योमें स्थिर भावको दूर करके अर्थात् काय अनित्य है ऐसा मानकर जो निर्विकल्प रूपसे आत्माका ध्यान करता है उसीके कायोत्सर्ग होता है।

परमसमाधि

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥ [नि० १२२]

वचनोंका उच्चारण करनेकी क्रियाको छोड़कर जो वीतराग भावसे आत्माका ध्यान करता है उसके परम समाधि होती है।

---

१ — 'परिहारं' इत्यादि पाठः।

संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण ।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥ [नि० १२३]

संयम नियम और तपके द्वारा तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यानके द्वारा जो आत्माका ध्यान करता है उसके परम समाधि होती है।

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहिदस्स समणस्स ॥ [नि० १२४]

जो श्रमण समता भावसे शून्य है उसका वनवास, कायक्लेश, विचित्र उपवास, अध्ययन, मौन वगैरह क्या कर सकते हैं? अर्थात् सब निरर्थक हैं।

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १२५]

जो सर्व सावद्य कार्योंसे विरक्त होता हुआ तीन गुप्तियोंको पालता है और इन्द्रियोंका निरोध करता है, उसके सामायिक संयम स्थायी होता है ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १२६]

जो त्रस, स्थावर सभी प्राणियोंमें समता भाव रखता है उसीके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जस्स संणिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १२७]

संयम, नियम और तप का आचरण करते समय जिसका आत्मा उसके निकट रहता है उसीके सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेदि दु ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १२८]

राग और द्वेष जिसमें विकार पैदा नहीं करते उसीमें सामायिक स्थायी रहती है, ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १२९]

जो सदा आर्त और रौद्र ध्यानसे दूर रहता है उसके सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जो दु पुण्णं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १३०]

जो सदा पुण्य भाव और पाप भावसे दूर रहता है उसके सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जो दु हस्सं रई सोगं अरतिं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १३१]

जो सदा हास्य रति, शोक और अरतिको छोड़ता है उसके सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जो दुगुंछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १३२]

जो सदा जुगुप्सा, भय, वेद, इन सबको छोड़ता है उसीके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ [नि० १३३]

जो सदा धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है उसके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

परमभक्ति

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥ [नि० १३४]

जो श्रावक अथवा श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमें भक्ति करता है उसके मोक्षकी कारणभूत भक्ति अथवा निर्वाण-भक्ति होती है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है।

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं ॥ [नि० १३५]

जिन पुरुषोंने मोक्ष प्राप्त किया है, उनके गुणोंके भेदको जानकर जो उनमें परम भक्ति करता है, व्यवहार नयसे उसे भी निर्वाण भक्ति कहा है।

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती।
तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं॥ [नि० १३६]

जो जीव मोक्षके मार्गमें अपनेको स्थापित करके निर्वाण भक्ति करता है, उससे वह जीव पर निरपेक्ष आत्मिक गुणोंसे युक्त अपनी आत्माको प्राप्त करता है।

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कहं हवे जोगो॥ [नि० १३७]

जो साधु रागादिको दूर करनेमें अपनेको लगाता है वह योग भक्तिसे युक्त होता है। जो ऐसा नहीं करता उसके योग कैसे हो सकता है?

सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कहं हवे जोगो॥ [नि० १३८]

जो साधु सब विकल्पोंके अभावमें अपनेको लगाता है वह योगभक्तिसे युक्त है। जो ऐसा नहीं करता उसके योग कैसे हो सकता है।

योगका स्वरूप

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावे सो हवे जोगो॥ [नि० १३९]

विपरीत (मिथ्या) अभिप्राय को छोड़कर जो जैन शासनमें कहे हुए तत्त्वोंमें अपनेको लगाता है उसका यह निज भाव ही योग है।

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं।
णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं॥ [नि० १४०]

भगवान ऋषभदेव आदि चौवीस तीर्थङ्करोंने इस प्रकार योगकी उत्तम भक्तिको करके मोक्षके सुखको प्राप्त किया। इसलिये योगकी उत्तम भक्तिको धारण करो।

निश्चय आवश्यक

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुइमग्गो त्ति पिज्जुत्तो॥ [नि० १४१]

जो दूसरेके वशमें नहीं होता उसके कर्मको आवश्यक कहा है। यह आवश्यक कर्म कर्मोंको नाश करनेमें समर्थ है। इसीसे उसे मोक्षका मार्ग कहा है।

आवश्यक निर्युक्तिका अर्थ

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा ।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती ॥ [नि० १४२]

जो किसीके वशमें नहीं है उसे अवश कहते है। और अवशके कर्मको आवश्यक कहते हैं ऐसा जानना चाहिये। तथा निरवयव अर्थात् शरीर रहित होनेके युक्ति अर्थात् उपायको निर्युक्ति कहते हैं। अतः जो पर द्रव्योंके वशमे नहीं है वह शरीर रहित हो जाता है यह आवश्यक निर्युक्ति की व्युत्पत्ति है।

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण ।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे ॥ [नि० १४३]

जो श्रमण अन्यके वशमे होता है वह अशुभ भाव रूपसे प्रवृत्ति करता है। इसलिये उसका कर्म आवश्यक लक्षण वाला नहीं होता। अर्थात् कर्मोंके वशीभूत श्रमणका कर्म आवश्यक कर्म नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमे आवश्यकका लक्षण नहीं पाया जाता है।

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे ॥ [नि० १४४]

जो संयमी शुभ भावमे प्रवृत्ति करता है वह अन्यके वशमे होता है। इसलिये उसका कर्म आवश्यक लक्षण वाला नहीं होता।

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो ।
मोहांधयारववगयसमणा कहयंति एरिसयं ॥ [नि० १४५]

जो मुनि द्रव्योंके गुणों और पर्यायोंका चिन्तन करता है वह भी अन्यके वशमे है, ऐसा मोहरूपी अन्धकारसे रहित श्रमण कहते हैं।

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं ।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ॥ [नि० १४६]

जो साधु पर भावको त्यागकर निर्मल स्वभाव वाले आत्माका ध्यान करता है वह आत्मवश अर्थात् स्वाधीन है, और उसके कर्मको आवश्यक कहते हैं।

आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणहि थिरभावं ।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ॥ [नि० १४७]

हे मुनि ! यदि तू आवश्यक कर्मकी इच्छा करता है तो तू आत्म-स्वभावमे स्थिर भावको कर, अर्थात् आत्म स्वभावमे स्थिर रह। उसीसे अर्थात् आत्म स्वभावमे स्थिर रहनेसे जीवका श्रामण्य गुण (मुनिपद सम्वन्धी गुण अर्थात् सामायिक) सम्पूर्ण होता है।

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा ॥ [नि० १४८]

जो श्रमण आवश्यक कर्म नहीं करता वह चारित्रसे भ्रष्ट होता है। अतः पहले कहे हुए क्रमके अनुसार आवश्यक करना चाहिये।

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अतरगप्पा।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि वहिरप्पा ॥ [नि० १४९]

जो श्रमण आवश्यक कर्मोंसे युक्त है वह अन्तरात्मा होता है और जो श्रमण आवश्यक कर्मोंको नही करता वह वहिरात्मा अर्थात् मिथ्या-दृष्टि होता है।

अंतर वाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ वहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो वुच्चइ अंतरगप्पा ॥ [नि० १५०]

जो श्रमण अन्तरंग और वाह्य जल्प अर्थात् वचन विलासमे लगा रहता है वह वहिरात्मा है। और जो वचन विलासमे प्रवृत्ति नहीं करता उसे अन्तरात्मा कहते हैं।

जो धम्म-सुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो वहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥ [नि० १५१]

जो साधु धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यानमें लीन रहता है वह भी अन्तरात्मा है। तथा जो श्रमण ध्यान नहीं करता वह वहिरात्मा है ऐसा जानो।

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥ [नि० १५२]

निश्चय प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंको करने वाले श्रमणके निश्चय चारित्र होता है। इसलिये वह श्रमण वीतराग चारित्रमें स्थित होता है।

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चक्खाणणियमं च।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झाओ ॥ [नि० १५३]

वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्या यान और नियम, वचनमय आलोचना, ये सब स्वाध्याय जानो। अर्थात् प्रतिक्रमण पाठ पढ़ना आलोचना पाठ पढ़ना आदि स्वाध्यायमे सम्मिलित है, वह प्रतिक्रमण या आलोचना आदि नहीं है।

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादि करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जो जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ॥ [नि० १५४]

यदि तुममे करनेकी शक्ति है तो ध्यानमय प्रतिक्रमणादि करो। यदि तेरेमे शक्ति नहीं है तो श्रद्धान ही करना चाहिये।

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादि य परीक्खऊण फुडं।
मोणव्वएण जोई णियकज्जं साहये णिच्चं ॥ [१५५]

जिन भगवानके द्वारा कहे गये परम सूत्रमें प्रतिक्रमणादिकी स्पष्ट रूपसे परीक्षा करके योगीको मौनव्रतपूर्वक अपना कार्य नित्य साधना चाहिये।

णाणा जीवा णाणा कम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥ [नि० १५६]

नाना प्रकारके जीव हैं, नाना प्रकारके कर्म हैं, जीवोंकी नानाप्रकारकी लब्धियां हैं। इसलिये अपने साधर्मियोंसे तथा विधर्मियोंसे वादविवाद नहीं करना चाहिये।

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ॥ [नि० १५७]

जैसे एक मनुष्य निधिको पाकर उसका फल अपने जन्म स्थानमें स्वजनोंमे भोगता है। वैसे ही ज्ञानी ज्ञाननिधिको पाकर परद्रव्योंको छोड़कर उसको भोगता है।

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं च काऊण!
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्जय केवली जादा ॥ [नि० १५८]

सभी पुराण पुरुष इसी प्रकार आवश्यकोंको करके और अप्रमत्त आदि गुणस्थानो को प्राप्त होकर केवली हुए।

—:०:—

६. बोधप्राभृत अधिकार

बहुसत्थ-अत्थजाणे संजम-सम्मत्त-सुद्धतवयरणे ।
वंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिए सुद्धे ॥१॥

सय[1]ल-जण-बोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं ।
[2]वुच्छामि समासेण य छक्कायहियंकरं सुण[3]ह ॥२॥

बहुतसे शास्त्रोंके अर्थको जाननेवाले, संयम और सम्यक्त्वसे शुद्ध तपश्चरण करने वाले, और कषायरूपी मलसे रहित पवित्र आचार्योंको नमस्कार करके, सब जीवोंको ज्ञान करानेके लिये जैनमार्गमे जिनेन्द्रदेवने जैसा कहा है, छै कायके जीवोंके लिये सुखकारी उस कथनको संक्षेपसे कहता हूँ । हे भव्यजीवों सुनो ।

जाननेयोग ग्यारह वस्तु

आयदणं चेयहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं ।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमा[4]दिभूदत्थं ॥३॥

अ[5]रहंतसुदिट्ठं जं देवं तित्थं च तहय अरहंतं ।
पावज्ज गुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो ॥४॥

आयतन, चैत्यगृह, जिन प्रतिमा, दर्शन, वीतराग, जिन बिम्ब, जिन मुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अरहन्त तथा गुणोंसे पवित्र प्रव्रज्या, अर्हन्त देवके द्वारा सम्यक् रीतिसे देखे गये और इन मूलभूत पदार्थोंको क्रमानुसार जानना चाहिये ।

आयतनका स्वरूप

मण-वयण-कायदव्वा आ[6]इत्ता जस्स इंदिया विसया ।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजय रूवं ॥ ५ ॥

मन वचन और काय रूप द्रव्य तथा इन्द्रियोंके विषय जिसके अधीन हैं, ऐसे संयमीके रूपको जिन मार्गमे आयतन कहा है ।

---

१. सव्वजण- ऊ । २. वच्छामि आ०, वोच्छामि ग० । ३. सुणसु ग० ऊ० । -४. मादत्थं- आ० । ५. अरहंतेणसुदिट्ठं -आ० । ६. आसत्ता आ० ग० ।

मय-राय-दोस-[1]मोहा कोहो लोहो य जस्स आइत्ता ।
पंचमहव्वयधारी आयदणं महरिसी भणियं ॥६॥

मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध और लोभ जिसके वशमे हैं, पाँच महाव्रतोंके धारी उस महर्षिको आयतन कहा है ।

सिद्धायतन

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स ।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं ॥७॥

जिस विशुद्ध ध्यानवाले ज्ञानी मुनिश्रेष्ठके शुद्ध आत्माकी सिद्धि हो गई है उसे समस्त पदार्थोंको जानने वाला सिद्धायतन कहा है ।

चैत्यग्रहका स्वरूप

[2]बुद्धं जं वोहंतो अप्पाणं चेइयाइं अण्णं च ।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥८॥

जो आत्माको ज्ञानस्वरूप जानता हुआ चैत्यस्वरूप अन्य आत्माओं-को भी ज्ञानस्वरूप जानता है, पाँच महाव्रतोसे पवित्र उस ज्ञानमय आत्माको चैत्यगृह-चैत्यालय जानों ।

चे[3]इय बंध मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अ[4]प्पयं तस्स ।
चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ॥९॥

चैत्यगृह कहे जानेवाले उस ज्ञानमय आत्मामे चैत्यके निमित्तसे वन्ध, मोक्ष, सुख और दुःख कम ही होता है । उस चैत्यगृहको जिन मार्गमे छै कायके जीवोंका हित करनेवाला कहा है ।

जिनप्रतिमाका स्वरूप

सपरा जंगमदे[5]हा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं ।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिया ॥१०॥

दर्शन और ज्ञानके साथ निर्मल चारित्रवाले मुनियोंके आत्मासे भिन्न जो निर्ग्रन्थ और वीतराग चलते फिरते हुए शरीर हैं, जिनमार्गमें इसी तरहकी प्रतिमा होती है ।

जं चरदि सुचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
[6]सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥११॥

---

१. मोहो आ० ग० । २. सुद्धं ऊ० । ३. चेई- ग० ऊ० । ४. अप्पे यतस्य ऊ० । ५. देहो आ० । ६. सो आ० ग० ।

जो शुद्ध चारित्रका आचरण करता है, शुद्ध सम्यक्त्वमय आत्माको जानता और देखता है उस निर्ग्रन्थ मुनिका स्वरूप जिन प्रतिमा है, वह वन्दनीय है।

सिद्धप्रतिमाका स्वरूप

दंसण अणत[1]णाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य।
सासयसुक्ख[2]यदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं ॥१२॥
णिरुवममचलमखोहा णिम्मविया जंगमेण रूवेण।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा[3] सिद्धा ॥१३॥

अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान अनन्त वीर्य और अनन्त सुखसे युक्त, शाश्वत अर्थात् सदा रहने वाले सुखमय देहवाली, आठ कर्मोंके बन्धनसे मुक्त, उपमा रहित, अचल, क्षोभ रहित, जंगम रूपसे बनाई गई, सिद्धालयमें विराजमान कायोत्सर्गरूप प्रतिमा निश्चयसे सिद्ध परमेष्ठीकी होती है।

दर्शनका स्वरूप

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च।
णिग्गंत्थं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ॥१४॥

जो सम्यक्त्व रूप, संयम रूप, सुधर्म रूप, निर्ग्रन्थ रूप और ज्ञानमय मोक्षमार्गको दर्शाता है, उसे जैन मार्गमें दर्शन कहा है।

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं सुघियमयं चावि।
तह [4]दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥१५॥

जैसे फूल गन्धमय होता है और दूध सुघृतमय होता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन भी ज्ञानमय और स्वरूपमें स्थितिरूप होता है।

जिन बिम्बका स्वरूप

जिणबिम्बं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥१६॥

ज्ञानमय संयमसे शुद्ध और वीतराग जिनबिम्ब होता है, जो कर्मोंका क्षय करनेवाली शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देता है।

तस्स य करहु पणामं सव्वं पुज्जं च विणयवच्छल्लं।
जस्स य दसणणाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो ॥१७॥

---

१. णाणी– आ० ऊ०। २. सुक्खदेहा ऊ०। ३. धुवो ग०, धुवे ऊ०। ४. दंसणम्मि आ०, ग०, ऊ०।

जिसके निश्चयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चैतन्यभाव है उसको प्रणाम करो, और सब तरहसे विनय और वात्सल्य भाव पूर्वक उसकी पूजा करो।

तव-वय-गुणेहि सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
अरहंतमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य ॥१८॥

जो तप व्रत और गुणोंसे पवित्र है, शुद्ध सम्यक्त्वको जानता और अनुभव करता है वही अरहन्त भगवानकी मुद्रा है। और वह दीक्षा तथा शिक्षा देनेवाली है।

जिनमुद्राका स्वरूप

दिढसंजममुद्दाए इंदियमुद्दा कसायदिढमुद्दा।
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया ॥१९॥

शरीरको दृढ़ संयमसे अलंकृत करना संयम मुद्रा है, इन्द्रियोंको वशमें करना इन्द्रिय मुद्रा है, दृढ़ता पूर्वक कषायोंको त्यागना कषाय मुद्रा है, आत्माको ज्ञानसे अलंकृत करना ज्ञान मुद्रा है। इन मुद्राओंसे युक्त जिनमुद्रा कही है।

ज्ञानका स्वरूप

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥२०॥

संयमसे संयुक्त और उत्तम ध्यानके योग्य मोक्ष मार्गके लक्ष्यको यह जीव ज्ञानके द्वारा प्राप्त करता है। अतः ज्ञानको जानना चाहिये।

जह णवि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झमविहीणो।
तह णवि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥२१॥

जैसे निशाना साधनेके अभ्याससे रहित मनुष्य बाणके लक्ष्यको नहीं पाता, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य मोक्षमार्गके लक्ष्यको नहीं पाता।

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥२२॥

ज्ञान पुरुषके होता है और विनय सहित सत्पुरुष ही ज्ञानको प्राप्त करता है। तथा ज्ञाता पुरुष ज्ञानसे मोक्ष मार्गके लक्ष्यको प्राप्त करता है।

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं।
परमत्थबद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥२३॥

जिसके पास मतिज्ञानरूप मजबूत धनुष है, श्रुतज्ञान रूपी डोरी है, रत्नत्रय रूपी अच्छे बाण हैं और जिसने परमार्थको निशाना बनाया है, वह मोक्षमार्गसे नहीं चूकता।

देवका स्वरूप

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं [1]सुदेइ णाणं च।
सो देइ जस्स अत्थि दु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥२४॥

जो जीवोंको अर्थ, धर्म, काम और मोक्षका कारण ज्ञान देता है वही देव है; क्योंकि जिस पुरुषके पास जो वस्तु होती है वही उसे देता है। अतः जो अर्थ, धर्म और प्रव्रज्याको देता है वही देव है।

धर्म प्रव्रज्या और देवका स्वरूप

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥२५॥

जो दयासे पवित्र है वह धर्म है, जिसमें समस्त परिग्रहोंका त्याग किया जाता है वह प्रव्रज्या है और जो मोह रहित तथा भव्यजीवोंके अभ्युदयका कारण है वह देव है।

१. कामं च देइ ग०।

तीर्थका स्वरूप

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचिंदियसंजदे णिरावेक्खे।
ण्हाएउ मुणी तित्थे दिक्खासिक्खासुण्हाणेण ॥२६॥

व्रत और सम्यक्त्वसे विशुद्ध, पाँचो इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले और इस लोक तथा परलोकके भोगोंकी इच्छासे रहित मुनिरूपी तीर्थमें दीक्षा और शिक्षा रूपी स्नानके द्वारा स्नान करो। अर्थात् मुनिरूपी तीर्थके पास जाकर उनसे शिक्षा लो और धर्मकी दीक्षा लो।

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतभावेण ॥२७॥

यदि शान्त भाव पूर्वक निर्मल उत्तम धर्म, निर्मल सम्यक्त्व, निर्मल संयम, निर्मल तप और निर्मल ज्ञान हो तो उसे जिन मार्गमे तीर्थ कहा है।

अर्हन्तका स्वरूप

[1]णामे ठवणे हि य संदव्वे भावे य सगुणपज्जाया।
चउणागदि संपदिमे (?) भावा भावंति अरहंतं ॥२८॥

---

१. णामेणिय ठ्ठवणे हि य दव्वे आ०।

नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप, इन चारके द्वारा अरहन्तका स्वरूप जाना जाता है। किसी व्यक्तिका नाम अरहन्त रखा गया हो तो वह नाम अरहन्त है। अर्हन्तकी प्रतिमा स्थापना अरहन्त है। जो जीव अरहन्त होने वाला है वह द्रव्य अरहन्त है। तथा अरहन्तके गुणों और पर्यायसे विशिष्ट केवली जिन भाव अरहन्त हैं। च्यवन अर्थात स्वर्गसे च्युत होना, आगति अर्थात् गर्भमें आना, संपत् (रत्नवृष्टि आदि बाह्यलक्ष्मी तथा अन्तरंग लक्ष्मी) भाव अरहन्त अवस्थाके सूचक हैं।

दंसण अणंतणाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण।
णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होइ ॥२६॥

जिसके अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान है, स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धकी अपेक्षा आठो कर्मोका बन्ध नष्ट हो जानेसे जिसे भावमोक्ष प्राप्त हो गया है और जो अनुपम गुणोंको धारण किये हुए हैं, ऐसे आत्माको अर्हन्त कहते हैं।

जर-वाहि-जम्म-मरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥३०॥

जो बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, चारों गतियोंमें भ्रमण, पुण्य, पाप, रागादि दोष और ज्ञानावरण आदि कर्मोंको नष्ट करके ज्ञानमय हो गया है वह अरहन्त है।

गुणठाण-मग्गणेहि य पज्जत्ती-पाण-जीवठाणेहिं।
ठावणपंचविहेहिं पणयव्वा अरुहपुरिसस्स ॥३१॥

गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण और जीवस्थान, इन पाँच प्रकारोंसे अर्हन्त पुरुषकी स्थापना करनी चाहिये।

अरहन्तका गुणस्थान

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो।
चउतीस अइसयगुणा हुंति हु तस्सट्ठ पडिहारा ॥३२॥

तेरहवें संयोग केवली गुणस्थानमें अरहन्त होता है। उसके चौतीस अतिशय रूप गुण होते हैं तथा आठ प्रातिहार्य होते हैं।

मार्गणा

गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य ।
संजम दसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥३३॥

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कपाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार, इन चौदह मार्गणाओंमें अरहन्तकी स्थापना कर लेनी चाहिये ।

पर्याप्ति

आहारो य सरीरो[1] तह इंदिय आणपाणभासमणो ।
पज्जत्ति गुण[2]समिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरुहो ॥३४॥

उत्तम देव अरहन्त आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन, इन छै पर्याप्तिरूप गुणोंसे सम्पन्न होता है। अर्थात् अरहन्तकी छै पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं ।

प्राण

पच वि इंदियपाणा मण-वचि-काएण तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा ॥३५॥

स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रिय प्राण, मन वचन काय तीन बल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयु प्राण, ये दस प्राण होते हैं ।

जीवस्थान

मणुय भवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे ।
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरुहो ॥३६॥

मनुष्यगतिमे पञ्चेन्द्रिय नामका चौदहवाँ जीव समास है। उसमें उक्त गुणोंके समूहसे युक्त और तेरहवें गुण स्थानमें वर्तमान अर्हन्त होता है ।

अर्हन्तका शरीर

जर-वाहि-दुक्ख-रहियं आहार-णिहार-वज्जियं विमलं ।
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य ॥३७॥
दस पाणा पज्जत्ती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया ।
गोखीर-संखधवलं मसं रुहिरं च सव्वगे ॥३८॥

---

१. –रो इंदियमण आणपाण भासा य, ग० । २. –णविसुद्धो ग० ऊ० ।

एरिसगुणेहि सिद्धं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं ।
ओरालियं च कायं णायव्वं अरुहपुरिसस्स ॥३९॥

अर्हन्त पुरुषका औदारिक शरीर बुढ़ापा, रोग और दुःखसे रहित, आहार और निहार (मलमूत्र) से रहित. निर्मल, तथा नासा मल, थूक, पसीना ग्लानि आदि दोषोंसे रहित होता है। और दस प्राण, पर्याप्ति और एक हजार आठ लक्षणोंसे सहित होता है। सर्वाङ्गमें गोदुग्ध और शंखके समान सफेद मांस और रुधिरसे सहित होता है। इस प्रकारके गुणोंसे परिपूर्ण, अतिशयवाला और अत्यन्त सुगन्धित शरीर अर्हन्तके होता है।

अर्हन्तका भाव

मय-राय-दोस-रहिओ कसाय-मल-वज्जिओ य सुविसुद्धो ।
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावो[1] मुणेयव्वो ॥४०॥

अरहन्तका भाव मद राग और द्वेषसे रहित होता है, कपायरूपी मलसे रहित और अत्यन्त निर्मल होता है तथा चित्तकी चञ्चलतासे रहित होता है। ऐसा जानना चाहिये।

सम्मद्दंसणि पस्सइ जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया ।
सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरुहस्स णायव्वो ॥४१॥

अर्हन्तका भाव सम्यक्त्व गुणसे विसुद्ध जानना चाहिये। सम्यग्दर्शनके द्वारा वह स्वस्वरूपको देखता है और केवल ज्ञानके द्वारा समस्त द्रव्यो और उनकी समस्त पर्यायोंको जानता है।

साधुओं के रहने योग्य स्थान

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा ।
गिरिगुह-गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिमे वा ॥४२॥
सवसासत्तं तित्थं वच चइदालत्तयं[2] च वुतेहिं (?) ।
जिणभवणं अह वेज्भं जिणमग्गे जिणवरा विंति ॥४३॥

मुनियोको शून्य घरमे, अथवा वृक्षके नीचे, अथवा उद्यानमे, अथवा स्मशान भूमिमे, अथवा पर्वतोंकी गुफामे, अथवा पर्वतके शिखरपर, अथवा भयंकर वनमे अथवा वसतिकामे रहना चाहिये। ये सभी स्थान स्वाधीन हैं। जो अपने अधीन हो, ऐसे तीर्थ, शास्त्र, चैत्यालय और उक्त

---

१. केवल भावे आ० ग० । २. –त्तायं च वुत्ते दि ऊ० ।

स्थानोके साथ साथ जिन भवनको जिनेन्द्रदेव जैन मार्गमें पवित्र मानते हैं।

पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा।
सज्झाय-झाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छंति ॥४४॥

पाँच महाव्रतोंके धारक, पाँचों इन्द्रियोंको जीतनेवाले, भोगोंक इच्छासे रहित, और स्वाध्याय तथा ध्यानमे लगे रहने वाले श्रेष्ठ मुनिवर उक्त स्थानोको ही पसन्द करते हैं।

प्रव्रज्याका स्वरूप

गिह-गंथ-मोह-मुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४५॥

जो घर और परिग्रहके मोहसे मुक्त है, अर्थात् जिसमे न घरमें रहा जाता है और न रंचमात्र भी परिग्रह रखी जाती है, जिसमें बाईस परीषहोंको सहा जाता है, कषायोंको जीता जाता है और जो पापपूर्ण आरम्भसे रहित है, जिन भगवानने ऐसी प्रव्रज्या—दीक्षा कही है।

धण-धण्ण-वत्थदाणं हिरण्ण-सयणासणाइ [1]छत्ताइं।
कुद्दाण-विरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४६॥

जो धन, धान्य और वस्त्रदान, तथा चाँदी, शय्या, आसन और छत्रदान आदि कुदानोसे रहित है अर्थात् जिसमे इस प्रकारकी वस्तुओंका दान नहीं लिया जाता है और जो विरह-वियोगसे रहित है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।

सत्तू-मित्ते[2] य समा पसंस-णिंदा-अलद्धि-लद्धिसमा।
तिणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४७॥

जिसमे शत्रु और मित्रके विषयमें समान भाव रहता है, प्रशंसा और निन्दामे तथा लाभ और अलाभमें समान भाव रहता है, तृण और कंचनमे समान भाव रहता है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।

---

१. चत्तायं आ०, छिताइं, 'ग०,। २. मित्ते व स- ऊ०।

उत्तम-मज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खो ।

सव्व¹त्थ गिहदि पिंडं पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४८॥

जिसमें मुनि उत्तम और मध्यम घरमें तथा दरिद्र और धनवानमें भेद न करके निरपेक्ष भावसे सर्वत्र आहार ग्रहण करता है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा² अराय-णिद्दोसा ।

णिम्मम-णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४६॥

जो परिग्रह रहित है, आसक्ति रहित है, मान रहित है, आशा रहित है, राग रहित है, दोष रहित है, ममत्व रहित है और अहंकार रहित है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार-णिक्कलुसा ।

णि³ब्भय-णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०॥

जो स्नेह रहित है, लोभ रहित है, मोह रहित है, विकार रहित है, कालिमा रहित है, भय रहित है, आशा भावसे रहित है, ऐसी जिन दीक्षा कही गई है ।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता ।

परकिय-णिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५१॥

जिसमें जन्मे हुए शिशुके समान नग्न रूप रहता है, दोनों भुजाओंको लटका कर ध्यान किया जाता है, अस्त्र शस्त्र नहीं रखा जाता है, और दूसरेके द्वारा छोड़े गये आवासमें रहना होता है, ऐसी शान्त जिनदीक्षा कही गई है ।

उवसम-खम-दमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रुक्खा ।

मय-राय-दोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५२॥

जो उपशम (शान्त भाव), क्षमा और इन्द्रिय निग्रहसे सहित है, जिसमें शरीरका संस्कार नहीं किया जाता, तेल मर्दन नहीं किया जाता, और जो मद राग तथा द्वेषसे रहित है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ।

---

१. जोगे च 'गि-' ग० । २. णा सोयराय- 'ग०' । ३. णिब्भयणि-रासव भा- ग० ।

विवरीयमूढभावा पणट्ठ-कम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता।
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५३॥

जो मूढ़तासे रहित है, जिसके द्वारा आठों कर्म नष्ट कर दिये जाते हैं, जिसमे मिथ्यात्वका नाश हो जाता है और जो सम्यग्दर्शन गुणसे निर्मल होती है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसंघयणेसु भणिय णिग्गंथा।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥५४॥

जैन मार्गमे छहों संहनन वाले जीवोंके जिन दीक्षा कही गई है अर्थात् छहो संहननोमेसे किसी भी संहनन वाला जीव जिन दीक्षा धारण कर सकता है। निग्र न्थ भव्य पुरुष इस जिनदीक्षाकी भावना करते हैं क्योंकि इसे कर्मोंके क्षयका कारण कहा है।

तिल[1]ओसत्तणिमित्त[2] समबाहिरगंथसंगहो णत्थि।
पावज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरिसीहिं ॥५५॥

जिसमें तिल वरावर भी आसक्तिमें कारणभूत वाह्य परिग्रहका संग्रह नहीं है, ऐसी जिनदीक्षा होती है, जैसा कि सर्वज्ञ देवने कहा है।

उवसग्ग-परीसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अच्छेइ।
सिलकट्ठे भू[2]मितले सव्वे -आरुहइ सव्वत्थ ॥५६॥

जिसमें उपसर्ग और परीपहोंको सहा जाता है, उसको धारण करने वाला मुनि सदा निर्जन प्रदेशमें रहता है और सर्वत्र शिला, काष्ठ या भूमितलपर सोता उठता और बैठता है।

पसु-महिल-संढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ।
सज्झाय-झाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५७॥

जिसमें पशु स्त्री, नपुंसककी संगति और व्यभिचारियोंकी संगति नहीं की जाती, और न स्त्री आदिकी खोटी कथाएँ की जाती हैं, तथा जिसमें स्वाध्याय और ध्यानमें तन्मय होना होता है, ऐसी जिन दीक्षा कही गई है।

---

१ –लतुसमत्त– ग०। २. भूमितिणे, ग०, ऊ०।

[1]तव-वय-गुणेहि सुद्धा संजम-सम्मत्तगुणविसुद्धा य।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५८॥

जो तप, व्रत और गुणोंसे शुद्ध है, संयम और सम्यक्त्व गुणसे अत्यन्त निर्मल है, तथा दीक्षाके गुणोसे शुद्ध है, ऐसी शुद्ध जिनदीक्षा कही गई है।

एव [2]आयत्तणगुणपव्वज्जता बहुविसुद्धसम्मत्ते।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं ॥५९॥

इस प्रकार अत्यन्त विशुद्ध सम्यग्दर्शनसे सहित निर्ग्रन्थ जैनमार्गमें जैसा कहा है उसी प्रकारसे आयतनसे लेकर प्रव्रज्या पर्यन्त गुणोंका यहाँ संक्षेपसे कथन किया।

रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं।
भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहियंकरं उत्तं ॥६०॥

जिनवर भगवानने जैन मार्गमें आत्माकी शुद्धिके लिये निर्ग्रन्थ रूपका जैसा कथन किया है, भव्य जीवोंको समझानेके लिये छै कायके जीवोका हित करने वाले उस निर्ग्रन्थ रूपका यहाँ वैसा ही कथन किया गया है।

[3]सद्दवियारो हूओ भासा[4]सुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णा[5]णं सीसेण भद्दबाहुस्स ॥६१॥

शब्दके विकारसे प्रकट हुआ जो ज्ञान जिनेन्द्र देवने भाषात्मक सूत्रोमें कहा है, भद्रबाहुके शिष्य मुझ कुन्दकुन्दने वह ज्ञान वैसा ही यहाँ कहा है।

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयउ ॥६२॥

बारह अंगोंके ज्ञाता और चौदह पूर्वोंका विपुल विस्तार करने वाले गमक गुरु श्रुतज्ञानी भगवान भद्रबाहु जयवन्त हों।

---

१. यह गाथा आ० प्रतिमें नहीं है। २. आयत्तगुणपज्जंता, ग० ऊ०। ३. सद्दवियारू हुउ (शब्दविकारोद्भूतं) ग०। ४. –जुत्तेसु ग०। ५. णायं, ऊ०।

७. श्रामण्य-अधिकार

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ [प्रव० ३, १]

इस प्रकार जिनवरोंमे श्रेष्ठ अरहन्तोको, सिद्धोंको और श्रमणोको बारंबार नमस्कार करके, यदि कोई दुःखसे छूटना चाहते हैं तो श्रामण्य (मुनिधर्म) को स्वीकार करें।

श्रामण्य स्वीकार करनेसे पूर्व क्या करना चाहिये

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरु-कलत्त-पुत्तेहिं।
आसिज्ज णाण-दंसण-चरित्त-तव-वीरियायारं ॥
समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो॥ [प्रव० ३, २-३]

बन्धुवर्गसे पूछकर और गुरुजन स्त्री पुत्र वगैरहसे छुटकारा पाकर, ज्ञानाचार दर्शनाचार चारित्राचार तपाचार और वीर्याचारसे युक्त ऐसे श्रमण आचार्यके पास जावे जो गुणवान हों, कुल रूप और योग्य अवस्थासे विशिष्ट हों तथा अन्य श्रमणोको अतिप्रिय हों। जाकर उन्हें नमस्कार करे और कहे भगवन्! मुझे श्रामण्य पद प्रदान करें। तब आचार्यसे अनुगृहीत हुवा वह।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥ [प्रव० ३, ४]

'मै दूसरोंका नहीं हूँ और न दूसरे द्रव्य मेरे है, इस लोकमें मेरा कुछ भी नहीं है', ऐसा निश्चय करके वह जितेन्द्रिय-इन्द्रियोको जीतनेवाला, जिस रूपमे उसने जन्मलिया था उसी नग्न रूपका धारी हो जाता है।

श्रमणका द्रव्यलिंग और भावलिंग

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥

मुच्छारम्भविमुक्कं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥ [प्रव० ३, ५-६]

मुनिका यथाजात नग्न रूप· शिर और दाढ़ीके बालोंके लोंचसे युक्त, हिंसा आदि पापोंसे रहित और शरीरकी सँभाल वगैरहसे रहित निर्मल द्रव्यलिंग होता है। तथा ममत्व भाव और आरम्भसे रहित, उपयोग और मन वचन कायकी शुद्धिसे सहित, परकी अपेक्षा न करनेवाला और पुनर्जन्म धारण न करनेमें कारण ऐसा भावलिंग होता है। ये दोनों जैन लिंग हैं।

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता ।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥ [प्रव० ३, ७]

उत्कृष्ट गुरुसे उक्त लिंगको धारण करके और उन्हे नमस्कार करके फिर व्रत सहित क्रियाओंको सुनकर, मुनिपदमें स्थित होता हुआ वह श्रमण हो जाता है।

अट्ठाईस मूलगुण

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥ [प्रव० ३, ८-९]

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियोंका निरोध, केशलोंच, छै आवश्यक, नग्नरूप, स्नान न करना, पृथिवीपर शयन, दन्तधावन न करना, खड़े होकर भोजन करना और दिनमें एक बार भोजन करना, ये श्रमणोंके मूल गुण जिणवर भगवानने कहे हैं। जो श्रमण इन मूल गुणोंमें प्रमाद करता है वह छेदोपस्थापक होता है अर्थात् उसे व्रतोंको छेदकर पुन धारण करना होता है।

दीक्षाचार्यकी तरह निर्यापकाचार्य भी होते हैं

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि ।
छेदेसु अ वट्टगा सेसा णिज्जावगा समणा ॥ [प्रव० ३, १०]

उन श्रमणोंके श्रमण लिंग ग्रहण करनेके समय जो आचार्य दीक्षा

देता है वह गुरु होता है। और छेद होने पर जो श्रमण छिन्न संयमको पुन. धारण कराते हैं वे सब निर्यापकाचार्य कहे जाते हैं।

छिन्न संयमको पुनः जोडनेकी विधि

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया॥
छेदपउत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं॥ [प्रव० ३, ११-१२]

[संयमका छेद दो प्रकारसे होता है – एक बहिरंग रूपसे, दूसरा अन्तरंग रूपसे] यदि श्रमण अन्तरंगसे संयममे सावधान है और सावधानता पूर्वक आरम्भ की गई किसी शारीरिक चेष्टामे उसका संयम भंग हो जाता है तो आलोचना पूर्वक शास्त्रोक्त क्रियाके द्वारा ही उसका प्रतिकार हो जाता है क्यों कि यहाँ अन्तरंग छेद नहीं है।

किन्तु यदि अन्तरंग रूपसे संयमका छेद हुआ हो तो उस श्रमणको जैन मार्गकी व्यावहारिक क्रियाओंमें चतुर किसी श्रमणके पास जाकर अपने दोषोंको सरलतासे निवेदन करना चाहिये और वह जैसा कहे वैसा करना चाहिये।

संयम भंगसे बचनेका उपदेश

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि॥ [प्रव०३,१३]

अधिकृत गुरुकुलमें रहते हुए अथवा गुरुरहित स्थानमें रहते हुए, संयमके भंगसे बचते हुए ही श्रमणको सदा पर द्रव्योमें अनुरागको टालते हुए श्रामण्य पदमे विहार करना चाहिये। [आशय यह है कि श्रमण अपने गुरुओके पास रहे या अन्य जगह रहे, परन्तु सर्वत्र उसे इष्ट-अनिष्ट विषयोंसे सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये क्योकि पर द्रव्यका सम्बन्ध हीं संयम भंगका कारण होता है।]

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो॥ [प्रव० ३,१४]

जो श्रमण नित्य ही अपने ज्ञान और दर्शन वगैरहमे लीन होता

हुआ मूल गुणोंमें सावधान होकर प्रवृत्ति करता है उसका श्रामण्य (मुनि धर्म) परिपूर्ण होता है अर्थात उसका संयम भंग नहीं होता।

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधिम्हि वा णिवद्ध णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥

भोजनमें अथवा उपवाससे, निवासस्थानमें अथवा विहारसे, परिग्रहमें अथवा अन्य मुनियोंसे, और विकथाओंमें श्रमण रागपूर्वक सम्बन्धको पसन्द नहीं करता। [सारांश यह है कि आगम विरुद्ध आहार विहारका निषेध तो पहले ही कर दिया गया है। मुनि होने पर योग्य आहार विहार वगैरहमें भी ममत्व नहीं करना चाहिये]।

छेदका स्वरूप

अपमत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा ॥ [प्रव० ३ १६]

श्रमणकी सोने, बैठने, खड़े होने और चलने आदिमें जो असावधानता पूर्वक प्रवृत्ति है, वह सदा अखण्डित रूपसे हिंसा मानी गई है।

मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि वंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ [प्रव० ३, १७]

जीव मरे अथवा जीवित रहे, जो अयत्नाचारी है—सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति नहीं करता, उसको हिंसा अवश्य होती है। और जो समितियोंका पालक और यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाला है, वाहरमें जीवघात हो जाने मात्रसे उसे हिंसाजन्य वन्ध नहीं होता। [सारांश यह है कि वाह्य हिंसा हो या न हो, किन्तु अन्तरङ्गमें हिंसाका भाव होने पर हिंसा नियमसे होती है]।

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥ [प्रव० ३, १८]

जो श्रमण अयत्नाचारी है वह छहो कायोके जीवोंका घातक माना गया है। किन्तु यदि वह सर्वदा सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति करता है तो जलसे कमलकी तरह कर्मवन्धरूपी लेपसे रहित होता है।

परिग्रह अन्तरंग छेदका कारण है

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि ।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्व ॥ [प्रव० ३,१९]

श्रमणके शारीरिक क्रिया करनेसे किसी जीवके मर जानेपर कर्मबन्ध होता भी है और नहीं भी होता । किन्तु परिग्रहसे बन्ध अवश्य होता है इसलिये श्रमण समस्त परिग्रहको छोड़ देते हैं ।

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी ।
अविसुद्धस्स य चित्ते कह णु कम्मक्खओ विहिओ ॥ [प्रव०३,२०]

यदि परिग्रहका त्याग सर्वथा निरपेक्ष न हो तो श्रमणके चित्तकी विशुद्धि नहीं होती । और जिसका चित्त निर्मल नहीं है उसके कर्मोंका नाश कैसे हो सकता है ?

इसीको स्पष्ट करते है

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स ।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥ [प्रव० ३, २१]

परिग्रहके होते हुए उस श्रमणके ममत्व परिणाम, आरम्भ और असंयम कैसे नहीं है ? तथा परवस्तुमें लीन होनेके कारण वह अपनी आत्माका साधन कर कैसे सकता है ? [सारांश यह है कि परिग्रहको सर्वथा छोड़ना ही चाहिये] ।

अनिषिद्ध परिग्रह

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥ [प्रव० ३, २२]

जिस परिग्रहके ग्रहण करने अथवा छोड़ने पर, उस परिग्रहका सेवन करने वाले श्रमणके संयमका छेद नहीं होता, काल और देशको जानकर इस लोकमे वह श्रमण उस परिग्रहको स्वीकार करे ।

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं ।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥ [प्रव० ३,२३]

जो परिग्रह बन्धका कारण नहीं है, संयमके सिवाय अन्य किसी कार्यमें उसका उपयोग न होनेसे असंयमी लोग जिसे नहीं माँग सकते,

तथा जो ममत्व भाव उत्पन्न नहीं करती, ऐसी परिग्रहको श्रमण ग्रहण करे। किन्तु इससे विपरीत थोड़ी भी परिग्रह ग्रहण न करे।

उत्सर्ग मार्ग ही वास्तविक है

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि।
सग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥ [प्रव० ३, २४]

पुनर्जन्मको न चाहने वाले मुमुक्षुको अपने शरीरमें भी 'यह परिग्रह है' ऐसा मानकर जिनवर भगवानने उपेक्षा करनेका ही उपदेश किया है। ऐसी स्थितिमें यह विचार होता है कि क्या कुछ परिग्रह है? [आशय यह है कि जब शरीरको भी परिग्रह मानकर उसकी भी उपेक्षा करनेका उपदेश पाया जाता है तब मुमुक्षुके लिये अन्य परिग्रहको ग्रहण करनेका तो प्रश्न ही नहीं है]।

अपवादरूप परिग्रह

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥ [प्रव० ३, २५]

जैन मार्गमें नग्न दिगम्बर रूप द्रव्यलिंग, गुरुके वचन, विनय रूप परिणाम और परमागमका पठन ये चार उपकरण कहे हैं। [जो परिग्रह अपवाद रूपसे मुनिधर्मके पालनमें सहायक होती है उसे उपकरण कहते है। निश्चयसे जैन मार्ग ये चार ही उपकरण मुनिके लिये ग्राह्य हैं]।

श्रमणको कैसा होना चाहिये

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥ [प्रव० ३, २६]

श्रमण ख्याति पूजा लाभरूप इस लोककी इच्छाओंसे रहित होता है, पर लोककी भी अभिलाषा नहीं रखता अर्थात् तपश्चरण करनेसे परलोकमें देवांगना वगैरह मिलती हैं, यह भावना उसके नहीं होती। उसका आहार विहार युक्त होता है और वह कषायसे रहित होता है।

युक्त आहार अनाहार और युक्त विहार अ-विहार ही है—

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥ [प्रव० ३ २७]

जिस श्रमणका आत्मा समस्त भोजनोंकी इच्छासे रहित होनेके कारण निराहारी है अर्थात् उपवासी है, उसके लिये तो वह निराहार ही तप है। उस निराहार अवस्थाके अभिलाषी जो श्रमण एषणा दोषोंसे रहित अन्य भिक्षा ग्रहण करते हैं वे आहार करते हुए भ निराहारी हैं।

केवलदेहो समणो देहे वि ममत्तरहिदपरिकम्मो।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥ [प्रव० ३, २८]

श्रमणके केवल एक शरीररूप ही परिग्रह होती है और उस शरीरमे भी उसे ममत्व नहीं होता। तथा अपनी शक्तिको न छिपाकर वह उस शरीरको तपस्यामे लगाता है। [सारांश यह है कि जो देहके सिवाय शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है और शरीरमें भी ममत्व नहीं रखता तथा उसे तपमे लगाये रखता है वह मुनि युक्त आहार विहार वाला होता है]।

युक्ताहारका स्वरूप

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥ [प्रव०३,२९]

श्रमणका आहार युक्ताहार है क्योंकि प्रथम तो श्रमण दिनरातमें एक ही बार भोजन ग्रहण करते हैं। दूसरे, पेटभर भोजन नहीं करते। तीसरे, जैसा कुछ मिल जाता है उसे ही ग्रहण कर लेते हैं। चौथे, भिक्षाचारके द्वारा ग्रहण करते हैं। पाँचवे, दिनमे ही भोजन करते है। छठे, रसकी अपेक्षा नहीं रखते, सरस विरस भोजनमे समचित्त होते हैं और मधु मांसको ग्रहण नहीं करते। [सारांश यह है कि इस प्रकारका आहार ही तपस्वियोंका युक्ताहार है जो इसके विपरीत है वह युक्ताहार नहीं है।]

उत्सर्ग और अपवाद मार्गमें एकरूपता होनी चाहिये —

बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥ [प्रव० ३,३०]

श्रमण बालक हो, अथवा वृद्ध हो, अथवा श्रमसे थका हुआ हो, अथवा रोगी हो, उसे अपने योग्य चर्याका पालन इस प्रकार करना चाहिये जिससे मूल संयमका घात न हो।

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥ [प्रव० ३,३१]

यदि वैसा करनेसे थोड़े ही पापसे लिप्त होता है तो वह श्रमण देश, काल, मार्ग वगैरहका श्रम, उपवास आदि करनेकी शक्ति और शरीर रूप परिग्रहको जानकर ही आहार और विहारमें प्रवृत्ति करता है। [आशय यह है कि देश कालको जानने वाला भी श्रमण बचपन, बुढ़ापा, रोग आदिके कारण यदि आहार विहारमें प्रवृत्ति करता है तो आचारमें थोड़ी शिथिलता आनेसे थोड़ेसे पापसे तो लिप्त होता ही है इसलिये उत्सर्ग मार्ग श्रेष्ठ है। किन्तु ऐसा करनेसे थोड़ा ही तो पाप होता है इसलिये अपवाद मार्ग श्रेष्ठ है क्योंकि थोड़ेसे पापके भयसे यदि वह आहार विहारमें प्रवृत्ति नहीं करता तो उसे अति कठोर आचरणके द्वारा मर कर स्वर्गमें जन्म लेना पड़ेगा और तब उसका सब संयम नष्ट हो जायेगा। अतः अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेष्ठ नहीं है। तथा देशकालको जानने वाला कोई श्रमण यदि बचपन, बुढ़ापा, थकावट, रोग आदिके कारण आहार विहारमें स्वेच्छाचारी बनकर असंयमी जनोंकी तरह प्रवृत्ति करता है तो उसको महान पापका बन्ध होता है तथा वह संयमसे भ्रष्ट हो जाता है। अतः उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद भी श्रेष्ठ नहीं है]।

श्रमणको शास्त्राभ्यासी होना चाहिये —

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥ [प्रव० ३,३२]

श्रमण एकाग्रचित्त होता है। और एकाग्रचित्त वही होता है जिसे अर्थोंका निश्चय होता है। तथा अर्थोंका निश्चय आगमसे होता है इसलिये आगमका अभ्यास करना ही श्रमणका मु य कार्य है।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥ [प्रव० ३,३३]

आगमके ज्ञानसे रहित श्रमण न अपनेको जानता है और न परको जानता है। और आत्मादि पदार्थोंको बिना जाने भिक्षु कर्मोंका कैसे विनाश कर सकता है।

आगम ही साधुके नेत्र हैं—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥ [प्रव० ३,३४]

साधुके नेत्र आगम हैं, समस्त प्राणियोंके नेत्र इन्द्रियाँ है। देवों का नेत्र अवधि ज्ञान है, और सिद्धोंके तो सब ओर नेत्र ही नेत्र है।

आगम रूपी नेत्रसे सब दिखाई देता है—

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा॥ [प्रव० ३,३५]

अपने अनेक गुण-पर्यायोंके साथ सभी अर्थ आगमसे जाने जाते है। उन पदार्थों को वे श्रमण भी आगमके द्वारा देखकर ही जानते हैं।

आगमके विना संयम नहीं—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्त असंजदो होदि किध समणो॥ [प्रव० ३,३६]

'इस लोकमे जिसके शास्त्रज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं होता उसके संयम भी नहीं होता' ऐसा आगम कहता है। और जो असंयमी है वह श्रमण कैसे हो सकता है?

आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयमके विना मोक्ष नहीं—

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि॥ [प्रव० ३,३७]

यदि जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान नहीं है तो आगमके जाननेसे भी मुक्ति नहीं होती। अथवा जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान होते हुए भी यदि असंयमी है तो भी मुक्ति नहीं होती।

ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण॥ [प्रव० ३,३८]

अज्ञानी लाखो करोड़ों भवोंमें जितने कर्मका क्षय करता है, उस कर्मको तीन गुप्तियोंका पालक ज्ञानी एक उच्छ्वास मात्रमें क्षय कर देता है।

परिग्रहीको मोक्ष नहीं—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥ [प्रव० ३,३९]

जिस पुरुषका शरीर आदिमें यदि एक अणुके बराबर भी ममत्व है तो समस्त आगमोंका जाननेवाला होनेपर भी वह मुक्तिको प्राप्त नहीं करता ।

ऐसा श्रमण ही संयमी है—

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ [प्रव० ३,४०]

जो श्रमण पाँच समितियोका पालक है, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित है, पाँचो इन्द्रियोंके विषयोसे विरक्त है, कषायोंको जीतनेवाला है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानसे पूर्ण है, उसे संयमी कहा है ।

श्रमणका स्वरूप

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ [प्रव० ३,४१]

जो शत्रु और बन्धु-बान्धवोंमे समान हैं, सुख और दुःखमे समान है, निन्दा और प्रशंसामे समान हैं, पत्थर और सुवर्णमे समान है तथा जीवन और मरणमे समान हैं, वही श्रमण है ।

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥ [प्रव० ३,४२]

जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों भावोमे एक साथ तत्पर है वह एकाग्रचित्त माना गया है और उसीका श्रामण्य (मुनिधर्म) परिपूर्ण होता है । [पहले गाथा ३२ मे श्रमणको एकाग्रगत कहा था । यहाँ एकाग्रगतका खुलासा किया है] ।

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ [प्रव० ३,४३]

यदि श्रमण परद्रव्यको लेकर मोह करता है अथवा राग करता है अथवा द्वेष करता है तो वह अज्ञानी अनेक प्रकारके कर्मोंसे बँधता है ।

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि ।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥ [प्रव० ३,४४]

जो श्रमण यदि परपदार्थोंमें मोह नहीं करता, राग नहीं करता और न द्वेष करता है, तो वह श्रमण निश्चित रूपसे अनेक कर्मोंका क्षय करता है ।

श्रमणके दो भेद

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥ [प्रव० ३, ४५]

आगममें श्रमण दो प्रकारके कहे हैं—एक शुद्धोपयोगी और एक शुभोपयोगी । इन दोनोंमें भी शुद्धोपयोगी श्रमण कर्मोंके आस्रवसे रहित होते हैं और बाकीके सब शुभोपयोगी श्रमण कर्मोंके आस्रववाले होते हैं । अर्थात् समस्त शुभ अशुभ संकल्प-विकल्पोंसे रहित होनेके कारण शुद्धोपयोगी श्रमणोंके कर्मोंका आस्रव नहीं होता । बाकीके शुभोपयोगी श्रमणोंके यद्यपि मिथ्यात्व और विषय कषायरूप अशुभ आस्रव नहीं होता किन्तु पुण्य कर्मका आस्रव तो होता ही है ।

शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥ [प्रव० ३,४६]

यदि साधुपदमें अर्हन्त सिद्धोंमें भक्ति और आचार्य उपाध्याय साधुओंमें वात्सल्य भाव रहता है तो साधुकी वह चर्या शुभोपयोगसे युक्त है ।

शुभोपयोगी श्रमणोंकी प्रवृत्ति

वंदण-णमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥ [प्रव० ३,४७]

श्रमणोंको आता हुआ देखकर वन्दना नमस्कारपूर्वक उठकर खड़ा होना, उनके पीछे-पीछे चलना, उनका आदर तथा उनका श्रम दूर करना, ये कार्य सराग चारित्र अवस्थामें निषिद्ध नहीं है । अर्थात् शुद्धोपयोगके साधक किन्तु शुभोपयोगमें लगे हुए साधुओंकी रत्नत्रयके आराधक महा-मुनियोंमें इस प्रकारकी प्रवृत्ति उचित ही है ।

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥ [प्रव० ३,४८]

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका उपदेश देना, रत्नत्रयके आराधनकी शिक्षा ग्रहण करनेवाले शिष्योंको अपने पास रखना, उनके खाने-पीनेकी चिन्ता करना तथा जिनेन्द्र पूजा वगैरहका उपदेश देना ये सब सराग चरित्रके धारी श्रमणोंकी चर्या है।

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥ [प्रव० ३,४९]

जो भी श्रमण ऋषि, यति, मुनि और अनगारके भेदसे चार प्रकारके श्रमणोंके संघका, छै कायके जीवोंकी विराधना न करते हुए सदा उपकार करता है वह भी सरागचारित्रवाले श्रमणोंमें प्रधान होता है।

संयमकी विरोधी प्रवृत्ति

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाण से ॥ [प्रव० ३.५०]

यदि श्रमणोंकी वैयावृत्यमें तत्पर हुआ कोई श्रमण छै कायके जीवोंकी विराधना करता है तो वह श्रमण नहीं है, गृहस्थ है, क्योंकि छै कायके जीवोंकी विराधना करके धर्म करना श्रावकोंका कार्य है, साधुओंका नहीं।

उपकार कैसे करे

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥ [प्रव० ३,५१]

गृहस्थ अथवा मुनिकी चर्यासे युक्त जैनोंका, ख्याति लाभ पूजा वगैरहकी इच्छा न रखते हुए दया भावसे उपकार करो, भले ही उसमें थोड़ा-सा पाप भी हो।

उपकार कब करे

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥ [प्रव० ३,५२]

रोगसे, अथवा भूखसे, अथवा प्याससे, अथवा मार्ग उपवास वगैरहके श्रमसे पीड़ित श्रमणको देखकर साधु अपनी शक्तिभर उसकी सेवा करे।

अज्ञानी जनोंसे बोलनेका नियम

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥ [प्रव० ३,५३]

रोगी, गुरु, बालक और वृद्ध श्रमणोंकी वैयावृत्यके लिये लौकिक जनोंके साथ शुभोपयोगको लिये हुए बातचीत करना निषिद्ध नहीं है। [साराश यह है कि जब कोई शुभोपयोगवाला आचार्य किसी सरागचरित्र अथवा वीतराग चारित्रके धारी मुनिकी वयावृत्य करता है तब उस वैयावृत्यके लिये लौकिक जनोंके साथ बातचीत करता है, शेष समयमें नहीं]।

उक्तचर्या श्रावकोंका मुख्य कर्तव्य है—

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥ [प्रव० ३,५४]

यह प्रशस्तरागरूप चर्या श्रमणोंके होती है और गृहस्थोंके भी होती है। किन्तु श्रमणोंके मुख्य रूपसे होती है ऐसा परमागममें कहा है। गृहस्थ लोग उस शुभोपयोग रूप चर्यासे ही मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं।

पात्र भेदसे शुभोपयोगके फलमें भेद

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥ [प्रव० ३,५५]

दान, पूजा आदि रूप प्रशस्त राग जघन्य मध्यम उत्कृष्ट पात्ररूप वस्तुके भेदसे विपरीत फल देता है। जैसे धान्यकी उत्पत्तिके समय अनेक भूमियोंमें डाले हुए बीज विपरीत फल देते हैं।

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥ [प्रव० ३, ५६]

अल्पज्ञानियोंके द्वारा कल्पना किये गये देव, गुरु, शास्त्र आदि वस्तुओंमें व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान और दान आदि क्रियाओंको करनेवाला मनुष्य मोक्षको प्राप्त नहीं करता, किन्तु सातवेदनीयरूप मनुष्य या देवपर्यायको प्राप्त करता है। [आशय यह है कि सर्वज्ञके द्वारा बतलाये हुए देवादिमें उपयोग लगानेसे शुभोपयोगका फल पुण्य संचयपूर्वक मोक्षप्राप्ति होता है। किन्तु

अल्प ज्ञानियोके द्वारा बतलाये हुए यम नियम आदि करनेसे जो शुभोपभोग होता है उसका फल केवल सांसारिक सुखकी प्राप्ति होती है]।

कुपात्र दानका फल

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु ।
जुट्ठं कद व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥ [प्रव० ३, ५७]

परमार्थको नहीं जाननेवाले और विषय कषायोंमे फँसे हुए मनुष्योकी सेवा, वैयावृत्य आदि करना, अथवा उन्हे आहार आदि देना कुदेवो और मनुष्योके रूपसे फलता है। अर्थात् उन्हे दान आदि देनेवाले मरकर कुदेव या नीच मनुष्य होते हैं।

उक्त कथनको दृढ करते हैं—

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु ।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥ [प्रव० ३, ५८]

यदि शास्त्रोंमे उन विषय-कषायों को पाप कहा है तो विषय कषायमें फँसे हुए पुरुष संसारसे उतारने वाले कैसे हो सकते हैं। [सारांश यह है कि विषय कषाय पाप रूप है अत विषयी कषायी पुरुष भी पापी ही हैं इसलिये वे अपने भक्तोंको संसारसे पार नहीं उतार सकते]।

सुपात्रका लक्षण

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥ [प्रव० ३,५९]

जो पुरुष पापसे रहित है, सब धार्मिकोंमे समभाव रखता है और गुणोके समूहका सेवक है वह सुमार्गका अर्थात् मोक्ष मार्गका भागी होता है।

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ [प्रव० ३,६०]

उक्त पुरुष अशुभोपयोगसे रहित होते हुए कभी शुद्धोपयोगी और कभी शुभोपयोगी होते है और भव्य जीवोको संसारसे पार लगाते हैं। उनका भक्त उत्तम सुखको प्राप्त करता है।

मुनियोंके सत्कारकी विधि

दिट्ठा पगदं वत्थुं अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥ [प्रव० ३,६१]

निर्ग्रन्थ निर्विकार रूपके धारी तपस्वी पात्रको देखकर अतिथिके योग्य अभ्युत्थान (उठकर खड़े हो जाना) आदि क्रियाओंको करे। उसके बाद उसे गुणोंसे विशिष्ट करे ऐसा सर्वज्ञ देवका उपदेश है।

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं।
अंजलिकरणं पणमं भणिदं इह गुणाधिगाणं हि ॥ [प्रव० ३,६२]

इस लोकमें जो अधिक गुणवाले तपस्वी जन है उनको आते देखकर उठके खड़ा होना, आगे जाकर उन्हे ग्रहण करना, उनकी सेवा करना, उनके खान पानका प्रवन्ध करना, उनका सत्कार करना; दोनो हाथ जोड़ना और उन्हे प्रणाम करना कहा है।

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥ [प्रव० ३,६३]

जो श्रमण यद्यपि चारित्र गुणमें अधिक नहीं हैं किन्तु परमागमके ज्ञाता होनेसे सम्यग्ज्ञान गुणमें ज्येष्ठ हैं, श्रुतकी विनयके लिये श्रमणको उनके लिये भी खड़ा होना योग्य है। तथा भक्ति पूर्वक उनकी सेवा करना भी योग्य है। और जो संयम तप और ज्ञानसे परिपूर्ण हैं उनको नमस्कार करना योग्य है।

श्रमणाभासका स्वरूप

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥ [प्रव० ३,६४]

जो संयम, तप, और श्रुतसे युक्त होते हुए भी यदि जिन भगवानके द्वारा कहे हुए तत्त्वोंका, जिनमे आत्म तत्त्व प्रधान है, श्रद्धान नहीं करता है तो उसे आगममे श्रमण नहीं माना है।

सच्चे श्रमणको नहीं माननेवालेकी बुराई

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥ [प्रव० ३ ६५]

जो मोक्षमार्गमें स्थित श्रमणको देखकर कषायवश दूषण लगाता है और यथायोग्य वन्दना आदि क्रियाओंमें उन्हे नहीं मानता, वह साधु निश्चयसे चारित्रहीन है।

स्वयं गुणहीन होते हुए गुणाधिकसे विनय चाहनेवालेकी बुराई

गुणदोधिगस्स विणय पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति।
होज्ज गुणाधरो जदि सो होदि अणंतससारी॥ [प्रव० ३, ६६]

जो स्वयं गुणोंसे हीन होता हुआ भी 'मैं भी श्रमण हूं' इस अभिमानसे यदि गुणोंसे अधिक अन्य तपस्वियोंसे अपनी विनय कराना चाहता है तो वह अनन्त संसारमें भ्रमण करता है।

स्वयं गुणोंमें अधिक होते हुए हीन गुणवालोंकी विनय करनेका दोष

अधिकगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहि किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता॥ [प्रव० ३,६७]

चारित्रमें अधिक गुणवाले श्रमण यदि गुणहीन श्रमणोंके साथ वन्दना आदि क्रियाओंमें प्रवृत्ति करते हैं तो वे मिथ्यात्वसे युक्त होते हुए चारित्रभ्रष्ट हो जाते हैं।

लौकिक जनोंकी कुसंगतिका निषेध

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि॥ [प्रव०३,६८]

जो आत्मा आदि पदार्थोंका कथन करने वाले सूत्रार्थ पदोंका ज्ञाता है, और जिसकी क्रोधादि कषाय शान्त हैं तथा जो विशिष्ट तपस्वी भी है फिर भी यदि वह लौकिक जनोंकी संगति नहीं छोड़ता है तो वह संयमी नहीं हो सकता। [सारांश यह है कि स्वयं ज्ञानी तपस्वी होते हुए भी यदि चारित्रहीन पुरुषोंकी संगति नहीं छोड़ता तो अति परिचय होनेसे जैसे आगके संसर्गसे जल विकृत हो जाता है वैसे ही वह भी विकारी हो जाता है]।

लौकिक जनका लक्षण

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंजुदो चावि॥ [प्रव०३,६९]

जो परिग्रहसे रहित होनेसे निर्ग्रन्थ है और जिसने विधि पूर्वक दीक्षा ग्रहण की है, वह संयम और तपसे युक्त होने पर भी यदि इस लोक सम्बन्धी कामोंको करता है अर्थात् ख्याति, पूजा और लाभके लिये ज्योतिष; मंत्र तंत्र वगैरह का प्रयोग करता है; उसे लौकिक कहा है।

उत्तम संगतिका उपदेश

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्च इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ [प्रव० ३,७०]

चूंकि हीनकी संगति करनेसे गुणोंकी हानि होती है इसलिये यदि श्रमण दुःखसे छूटना चाहता है तो उसे सदा अपने समान गुणवाले अथवा अपनेसे अधिक गुणवाले श्रमणके समीप रहना चाहिये।

श्रमणाभासोंकी दशा

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो पर कालं ॥ [प्रव० ३, ७१]

जो अपने अविवेकसे पदार्थोंको अन्यथा जानते हुए भी यह निश्चय करते है कि जैसा हमने जाना है वही वस्तुका स्वरूप है, वे अज्ञानी मुनि पदमे स्थित होते हुए भी आगे अनन्तकाल तक भ्रमण करते हैं। और वह अनन्तकाल कभी अन्त न होने वाले नरकादि गतियोके दुःखोंसे भरपूर होता है।

किसका श्रामण्य पूर्ण है

अजधाचारविजुदो जधत्थपदणिच्छिदो पसतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥ [प्रव०३,७२]

जो श्रमण विपरीत आचरण नहीं करता, और जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा ही पदार्थो को निश्चित रूपसे जानता है, तथा जो राग द्वेषसे रहित है, उसीका श्रामण्य सम्पूर्ण है और वह इस संसारमे चिरकाल तक नहीं जीता अर्थात् शीघ्र मोक्ष चला जाता है।

शुद्धोपयोगी श्रमण

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा ॥ [प्रव० ३, ७३]

जो सम्यक् रूपसे पदार्थोंको जानते हैं, और बाह्य तथा अन्तरंग परिग्रहको छोड़कर पाँचो इन्द्रियोके विषयोंमे अनासक्त हैं उन शुद्ध आत्माओंको शुद्धोपयोगी कहा है।

शुद्धोपयोगकी महिमा

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥ [प्रव० ३ ७४]

शुद्धोपयोगीके ही श्रामण्य कहा है, शुद्धोपयोगीके ही केवल ज्ञान और केवलदर्शन कहे हैं। तथा शुद्धोपयोगीको ही निर्वाण की प्राप्ति कही है। वही सिद्ध है। उसे नमस्कार हो।

—:०—

८. श्रामण्य भाव अधिकार

भावका महत्त्व

भावो य पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति ॥ [भा० प्रा० २]

जिनदीक्षाका प्रथम चिह्न भाव है। द्रव्यलिंग—बाह्यवेषको परमार्थरूप मत जान। जिनेन्द्रदेव भावको गुणों और दोषोंका कारण कहते हैं ॥

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरसंगजुत्तस्स ॥ [भा० प्रा० ३]

भावको निर्मल करनेके लिए बाह्य परिग्रहका त्याग किया जाता है। अभ्यंतर परिग्रहसे सहित मुनिका बाह्यत्याग निष्फल है अर्थात् जिस मुनिके चित्तमें वस्त्र आदि बाह्य परिग्रहकी चाह है उसने यदि वस्त्र आदि बाह्य परिग्रहका त्यागकर दिया है तो उसका कुछ फल नहीं है।

भाव रहितको मोक्ष नहीं

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥ [भा० प्रा० ४]

आत्मस्वरूपकी भावनासे रहित जीव यदि करोड़ों जन्म तक भुजाओं-को लटकाकर और वस्त्रको त्यागकर तपश्चरण करे तौ भी उसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ।

परिणामम्मि असुद्धे गथे मुंचेइ बाहिरे य जई ।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणई ॥ [भा० प्रा० ५]

परिणामके अशुद्ध होते हुए अर्थात् मनके विषय कषायसे मलिन होते हुए यदि मुनि बाह्य परिग्रहको छोड़ देता है । तो भावरहितका बाह्य परिग्रहका त्याग क्या कर सकता है अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता ।

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण ।
[1]पंथिय सिवउरिपथे जिणउवइट्ठं पयत्तेण [भा० प्रा० ६]

हे पथिक ! मोक्षपुरीके मार्गमें जिनवर भगवान्‌के द्वारा कहे हुए भावको प्रयत्नपूर्वक मुख्य जान । तेरे इस भावरहित द्रव्यलिंगसे क्या ? ।

भावरहियएण सउरिस अणाइकाल अणंतसंसारे ।
गहि उज्झियाइ बहुसो बाहिरणिग्गंथरूवाई ॥ [भा० प्रा० ७]

हे सज्जनोत्तम ! आत्मस्वरूपकी भावनासे रहित तूने अनादिकालसे इस अनन्त संसारमें बाह्य निर्ग्रन्थ वेषोंको अनेक बार धारण किया और छोड़ा ।

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए ।
पत्तो सि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ॥ [भा०प्रा० ८]

हे जीव ! तूने भयंकर नरकगतिमें, तिर्यञ्चगतिमें, कुदेव और कुमनुष्योंमें जन्म लेकर तीव्र दुःख पाया है । अब जिन भावनाको भा अर्थात मिथ्यात्वको छोड़कर सम्यक्त्वको ग्रहण कर ।

सत्तसु णरयावासे दारुणभीमाइ असहणीयाइं ।
भुत्ताइं सुइरकालं दुक्खाइं [2]णिरंतरं भविय ॥ [भा० प्र० ९]

---

१ 'पंथिणासिवउरि पंथे ग'० पंथियस्विव ऊ० । २. णिरंतरं सहियं –आ, –णिरतरं कालं –'ग' ।

हे भव्य जीव ! तूने सातों नरकोंके विलोंमे अत्यन्त भयानक और न सहन कर सकने योग्य दुःख वहुत काल तक निरन्तर भोगे हैं।

खणणु-त्तावण-[1]वालण-वेयण-विच्छेयणाणिरोह च ।
पत्तो सि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं ।। [भा०प्रा० १०]

हे जीव ! आतमभावनासे रहित तूने तिर्यञ्चगतिमे चिरकालतक दुःख सहे है—पृथ्वीकायसे तूने खोदेजानेका दुःख सहा, जलकायमे तूने अग्निके ऊपर तपाये जानेका दुःख सहा, अग्निकायमे तूने जलनेका दुःख सहा वायुकायमे तूने पंखे वगैरहसे डुलाये जानेका दुःख सहा, वनस्पतिकायमे तूने छेदन-भेदनका दुःख सहा, और त्रसकायमे वॉधने वगैरहका दुःख सहा।

आगंतुक-माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तो सि अणतयं कालं ।। [भा० प्रा० ११]

हे जीव ! तूने मनुष्य जन्ममे अनन्तकाल तक आगन्तुक मानसिक सहज और शारीरिक चार प्रकारके दुःख पाये है। [अकस्मात् बिजली गिरने आदिसे होनेवाले दुःखको आगन्तुक कहते है। इष्टवियोग या अनिष्टसंयोगसे मनमे होनेवाली वेदनाको मानसिक दुःख कहते हैं रोग आदिसे होनेवाले दुःखको सहज कहते है। और शरीरके छेदन-भेदन आदिसे होनेवाले दुःखको शारीरिक कहते है]।

सुरणिलएसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं।
सपत्तो सि महाजस दुक्ख सुहभावणारहिओ ॥ [भा० प्रा० १२]

हे महायशस्वी ! शुभ भावनासे रहित होकर तूने स्वर्गलोकमे देवांगनाका वियोग होने पर और यदि तू देवी हुआ तो देवका वियोग होने पर वहुत अधिक मानसिक दुःख पाया।

कंदप्पमादिआओ पंच वि असुहादि भावणाई य।
भाऊण [2]दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥ [भा० प्रा० १३]

हे जीव ! द्रव्यलिंगी मुनि होकर तूने कन्दर्प आदि (कान्दर्पी,

---

१. –ण छालण विच्छे, –यणवेयणाणिरोहं –अ०। २. दव्वलिंगे ऊ०, दव्वलिंगो ग०।

किल्विषी, आभियोगीकी, दानवी और संमोही) पाँच अशुभ भावनाओं को भाया और उससे तू मरने पर स्वर्गमे नीच देव हुआ।

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ।
भाऊण दुह पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥ [भा० प्रा० १४]

हे जीव! अनादिकालसे अनेक वार पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकारके मुनियोकी भावनाको भाकर तूने खोटी भावनाओंके परिणाम रूप बीजोंसे दुःख पाया। [जो मुनि उपकरणोंके द्वारा आजीविका करता हुआ श्रमणोके पासमे रहता है वह पार्श्वस्थ है। जिसको आत्मा कषायसे मलिन है और जो व्रत गुण शीलसे रहित है तथा संघका अविनय करता है वह कुशील मुनि है। वैद्यक, मंत्र, ज्योतिष आदिसे आजीविका करने वाले और राजा वगैरहके सेवक मुनिको संसक्त कहते है। गुरुके पासमे न रहकर जो अकेला स्वच्छन्द विहार करता है, जिनागमके दूषक उस मुनिको मृग चारित्र अथवा स्वच्छन्द कहते हैं। जो मुनि जिनवचन को नहीं जानता, चारित्रके भारसे मुक्त है, ज्ञान और आचरणसे भ्रष्ट है, उसे अवसन्न कहते है]।

देवाण गुणविहूई इड्ढी माहप्प बहुविहं दट्ठुं।
होऊण हीणदेवो पत्तो बहु माणसं दुक्खं ॥ [भा० प्रा० १५]

हे जीव! नीच देव होकर तूने अन्य देवोके गुण, विभूति, ऋद्धि तथा अनेक प्रकारके माहात्म्यको देखा और उससे तूने बहुत मानसिक दुःख पाया।

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो।
होऊण कुदेवत्त पत्तो सि अणेयवाराओ ॥ [भा० प्रा० १६]

हे जीव! तू चार प्रकारकी खोटी कथाओमे आसक्त होकर, आठ मदोसे उन्मत्त होकर तथा प्रकट रूपसे अशुभ परिणाम रूप प्रयोजनको लेकर अनेक वार कुदेवोंमे उत्पन्न हुआ।

असुई बीहच्छेहि य कलिमलबहुलाहिं गब्भवसहीहिं।
वसिओ सि चिर काल अणेयजणणीय मुणिपवर ॥ [भा०प्रा० १७]

हे मुनिश्रेष्ठ! अनेक माताओंके अपवित्र, भयानक, और गन्दे मैलसे भरे हुए गर्भ स्थानमे तुम बहुत काल तक रहे हो।

पीओ सि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं ।
अण्णण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ॥ [भा० प्रा० १८]

हे महायशके धारी ! तुमने अनन्त जन्मोंमें भिन्न भिन्न माताओंके स्तनोंका सागरके पानीसे भी ज्यादा दूध पिया है। अर्थात् अनन्त भावोंमें तुमने माताओंका इतना दूध पिया है कि यदि उसे एकत्र किया जा सके तो वह समुद्रके पानीसे भी ज्यादा हो जायेगा।

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाण अणेयजणणीणं ।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहियय्रं ॥ [भा०प्रा०१६]

हे मुनि ! तुम्हारे मरने पर दुःखसे भिन्न भिन्न माताओंके रोनेसे उत्पन्न हुआ आँखोंका जल समुद्रके पानीसे भी अधिक है। अर्थात् तुमने अनन्त वार जन्म लेकर अनन्तवार मरण किया। और तुम्हारे मरनेपर तुम्हारे वियोगसे दुखी माताओंने इतने आँसु बहाये हैं कि यदि उन्हें एकत्र किया जा सके तो वे सागरके जलसे भी अधिक होंगे।

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झिय केस-णहर-णालट्ठी ।
पुंजइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी ॥[भा०प्रा०२०]

हे मुनि ! इस अनन्त संसार समुद्रमें तुम्हारे शरीरोंके काटकर फेंके हुए केश, नख, नाल और हड्डियोंको यदि कोई जगतमें इकट्ठा करे तो मेरु पर्वतसे भी ऊँचा ढेर हो जाय।

जल-थल-सिहि-पवणंवर-गिरि-सरि-दरि-तरुवणाइ सव्वत्तो ।
वसिओ सि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो ॥ [भा०प्रा०२१]

हे जीव ! पराधीन होकर तू तीनों लोकोंके बीचमें जल, थल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, गुफा, देवकुरु, उत्तरकुरु भोग भूमि और वन वगैरहमें सर्वत्र चिरकाल तक रहा है।

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोयरवत्तियाइं सव्वाइं ।
पत्तो सि तो ण तित्तिं पुणरुत्तं ताइं भुंजंतो ॥ [भा० प्रा० २२]

हे जीव ! तूने इस लोकमें स्थित सभी पुद्गलोंका भक्षण किया। और उनको बारंबार भोगता हुआ भी तृप्त नहीं हुआ।

तिहुवणसलिलं सयलं पीय तण्हाए पीडिएण तुमे ।
तो वि ण तण्हाछेश्रो जाश्रो चिंतेह भवमहण ॥ [भा० प्रा० २३]

हे जीव ! तूने प्यासके दुखी होकर तीनों लोकोंका सारा जल पी लिया, फिर भी तेरी प्यास नहीं मिटी । अतः संसारका नाश करनेवाले रत्नत्रयका चिन्तन कर ।

गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं ।
ताण णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर ॥ [भा० प्रा० २४]

हे धीर मुनिवर ! तूने इस अनन्त संसार समुद्रमें जो अनेक शरीर ग्रहण किये और छोड़े हैं, उनकी कोई गिनती नहीं है ।

विसवेयण - रत्तक्खय - भय - सत्थग्गहणसकिलेसेण ।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥
हिम-जलण-सलिल-गुरुयर-पव्वय-तरु-रुहण-पडण-भगेहिं ।
रस-विज्जजोयधारणअणयपसंगेहिं विविहेहिं ॥
इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं ।
अवमिच्चु-महादुक्ख तिव्वं पत्तो सि तं मित्त ॥ [भा० प्रा० २५-२७]

विष, पीड़ा, रक्त क्षय (खून का बहुत अधिक निकल जाना), डर, और शस्त्र घातके संक्लेशसे, आहार और श्वासोच्छ्वासके रुकनेसे, बर्फ अग्नि और पानीमे गिरनेसे, महान् पर्वत और ऊँचे वृक्ष पर चढ़ते समय गिर जानेसे, पारेके विकारसे, बिजली गिर जाने तथा योगके धारण आदि अनेक अनीतिपूर्ण घटनाओंके द्वारा आयुका क्षय हो जाता है । इस प्रकार हे मित्र ! तूने तिर्यञ्च और मनुष्य गतिमे चिर काल तक जन्म लेकर अनेक बार अकाल मरणका कठोर महादुःख भोगा है ।

छत्तीस तिण्णिसया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि ।
अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तो सि णिगोयवासम्मि ॥ [भा० प्रा० २८]

हे जीव ! निगोदमे रहते हुए तू एक अन्तर्मुहूर्त कालमे छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरा ।

वियलिंदिए असीदिं सट्ठी चालीसमेव जाणेह ।
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवंऽतोमुहुत्तस्स ॥ [भा० प्रा० २९]

एक अन्तर्मुहूर्तमें होनेवाले इन क्षुद्र भवोंमे द्वीन्द्रियोंके अस्सी, त्रीन्द्रियों

के साठ, चौइन्द्रियोंके चालीस और पञ्चेन्द्रियोंके चौवीस भव होते हैं, ऐसा जानो। अर्थात् एक अन्तर्मुहूर्तमें होनेवाले छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस भवोंमेंसे यह जीव अस्सी वार दोइन्द्रियमें जन्म लेता है, साठ वार तेइन्द्रिय होता है, चालीस वार चौइन्द्रिय होता है और चौवीस वार पञ्चेन्द्रिय होता है।

रयणत्ते सुअलद्धे एवं भमिओ सि दीहसंसारे।
इय जिणवरेहि भणियं त रयणत्तं समायरह ॥ [भा० प्रा० ३०]

रत्नत्रयकी प्राप्ति न होनेसे हे जीव! तूने इस प्रकार दीर्घकाल तक संसारमें भ्रमण किया। अतः तू रत्नत्रयको धारण कर, ऐसा जिन भगवान ने कहा है।

रत्नत्रयका स्वरूप

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदि हु चारित्त[1]मग्गु त्ति ॥ [भा० प्रा० ३१]

आत्मामें लीन आत्मा निश्चय रूपसे सम्यग्दृष्टि होता है। जो आत्माको यथार्थ रूपमें जानता है वह सम्यग्ज्ञान है और जो आत्मामें तन्मय हो जाता है वही चारित्र है। इस प्रकार यह मोक्षका मार्ग है।

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मतराइ मरिओ सि।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ॥ [भा० प्रा० ३२]

हे जीव! तू अन्य अनेक जन्मोंमें कुमरण मरणसे मरा। अब जरा और मरणका नाश करनेवाले सुमरण मरणका चिन्तन कर।

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ।
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणओ सव्वो ॥ [भा०प्रा० ३३]

इस तीन लोक प्रमाण समस्त लोकमें परमाणु बराबर भी ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ द्रव्यलिंगको धारण करनेवाला जीव न जन्मा और न मरा हो।

कालमणंतं जीवो जम्म-जरा-मरणपीडिओ दुक्खं।
जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिएण ॥ [भा०प्रा० ३४]

इस जीवने परम्परासे भावरहित जिन लिंग धारण करकेयलाअत्रक

1. त्तमरिमुत्ति अ०।

जिनलिंग तो धारण किया किन्तु भावसे मिथ्यादृष्टि ही रहा, इससे दुःख ही पाया।

पडिदेस-समय-पुग्गल-माउग - परिणाम-णाम-कालट्ठं ।
गहिउज्झियाइं बहुश्रो श्रणंतभवसायरे जीवो ॥ [भा० प्रा० ३५]

अनन्त संसार समुद्रमें इस जीवने आयु कर्म, राग द्वेष रूप परिणाम, नामकर्म और उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालमें स्थित पुद्‌गलोंको प्रत्येक प्रदेशमें और प्रत्येक समयमें अनेक बार ग्रहण किया और छोड़ा। अर्थात् अनन्त संसारमें भ्रमण करते हुए इस जीव ने समस्त कर्म और नोकर्म पुद्‌गलोंको अनेक वार भोगकर छोड़ दिया, लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें यह जन्मा और मरा, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके प्रत्येक समयमें इसने जन्म लिया और मरण किया, जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त (नौग्रैवेयक पर्यन्त) चारो गतियोंकी सब आयुओंको भोगकर छोड़ दिया। और प्रत्येक योगस्थान, कषायाध्यवसायस्थान और अनुभागाध्यवसाय स्थानके द्वारा आठों मूल कर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त सब स्थितियोंको भोगा और छोड़ दिया। इस तरह इस जीवने अनेक वार पंच परावर्तन रूप संसारमें भ्रमण किया।

तेयाला तिण्णिसया रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं ।
मुत्तूणट्ठपएसा [1]कत्थ ण ढुरुढुल्लिश्रो जीवो ॥ [भा० प्रा० ३६]

तीन सौ तेतालीस राजु प्रमाण लोकक्षेत्रमे आठ मध्य प्रदेशोंको छोड़कर इस जीवने कहाँ भ्रमण नहीं किया अर्थात् सब जगह भ्रमण किया।

शरीरमें रोग

एक्केक्कंगुलिवाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं ।
अवसेसे य सरीरे रोया भणु कित्तिया भणिया ॥ [भा० प्रा० ३७]

मनुष्यों की एक एक अंगुलिमें छियानवें रोग होते हैं ऐसा जानो। तब बतलाईये कि बाकीके शरीरमे कितने रोग कहे हैं?

ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे ।
एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥ [भा० प्रा० ३८]

१. जत्थ आ०।

हे महायशस्वी मुनि ! पूर्व भवोंमें तूने पराधीन होकर उन सब रोगों-को सहा। अथवा अधिक कहनेसे क्या लाभ है, वर्तमानमें भी तू उनको नीचे कहे अनुसार सहन करता है।

पित्तंत-मुत्त-फेफस-कालिज्जय-रुहिर-खरिस-किमिजाले ।
उयरे वसिओ सि चिरं णवदसमासेहिं पत्तेहिं ।। [भा०प्रा० ३९]

हे मुनि ! तू पित्त, आंत, मूत्र, तिल्ली, जिगर, रुधिर, खकार और कीड़ोंसे भरे हुए उदरमें बहुत बार नौ दस मास तक रहा है

[1]दियसंगट्ठियमसणं आहारिय [2]मायमएण भुत्तं ते ।
छद्दि खरिसाण मज्झे जठरे वसिओ सि जणणीए ।। [भा०प्रा० ४०]

दाँतोंके संसर्गमें स्थित भोजनको ग्रहण करके तूने माताके द्वारा खाये गये अन्नको खाया है। और माताके उदरमें वमन और खकारके बीचमें निवास किया है।

सिसुकाले य [3]अयाणे असुइहि मज्झम्मि लोलिओ सि [3]तुहं ।
असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण [भा० प्रा० ४१]

हे मुनिवर ! बाल्य कालमें अज्ञानी होनेसे तू विष्टा आदि अपवित्र पदार्थोंके बीचमें लोटा है और बालपन होनेसे तूने अनेकबार अपवित्र वस्तुओंको खाया है।

मंसट्ठि-सुक्क-सोणिय-पित्तंत-सवत्त-कुणिम-दुग्गंधं ।
खरिस-वस-पूइ-खिब्भिसभरियं चिंतेहि देहउडं ।। [भा० प्रा० ४२]

हे मुनि ! मांस, हड्डी, वीर्य, रुधिर, पित्त और आँतसे बहने वाली शवके समान दुर्गन्धित तथा खकार, चर्बी, और अपवित्र गन्दगीसे भरे हुए इस शरीररूपी घड़ेका स्वरूप विचार।

---

१. 'दियसगट्ठियमसणं आहारिय मायमणुय भुत्तते' ग० प्रतिमें पाठ है। जिसका अर्थ इस प्रकार किया गया है—कामके वश होकर स्त्रीका संसर्ग करने पर भोगके अन्तमें त्यागे गये वीर्यको माताके द्वारा धारण करनेसे तेरी उत्पत्ति हुई है। २. श्रुत सागरने 'मायभुत्तमण्णंते' पाठ रखकर उसका अर्थ किया—'माताके द्वारा खाये गये अन्नके बीचमें तू उदरमें बसा है। ३. तुमं आ० ग०।

मुक्त कौन है

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण ।
इय भाविऊण उज्झसु [1]गंथं अब्भंतर धीर ॥ [भा० प्रा० ४३]

जो रागादि भावोंसे मुक्त है वही मुक्त है। किन्तु जो बन्धु बान्धव आदि मात्रसे मुक्त है वह मुक्त नहीं है। अर्थात् अभ्यन्तर परिग्रहके होते हुए मात्र बाह्य परिग्रहका त्याग करना कार्यकारी नहीं है। ऐसा विचार कर हे धीर ! अभ्यन्तर मिथ्यात्व आदि परिग्रहका त्याग कर।

बाहुबलीका उदाहरण

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ [2]धीरो ।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तिय कालं ॥ [भा० प्रा० ४४]

शरीर आदि परिग्रहको छोड़ देनेवाले धैर्यशील बाहुबली मुनि मान कषायसे कलुषित होनेके कारण कितने ही काल तक आतापन योग करते रहे।

मधुपिंग मुनिका उदाहरण

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो ।
सवणत्तणं ण पत्तो [3]णियाणमित्तेण भवियणुय ॥ [भा० प्रा० ४५]

भव्यजीवोंसे नमस्कृत हे मुनिवर ! शरीर आहार आदिकी क्रियाओंको छोड़ देनेवाला मधुपिंग नामक मुनि निदान मात्रसे श्रमणपनेको प्राप्त नहीं हो सका।

वशिष्ठ मुनिका उदाहरण

अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण ।
सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिअ जीवो ॥ [भा०प्रा० ४६]

और भी एक वसिष्ठ मुनिने निदानके दोषसे दुःख पाया। ऐसा कोई निवास स्थान नहीं है, जहाँ जीवने भ्रमण नहीं किया।

भावका महत्त्व

सो णत्थि को वि देसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि ।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीव ॥ [भा०प्रा०४७]

---

१. संग ग। २. धीर ग०। ३. णिव्वाणं तेण ण हो मिति ग०।

हे जीव ! चौरासी लाख योनियोंके स्थानोंमे ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ भावरहित मुनिने भी भ्रमण न किया हो।

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ [1]दव्वलिंगेण ॥ [भा० प्रा० ४८]

भावलिंगसे मुनि जिनलिंगी होता है, भावके विना केवल द्रव्यलिंगसे (बाह्य वेशसे) मुनि जिनलिंगी नहीं होता। अतः भावलिंगको धारण करो, भाव रहित द्रव्यलिंगसे कुछ भी कार्य नहीं बन सकता।

बाहुमुनिका उदाहरण

दंडय-णयरं सयलं डहिओ अब्भंतरेण दोसेण।
जिणलिंगेण वि [2]बाहू पडिओ सो रउरवं णरयं ॥ [भा०प्रा०४९]

बाहु मुनिने अभ्यन्तरके दोषसे क्रोधवश होकर सम्पूर्ण दण्डक नगरको जलाकर भस्म कर दिया। और वह जिनलिंगका धारी होते हुए भी मरकर रौरव नरकमे गया।

द्वीपायन मुनिका उदाहरण

अवरो वि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो।
दीवायणु त्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ ॥ [भा० प्रा० ५०]

और भी एक सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रसे भ्रष्ट द्वीपायन नामक द्रव्यलिंगी मुनि अनन्त संसारी हुआ।

शिवकुमार मुनिका उदाहरण

भावसवणो य धीरो जुवईयणवेढिओ विसुद्धमई।
[3]णामेण सिवकुमारो परित्तससारिओ जादो ॥ [भा० प्रा० ५१]

शिवकुमार नामक भावलिंगी धीर वीर मुनि युवती स्त्रियोंके द्वारा घेरे जाने पर भी निर्मल मति रहनेके कारण परिमित संसार वाले हुए। अर्थात् ब्रह्मचर्यसे डिगाये जाने पर भी नहीं डिगे और उनके संसार भ्रमणका अन्त आ गया।

---

१. दव्वसवणेण अ० । २. साहू अ० ऊ० । ३. णियमेण आ० ।

अभव्यसेनका उदाहरण

केवलिजिणपण्णत्तं [1]एयादस अंग सयलसुदणाणं।
पढिओ अभव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥ [भा०प्रा० ५२]

केवली जिनके द्वारा कहे हुए ग्यारह अंग रूप समस्त श्रुतज्ञानको पढ़कर भी अभव्यसेन नामक मुनि भावमुनिपनेको प्राप्त नहीं हुआ।

शिवभूतिका उदाहरण

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥ [भा० प्रा० ५३]

विशुद्ध परिणाम वाले और महा प्रभावशाली शिवभूति नामक मुनि 'तुष माष' शब्द को घोखते हुए केवल ज्ञानी हो गये। यह बात प्रसिद्ध है।

भावलिंगकी सार्थकता

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीण णियरं णासइ [2]भावेण दव्वे य ॥ [भा० प्रा० ५४]

भावसे नग्न होता है, केवल बाहिरी नग्न वेषसे क्या लाभ है? भावके होने पर ही कर्मप्रकृतियोंके समूहका नाश होता है, मात्र द्रव्यके होने पर नहीं।

भाव रहित द्रव्यलिंगकी निरर्थकता

णग्गत्तणं अकज्ज भावणरहियं जिणेहि पण्णत्तं।
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं [3]धीर ॥ [भा० प्रा०५५]

भाव रहित नग्नपना कार्यकारी नहीं है, ऐसा जिनेन्द्र भगवानने कहा है। ऐसा जानकर हे धीर! सदा आत्माका चिन्तन कर।

भावलिङ्गी साधुका स्वरूप

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥ [भा०प्रा० ५६]

---

१. एसारस भेयसयल सुईणाण आ०, एयादसंग पुव्वसुदणाण ग०। २. भावेण दव्वेण ग०। ३. धीरा ग०।

जो शरीर आदि परिग्रहसे रहित है, मान कषायसे पूरी तरह छूटा हुआ है और जिसका आत्मा आत्मामें लीन है वह भावलिंगका धारी साधु है।

भावलिङ्गी साधुकी भावना

ममत्ति परिवज्जामि णिम्मत्तिमुवट्ठिदो।
आलवणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे॥ [भा० प्रा० ५७]

निर्ममत्व भावको अपनाते हुए मैं 'यह मेरा है और मैं इसका हूँ' इस ममत्व भावको छोड़ता हूँ। आत्मा ही मेरा आलम्बन है। शेष सबका मैं त्याग करता हूँ।

आदा खु मज्भ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे॥ [भा० प्रा० ५८]

यह निश्चित है कि आत्मा मेरे ज्ञानमें हैं, आत्मा मेरे दर्शन और चारित्रमें है। आत्मा प्रत्याख्यानमें है और आत्मा मेरे संवर और ध्यानमें है। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग ये सब आत्म स्वरूप हैं।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥ [भा० प्रा० ५६]

ज्ञान दर्शन स्वरूप एक मेरा आत्मा ही शाश्वत-अविनाशी है, बाकीके सभी मेरे भाव बाह्य हैं, जो कि परद्रव्यके संयोगसे प्राप्त हुए है।

शुद्ध आत्माकी भावनाका उपदेश

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊण जइ इच्छह सासयं सुक्खं॥ [भा० प्रा० ६०]

यदि शीघ्र ही चतुर्गतिस्वरूप संसारको छोड़कर शाश्वत सुखको प्राप्त करना चाहते हो तो शुद्ध भावोंके द्वारा सुविशुद्ध और निर्मल आत्माका चिन्तन करो।

शुद्धात्म भावनाका फल

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो।
सो जर-मरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं॥ [भा० प्रा० ६१]

जो जीव शुभभावोंसे संयुक्त होता हुआ आत्माके स्वरूपका चिन्तन करता है वह जरा और मरणका विनाश करके निश्चयसे मोक्ष प्राप्त करता है।

पुनः भावकी महत्ताका वर्णन

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण।
भावो कारणभूदो सायारणयारभूयाण ॥ [भा० प्रा० ६६]

भाव रहित पढ़नेसे भी क्या कार्य सिद्ध हो सकता है और भावरहित सुननेसे भी क्या कार्य सिद्ध हो सकता है? अर्थात् कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। मुनिपनेका और श्रावकपनेका कारण भाव ही है।

भावके विना नग्नता व्यर्थ है

दव्वेण मयलणग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥ [भा० प्रा० ६७]

नारकी तिर्यञ्च और अन्य सब जीव समूह द्रव्यसे (बाहरसे) नंगे रहते हैं। किन्तु भावसे वे अशुद्ध होते हैं अर्थात् उनके भाव शुद्ध नहीं होते, इसलिये वे भाव मुनिपनेको प्राप्त नहीं होते।

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ।
णग्गो ण लहइ बोही जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥ [भा० प्रा० ६८]

जिन भावनासे रहित नग्न जीव दुःख पाता है, जिन भावनासे रहित नग्न जीव संसाररूपी समुद्रमें भ्रमण करता है। और जिन भावनासे रहित नग्न जीव चिरकाल तक सम्यग्ज्ञानको प्राप्त नहीं कर पाता।

अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण।
पेसुण्ण-हास-मच्छर-मायाबहुलेण सवणेण ॥ [भा० प्रा० ६९]

हे मुनि! अपयशके पात्र और पापसे मलिन तेरी इस नग्नतासे तथा चुगली, हँसी मजाख, डाह और मायासे भरे हुए तेरे इस मुनि पदसे क्या लाभ है?

पयडहि जिणवरलिंगं अब्भंतर भावदोसपरिसुद्धो।
भावमलेण य जीवो बाहिरसगम्मि मइलियइ ॥ [भा० प्रा० ७०]

हे मुनि! अन्तरंग भावदोषसे बिल्कुल शुद्ध होकर तू जिन लिगको

धारण कर; क्योंकि भावोंके मलिन होनेसे जीव बाह्य परिग्रहमें मलिनता पैदा कर लेता है।

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥ [भा० प्रा० ७१]

जो धर्मसे रहित है, दोषोंका घर है और ईखके फूलके समान फल रहित और निर्गुण है, वह मुनि नग्न वेष धारण करनेवाला नट है। अर्थात् जैसे नट अनेक वेष धारण करता है वैसे ही उस मुनिने मुनिका नग्नवेष धारण कर लिया है।

जे रायसगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ॥ [भा० प्रा० ७२]

जो मुनि रागभाव रूप परिग्रहसे मुक्त हैं और जिन भावनासे रहित होनेके कारण द्रव्यरूपसे निर्ग्रन्थ हैं अर्थात् केवल नग्नवेष धारण किये हुए है, वे निर्मल जिन शासनमे कहे हुए सम्यग्ज्ञान और ध्यानको प्राप्त नहीं कर सकते।

भावलिंगपूर्वक ही द्रव्यलिंग होना चाहिये—

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊण।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥ [भा० प्रा० ७३]

पहले मुनि मिथ्यात्व आदि दोषोंको छोड़कर भावसे नग्न होता है। पीछे जिन भगवान्की आज्ञासे द्रव्य रूपसे लिंगको प्रकट करता है अर्थात् बाह्य रूपमे नग्न होता है।

भावके तीन भेद

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं अट्टरउद्दं सुहधम्म जिणवरिंदेहिं ॥ [भा० प्रा० ७४]

भाव तीन प्रकारका जानना चाहिये—शुभ, अशुभ और शुद्ध। आर्त और रौद्र तो अशुभ भाव हैं और जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रतिपादित धर्म शुभभाव है।

[1]सुक्कं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
[2]इय जिणवरेहि भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ [भा० प्रा० ७५]

---

१. सुद्धं ग० । २. इदि-ग० ।

शुक्लध्यान शुद्ध भाव है और आत्माका आत्मामें लीन होना शुक्लध्यान है यह जिनवर भगवानने कहा है। इनमेसे जो कल्याणकारी हो उसे धारण करो।

भावो वि दिव्व-सिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो॥ [भा० प्रा० ७६]

भावलिंग ही स्वर्ग और मोक्ष सुखका भाजन है। भावलिंगसे रहित पापी मुनिका चित्त कर्मरूपी मलसे मलिन होता है और वह तिर्यञ्चगतिका पात्र होता है।

खयरामर-[1]मणुयकरंजलिमालाहि य संथुया विउला।
चक्कहर-रायलच्छी लब्भइ [2]बोही ण भव्वणुया॥ [भा० प्रा० ७७]

जीव विद्याधर, देव और मनुष्योंके द्वारा अपने दोनों करोंकी अंजलियाँ बनाकर, उनके द्वारा स्तुत चक्रवर्तीकी राज्यलक्ष्मीको प्राप्त कर सकता है किन्तु भव्य जीवोंके द्वारा नमस्कृत सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति उसे नहीं हो सकती।

बोधकी प्राप्ति किसे होती है

पयलियमाण-कसाओ पयलिय-मिच्छत्त-मोह-सम-चित्तो।
पावइ तिहुयणसार बोही जिणसासणे जीवो॥ [भा० प्रा० ७८]

जैन धर्ममें, जिसकी मान कषाय पूरी तरहसे नष्ट हो गई है और मिथ्यात्व मोहनीयके पूरी तरहसे नष्ट हो जानेके कारण जिसका चित्त साम्य भावसे युक्त होता है, वही जीव तीनों लोकोंमें सारभूत बोधिको प्राप्त करता है।

तीर्थङ्कर नाम कर्मका बंध कौन करता है

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊणं।
तित्थयरणामकम्मं बधइ अइरेण कालेण॥ [भा० प्रा० ७९]

पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त श्रमण उत्तम सोलह कारण भावनाओंका चिन्तन करके थोड़े ही समयमे तीर्थङ्कर नामकर्मका बन्ध करता है।

---

१. मणुयाण अजलि ग०। २ केही सुभावेण ग०।

भाव श्रवणको ही सुखकी प्राप्ति

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य ।
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ॥ [भा० प्रा० १२७]

भावलिंगी श्रमण सुखोंको पाता है और द्रव्यलिंगी श्रमण दुःखोंको पाता है । इस प्रकार गुण और दोषोंको जानकर मुनि भावसे सहित होता है ।

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्त सहावपयडीए ।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसयेहिं सप्पुरिसो ॥ [भा०प्रा०१५४]

जैसे कमलिनीका पत्र स्वभावसे ही जलसे लिप्त नहीं होता । वैसे ही सम्यग्दृष्टी पुरुष भावके द्वारा क्रोध आदि कषायों और पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंसे लिप्त नहीं होता ।

चक्कहर-राम-केसव-सुरवर-जिण-गणहराइसोक्खाइं ।
चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥ [भा० प्रा० १६१]

विशुद्ध भाववाले मनुष्योंने चक्रवर्ती, वलभद्र, नारायण, उत्तमदेव, तीर्थङ्कर और गणधरादिके सुखोंको और चारण मुनियोंकी ऋद्धियोंको प्राप्त किया है ।

तित्थयर-गणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सुक्खाइं ।
पावंति भावसहिया संखेवि जिणेहिं वज्जरियं ॥ [भा०प्रा० १२८]

भाव सहित मुनि तीर्थङ्कर गणधर आदि अभ्युदयोंकी परम्पराओंको और सुखोंको प्राप्त करते हैं । ऐसा संक्षेपसे जिनेन्द्र देवने कहा है ।

भाव श्रवणोंको नमस्कार

ते धण्णा ताण णमो दंसण-वरणाण-चरणसुद्धाणं ।
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पयट्ठमायाणं ॥ [भा० प्रा० १२९]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रसे पवित्र तथा मन वचन काय अथवा कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा छल कपटसे रहित उन भावलिंगी मुनियोंको सदा हमारा नमस्कार है । वे मुनि धन्य है ।

---

६. श्रामण्य-अधिकार

[सूत्र प्राभृतसे]

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गथियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥ [सू० १]

जो अरहंत देवके द्वारा कहे हुए अर्थ-वस्तु तत्त्वसे युक्त है और गणधरदेवने सम्यक् रीतिसे जिसकी रचना की है उसे सूत्र कहते हैं। उस सूत्रमें कहे हुए अर्थको खोजनेके लिये श्रमणगण परमार्थकी साधना करते हैं।

सुत्तम्मि ज 'सुदिट्ठं' आइरियपरपरेण मग्गेण ।
णाऊण दुविहसुत्तं वट्टदि सिवमग्गि जो भव्वो ॥ [सू० २]

सूत्रमें जो कुछ कहा गया है उसे आचार्य परम्परासे आये हुए मार्गके द्वारा शब्द और अर्थ रूपसे जानकर जो मोक्ष मार्गमे लगता है वह भव्य है।

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स 'विस्सासणं च सो कुणदि ।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते समा' णो वि ॥ [सू० ३]

सूत्रको जान लेनेपर वह मुनि संसारका नाश कर देता है। जैसे सूत्र-डोरेसे रहित सुई नष्ट हो जाती है अर्थात् खो जाती है किन्तु सूत्र-डोरेके साथ होनेसे नहीं खोई जाती। [वैसे ही सूत्र सहित मुनि भी स्वयं नष्ट नहीं होता।]

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि ससारे ।
सच्चेयणपच्चक्ख णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥ [सू० ४]

डोरे सहित सुईकी तरह ही जो पुरुप ससूत्र होता है अर्थात् सूत्रके अर्थको हृदयमे विराजमान कर लेता है, वह संसार समुद्रमे पड़ा हुआ भी नाशको प्राप्त नहीं होता। अर्थात् संसारमे नहीं डूबता। किन्तु स्वसंवेदन प्रत्यक्षपूर्वक वह मनुष्य संसारको ही नष्ट कर देता है।

---

१. सुदिट्ठं आ०। २. विणासणं आ०, ग०। ३. सहाणेवि आ० ग०।

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं ।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ॥ [सू० ५]

जो मनुष्य जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए सूत्रमें वर्णित जीव आदि अनेक पदार्थोंको तथा हेय और उपादेयको जानता है वह सम्यग्दृष्टि है ।

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो ।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥ [सू० ६]

जो सूत्र जिनदेवके द्वारा कहा गया है वह व्यवहार रूप और निश्चय रूप है । उसे जानकर योगी अविनाशी सुखको पाता है और कर्मरूपी मल समूहका नाश करता है ।

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो ।
खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥ [सू० ७]

जो सूत्रके अर्थ और पदसे रहित है उसे मिथ्यादृष्टि ही जानना चाहिये । वस्त्रधारी मनुष्यको खेलमें भी दिगम्बर मुनिकी तरह हाथमें भोजन नहीं करना चहिये ।

हरिहरतुल्लो वि णरो सग्गं गच्छेइ [1]एइ भवकोडी ।
तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिओ ॥ [सू० ८]

विष्णु और शिवके समान भी मनुष्य स्वर्गमें जाता है और करोड़ों भव धारण करता है फिर भी मोक्ष प्राप्त नहीं करता, और संसारी ही कहाता है ।

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरिकम्मो य गरुयभारो य ।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छेदि हवदि मिच्छत्तं ॥ [सू० ९]

उत्कृष्ट सिंहके समान आचरणवाला, बहुत क्रिया-कर्मको करता हुआ और कर्मोंके गुरुतर बोझसे लदा हुआ जो मुनि स्वच्छन्द विहार करता है वह मिथ्यादृष्टि है और पापका भागी है ।

दिगम्बरत्व ही मोक्षका मार्ग है

णिच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं ।
इक्को वि मुक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ [सू० १०]

---

१. एय आ० ।

परमपदमें स्थित जिनेन्द्रदेवने वस्त्ररहित दिगम्बरत्व और पाणिरूपी पात्रका उपदेश किया है। अर्थात् मुनिको दिगम्बर होना चाहिये और पाणिरूपी पात्रमें आहार करना चाहिये। यह एक ही मोक्षका मार्ग है शेष सब उन्मार्ग हैं।

वन्दनीय मुनि

जो संजमेसु सहिओ आरभपरिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए॥ [सू० ११]

जो प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयमका धारी है और आरम्भ तथा परिग्रहसे विरत है, देव असुर और मनुष्योंसे भरे हुए लोकमे वही वन्दनीय है।

जे बावीस परीसह सहति सत्तीसएहि सजुत्ता।
ते हुंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरा साहू॥ [सू० १२]

सैकड़ों शक्तियोंसे युक्त जो साधु बाईस परीषहोंको सहन करते हैं और इस तरह कर्मोंका एक देश क्षयरूप निर्जराको करते हैं वे वन्दनीय हैं।

इच्छाकारके योग्य

[1]अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता।
चेलेण य [2]परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जा य॥ [सू० १३]

शेष जो लिंगधारी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त हैं, किन्तु वस्त्रधारी हैं वे इच्छाकारके योग्य कहे गये हैं।

इच्छायारमहत्थं सुत्तट्ठिओ जो हु छिंदए कम्मं।
ठाणे[3] ठिय सम्मत्त [4]परलोयसुहंकरो होइ॥ [सू० १४]

जो सूत्रमे स्थित होता हुआ इच्छाकारके महान अर्थको जानकर कर्मोंका नाश करता है तथा सम्यक्त्वमे दृढ़ रहता है वह परलोकमें सुखका भागी होता है।

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्मं सुकरेदि णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिओ॥१५॥

---

१. अविसेसा अ०, अविसेसी ग० ऊ०। २. परिगलिया ग०। ३. ठाणे विय ग०। ४. परलोये ग०।

जो आत्माको नहीं चाहता अर्थात् आत्माकी भावना नहीं करता, और समस्त धर्माचरण करता है फिर भी उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती। ऐसे मनुष्यको संसारी ही कहा है।

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥१६॥

इस कारण हे भव्य जीवों! मन वचन कायसे उस आत्माका श्रद्धान करो तथा प्रयत्न पूर्वक उस आत्माको जानो, जिससे तुम मोक्ष प्राप्त कर सको।

साधुका आचरण

वालग्गकोडिमित्त परिगहगहणं ण होइ साहूण।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं एक्कठाणम्मि ॥१७॥

साधु वालकी नोकके वरावर भी परिग्रह नहीं रखते हैं। और एक स्थान पर खड़े होकर हाथरूपी पात्रमें श्रावकके द्वारा दिये गये आहारको खाते हैं।

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहदि [1]हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पवहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोयं ॥१८॥

वालक जैसे नग्नरूपमें जन्म लेता है वही रूप साधुका होता है। वह अपने हाथोंमे तिलके छिलकेके वरावर भी पदार्थको ग्रहण नहीं करता। यदि थोड़ी वहुत परिग्रह रखता है तो उसके फलसे उसे निगोदमे जन्म लेना पड़ता है।

परिग्रही साधुकी निन्दा

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं वहुयं च हवइ लिंगस्स।
सो गरहिओ जिण-वयणे परिगहरहिओ णिरायारो ॥१६॥

जिस लिंगमे थोड़ी वहुत परिग्रह रखी जाती है, आगममे वह लिंग निन्दनीय माना है। अनगार (गृह रहित साधु) परिग्रहसे रहित होता है।

पंचमहाव्वयजुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होइ।
णिग्गंथमुक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥२०॥

---

१ अत्थेसु ऊ०।

जो पाँच महाव्रत और तीन गुप्तिसे युक्त होता है वह संयमी है और निर्ग्रन्थ मोक्ष मार्गमें स्थित है। वही बन्दना करनेके योग्य होता है।

लिङ्गके भेद

दुइयं च वुत्त लिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं तु।
भिक्खं भमेइ पत्तो[1] समिदीभासेण मोणेण ॥२१॥

दूसरा लिंग उत्कृष्ट श्रावकका कहा है। वह पात्र हाथमें लेकर भिक्षाके लिये घूमता है और भाषा समिति पूर्वक अथवा मौन पूर्वक भोजन प्राप्त करता है (?)।

स्त्रीका लिङ्ग

लिंगं इत्थीण हवइ भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था वट्टावरणेण (?) भुंजेइ ॥२२॥

तीसरा लिंग स्त्रीके होता है। आर्या भी एक वस्त्र धारण करती है और एक ही वार भोजन करती है (?)।

वस्त्रधारीको मोक्षका निषेध

ण वि सिज्झइ व[3]त्थधरो जिणसास[3]णे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमुक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

जिन शासनमे वस्त्रधारीको मोक्ष नहीं मिलता चाहे वह तीर्थंङ्कर ही क्यों न हो। नग्नता ही मोक्षका मार्ग है शेष सब मिथ्या मार्ग हैं।

स्त्रीको प्रव्रज्याका निषेध

लिगम्मि य इत्थीणं थणतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहुमो क.ओ तेसिं कह होइ पव्वज्जा ॥२४॥

स्त्रियोंके योनि, स्तन, नाभि और काँख आदि स्थानोंमें सूक्ष्मकायिक जीव आगममे कहे हैं। उन्हे प्रव्रज्या—जिन दीक्षा कैसे हो सकती है ?

जइ दंसणेण सुद्धा उत्तममग्गेण सा वि संजुत्ता।
घोरं चरियचरित्तं इत्थीसु ण पव्वया भणिया ॥२५॥

---

१. पत्ते ग. ऊ। २. वत्त्वावरणे ऊ। ३. –सणी ऊ० आ०।

यदि स्त्री सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है तो वह भी उत्तम मार्गमें स्थित है। वह घोर तपश्चरण भी करे किन्तु स्त्रियोंमें जिनदीक्षा नहीं कही गई है।

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण ।
विज्जदि मासा[1] तेसिं इत्थीसु ण संकया झाणं ॥२६॥

स्त्रियोंका मन शुद्ध नहीं होता तथा स्वभावसे ही उनके परिणामोंमें ढीलापन होता है और प्रतिमास मासिक धर्म होता है। इन कारणोंसे स्त्रियोंमे सम्यक् ध्यान नहीं होता।

गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेल अत्थेण ।
इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सव्वदुक्खाइं ॥२७॥

जो ग्रहण करने योग्य है उसको भी मुनि अल्प परिमाणमें ही ग्रहण करते हैं। जैसे समुद्रके जलको मनुष्य वस्त्र धोनेके लिये ही ग्रहण करता है। ठीक ही है जिनकी इच्छा दूर हो गई उनके सब दुःख दूर हो गये।

---

१० बारह अनुप्रेक्षा

मंगलाचरण

णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे ।
दस दस दो दो य जिणे दस दो अणुपेहणं वोच्छे ॥१॥

उत्तम ध्यानके द्वारा सुदीर्घ संसारका नाश करने वाले समस्त सिद्धोंको और चौवीस तीर्थङ्करोंको नमस्कार करके बारह अनुप्रेक्षाओंको कहूँगा।

बारह अनुप्रेक्षा

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं ।
आसव-संवर-णिज्जरधम्मं बोहिं च चिंतेज्जो ॥ २ ॥

---

1 संसा ऊ।

अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचिता, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक और वोधि ये वारह अनुप्रेक्षाएँ हैं, इनका चितन करना चाहिये।

१ अध्रुव अनुप्रेक्षा

वर भवण-जाण-वाहण-सयणासण-देव-मणुवरायाण।
मादु-पिदु-सजण-भिच्च संबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा ॥३॥

उत्तम भवन, सवारी, वाहन, शय्या, आसन, देव, मनुष्य, राजा और माता पिता कुटुम्बी, सेवक आदि सम्बन्धी सब अनित्य है, विछुड़ने वाले हैं।

सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोव्वण वलं तेजं।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सय ण हवे ॥४॥

समस्त इन्द्रियाँ, रूप, नीरोगता, यौवन, वल, तेज, सौभाग्य, लावण्य ये सब सदा रहने वाले नहीं हैं, किन्तु इन्द्रधनुपके समान चंचल हैं।

जलवुब्बुद-सक्कधणु-खणरुचि-घणसोहमिव थिर ण हवे।
अहमिंदट्ठाणाइं वलदेवप्पहुदिपज्जाया ॥५॥

अहमिन्द्रोंके पद और वलदेव आदिकी पर्यायें जलके वुलवुले, इन्द्र-धनुप, विजली और मेघकी शोभाकी तरह स्थिर नहीं होतीं। अर्थात् जैसे जलका वुलवुला वगैरह क्षण भंगुर है वैसे ही अहमिन्द्र आदिके पद भी क्षणभंगुर हैं।

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्धं।
भोगोपभोगकारणदव्व णिच्चं कह होदि ॥६॥

जव जीवसे सम्बद्ध शरीर दूधमे मिले पानीकी तरह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, तव भोग उपभोगके कारण जो स्त्री महल धन वगैरह हैं, जो कि शरीरसे भिन्न है, वे कैसे नित्य हो सकते हैं।

परमट्ठेण दु आदा देवासुर-मणुवराय-विभवेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं ॥७॥

परमार्थसे तो आत्मा देव, असुर, मनुष्य और राजाके वैभवोंसे भिन्न है। तथा वह आत्मा नित्य है, ऐसा सदा विचारना चाहिये।

२ अशरणानुप्रेक्षा

मणि-मंतोसह-रक्खा हय-गय-रहओ य सयलविज्जाओ ।
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥८॥

मरणकाल आने पर तीनों लोकोंमें मणि, मंत्र, औषधी, रक्षक, हाथी, घोड़े, रथ, और समस्त विद्याएँ जीवोंको मृत्युसे बचानेमें समर्थ नहीं हैं।

सग्गो हवे हि दुग्गं भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं ।
अइरावणो गइंदो इंदस्स ण विज्जदे सरणं ॥९॥

स्वर्ग जिसका किला है, देव सेवक हैं, वज्र अस्त्र है और ऐरावत हाथी हाथी है, उस इन्द्रका भी (मृत्यु आने पर) कोई शरण नहीं है।

णवणिहि चउदहरयणं हय-मत्तगइंद-चाउरंगवलं ।
चक्केसस्स ण सरणं पेच्छंतो कद्दिये (?) काले ॥१०॥

नौ निधियाँ, चौदह रत्न, घोड़े, मत्त हाथी और चतुरंग सेना मृत्युको सन्मुख देखते हुए चक्रवर्तीके शरणभूत नहीं हैं। अर्थात् ये सब भी उसे मौतसे नहीं बचा सकते।

जाइ-जर-मरण-रोग-भयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा ।
तम्हा आदा सरणं वंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ॥११॥

आत्मा ही जन्म, जरा, मरण, रोग और भयसे आत्माकी रक्षा करता है इसलिये कर्मोंके वन्ध, उदय और सत्तासे रहित शुद्ध आत्माही शरण है।

अरुहा सिद्धाइरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१२॥

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और साधु ये पाँचों परमेष्ठी भी आत्मामें ही निवास करते हैं। अर्थात् आत्मा ही पंच परमेष्ठी स्वरूप है, इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव ।
चउरो चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१३॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चारों भी आत्मामें ही हैं इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है।

२ एकत्वानुप्रेक्षा

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे ।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१४॥

जीव अकेला कर्म करता है, अकेला ही सुदीर्घ संसारमें भ्रमण करता है, अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है और अकेला ही अपने किये हुए कर्मका फल भोगता है।

एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण ।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१५॥

संसारिक विषयोंके निमित्तसे तीव्र लोभसे प्रेरित होकर जीव अकेला ही पाप कर्म करता है और नरक और तिर्यञ्च गतिमें अकेला ही उसका फल भोगता है।

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण ।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१६॥

धर्मके निमित्तसे, पात्रदानके द्वारा अकेला ही जीव पुण्य उपार्जन करता है और मनुष्य गति तथा देव गतिमें अकेला ही उसका फल भोगता है।

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू ।
सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ ॥१७॥

सम्यग्दर्शनसे युक्त साधुको उत्तम पात्र कहा है। और सम्यग्दृष्टि श्रावकको मध्यम पात्र जानना चाहिये।

णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तो त्ति ।
सम्मत्तरयणरहिओ अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ॥१८॥

जैन आगममें अविरत सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र कहा है और जो सम्यक्त्वरूपी रत्नसे रहित है वह अपात्र है। इस प्रकार पात्रकी अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिये।

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥१९॥

जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट (रहित) हैं वे ही भ्रष्ट हैं। सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट

जीवका मोक्ष नहीं होता। जो चारित्रसे भ्रष्ट हैं वे (चारित्र धारण करलेने पर) मोक्ष जा सकते हैं। किन्तु जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते।

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो ॥२०॥

संयमी साधु ऐसा विचारता है कि मैं एकाकी हूँ, ममत्वसे रहित हूँ, शुद्ध हूँ, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मेरा लक्षण है, ऐसा शुद्ध एकत्व ही उपादेय है।

४ अन्यत्वानुप्रेक्षा

मादा-पिदर-सहोदर-पुत्त-कलत्तादिबंधुसंदोहो।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति ॥२१॥

मात, पिता, सहोदर भ्राता, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुओंका समूह जीवके साथ सम्बद्ध नहीं है, ये सब अपने अपने कार्यवश होते हैं।

अण्णो अण्णं सोयदि मदो त्ति मम णाहगो त्ति मण्णंतो।
अप्पाणं ण हु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं ॥२२॥

यह मेरा स्वामी था, यह मर गया, ऐसा मानता हुआ एक जीव दूसरे जीवके विषयमें तो शोक करता है किन्तु संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए अपने आत्माके विषयमे शोक नहीं करता।

अण्णं इमं सरीरादिगं पि होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं ॥२३॥

यह शरीर आदि जो बाह्य द्रव्य हैं वह सब मुझसे अन्य (भिन्न) हैं। आत्मा ज्ञान दर्शन रूप है, इस प्रकार मुनि अन्यत्वका चिन्तन करता है।

५ संसारानुप्रेक्षा

पंचविहे संसारे जाइ-जरा-मरण-रोग-भयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं ॥२४॥

जिन भगवानके द्वारा बतलाये हुए मार्गको न जानने वाला जीव जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि भयोंसे भरे हुए पंच प्रकारके संसारमें

चिरकालसे परिभ्रमण करता है। [पुद्गल परिवर्त, क्षेत्र परिवर्त, काल परिवर्त, भव परिवर्त और भाव परिवर्तके भेदसे संसार पाँच प्रकारका है। संसारका मतलब है—भटकना। आगे प्रत्येक परावर्त रूप संसारका स्वरूप बतलाते हैं]

सव्वे वि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टससारे ॥२५॥

पुद्गल परिवर्त रूप संसारमे, इस एकाकी जीवने अनन्तवार समस्त पुद्गलों को भोग भोगकर छोड़ दिया। [समस्त पुद्गलोंको क्रमानुसार भोगकर छोड़ देनेका नाम पुद्गल परिवर्त संसार है]।

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि ज ण उप्पएणं।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥२६॥

समस्त लोकरूपी क्षेत्रमे ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह जीव उत्पन्न न हुआ हो। अनेक प्रकारकी अवगाहना धारण करके इस जीवने क्षेत्र संसारमें परिभ्रमण किया।

अवसप्पिणि-उस्सप्पिणि-समयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे ॥२७॥

यह जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सव समयोंमें अनेकवार जन्मा और मरा। और इस तरह उसने काल संसारमें परिभ्रमण किया।

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥२८॥

मिथ्यात्वके सम्बन्धसे इस जीवने नरककी जघन्य आयुसे लेकर उपरिम ग्रैवेयक तककी भवस्थितिको अनेक वार भ्रमण करके भोगा। अर्थात् वारवार भव धारण करके नरकगतिकी जघन्य आयु दस हजार वर्षसे लेकर तेतीससागर पर्यन्त उत्कृष्ट आयुको भोगा, तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्य तककी उत्कृष्ट आयुको भोगा। फिर देवगतिकी जघन्य आयु दस हजार वर्षसे लेकर उपरिम ग्रैवेयक तककी उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर भोगी। इसीका नाम भव परिवर्तन है। [मिथ्यादृष्टि जीव ही पाँच परावर्तन करता है और

मिथ्यादृष्टि जीव स्वर्गमें उपरिम ग्रैवेयक तक ही जन्म ले सकता है। इसलिये स्वर्गमें उपरिमग्रैवेयक तककी ही हद रक्खी गई हैं]।

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागपदेसबंधठाणाणि ।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावससारे ॥२९॥

इस जीवने समस्त कर्म प्रकृतियोंकी सब स्थितियों, सब अनुभागबन्ध स्थानों और सब प्रदेशबन्ध स्थानोंको भोगा और इस तरह मिथ्यात्वके वश होकर भाव संसारमे भ्रमण किया। [ज्ञानावरण आदि कर्मोंकी स्थितिके असंख्यात भेद हैं। एक एक स्थितिके कारण असंख्यात लोक कषाय-अध्यवसाय स्थान हैं। एक एक कषाय स्थानके कारण असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग-अध्यवसाय स्थान हैं और एक एक अनुभाग स्थानमें निमित्त असंख्यात योग स्थान है। समस्त योग स्थानों, अनुभागाध्यवसायस्थानों और कषायाध्यवसायस्थानोंके द्वारा सब कर्म प्रकृतियोंकी अपने योग्य स्थितियोंको भोगनेका नाम भावपरिवर्तन है। इस प्रकार पॉच परिवर्तनोंकी अपेक्षा संसारके पॉच भेद होते हैं]।

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए ।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥३०॥

जो जीव पुत्र और स्त्री आदिके लिये पाप बुद्धिसे धन कमाता है और दया-दानसे बचता हैं वह जीव संसारमे भ्रमण करता है।

मम पुत्त मम भज्जा मम धण-धण्णो त्ति तिव्वकंखाए ।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ॥३१॥

मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरा धन-धान्य, इस प्रकारकी तीव्र लालसासे धर्म बुद्धिको छोड़कर पीछे वह जीव दीर्घ संसारमे रुलता है।

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जोण्हभासिय धम्मं ।
कुधम्म-कुलिंग-कुतित्थं मण्णंतो भमदि ससारे ॥३२॥

मिथ्यात्वके उदयसे यह जीव जिनेन्द्रके द्वारा कहे हुए धर्मकी निन्दा करता है और खोटे धर्म, खोटे लिग और खोटे तीर्थोंको मानता है। जिससे वह संसारसे भ्रमण करता है।

हंतूण जीवरासिं महुमसं सेविऊण सुरपाणं ।
परदव्व-परकलत्त गहिऊण य भमदि संसारे ॥३३॥

जीवराशिका घ.त कर, मधु मांस और शराबका सेवन कर तथा परधन और पर स्त्रीको अंगीकार कर यह जीव संसारमे भ्रमण करता है।

जत्तेण कुणइ पाव विसयणिमित्त च अहणिसं जीवो।
मोहधयारसहिओ तेण दु परिपडदि ससारे ॥३४॥

मोहरूपी अंधकारमें पड़ा हुआ जीव विपयोंके लिये रात दिन प्रयत्न पूर्वक पाप करता है और उससे संसारमें रुलता है।

णिच्चिदर-धादुसत्त य तरु दस वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुर-णिरय-तिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥३५॥

नित्य निगोद, इतरनिगोद, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजकाय, और वायुकाय, प्रत्येककी सात सात लाख योनियाँ हैं, प्रत्येक बनस्पतिकी दस लाख योनियाँ हैं, विकलेन्द्रियोंकी छै लाख योनियाँ हैं, देव नारकी और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमेंसे प्रत्येककी चार चार लाख योनियाँ है और मनुप्योंकी चौदह लाख योनियाँ है। इस तरह सब चौरासी लाख योनियाँ हैं जिनमें संसारी जीव भ्रमण करता है।

संजोगविप्पजोगं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च ॥३६॥

संसारमें प्राणियोंको संयोग वियोग, लाभ हानि, सुख दुःख और और मान अपमान प्राप्त होते हैं।

कम्मणिमित्त जीवो हिंडदि संसारघोरकंतारे।
जीवस्स ण संसारो णिच्चयणयकम्मविम्मुक्को ॥३७॥

कर्मोंके निमित्तसे यह जीव संसार रूपी भयानक वनमे भ्रमण करता है। किन्तु निश्चयनयसे जीव कर्मोंसे मुक्त है इस लिये उसे संसार भी नहीं है।

संसारमदिक्कंतो जीवोवादेयमिदि विचिंतेज्जो।
संसारदुहक्कंतो जीवो सो हेयमिदि विचिंतेज्जो ॥३८॥

संसारसे छूटा हुआ जीव उपादेय है ऐसा विचारना चाहिये। और संसारके दुःखोंमे फॅसा हुआ जीव हेय है, छोड़ने योग्य है, ऐसा विचारना चाहिये।

६ लोकानुप्रेक्षा

जीवादिपयट्ठाणं समवाओ सो णिरुच्चए लोगो ।
तिविहो हवेइ लोगो अहमज्झिमउड्ढभेएण ॥३९॥

जीव आदि पदार्थोंके समवायको लोक कहते हैं । लोकके तीन भेद हैं अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक ।

णिरया हवंति हेट्ठा मज्झे दीवंबुरासयो संखा ।
सग्गो तिसट्ठिभेओ एत्तो उड्ढं हवे मोक्खो ॥४०॥

नीचे अधोलोकमें नारकी रहते हैं । मध्य लोकमें असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं । ऊपर ऊर्द्धलोकमें स्वर्गोंके त्रेसठ पटल हैं और उन सबसे ऊपर मोक्ष स्थान है ।

इगतीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे ।
तित्तिय एक्केक्केदियणामा उडुआदितेसट्ठी ॥४१॥

सौधर्म और ईशान कल्पमें विमानोंके इकतीस पटल हैं, सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें सात पटल हैं, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्पमें चार पटल हैं, लांतव और कापिष्ठ कल्पमें दो पटल हैं, शुक्र और महाशुक्र कल्पमें एक पटल है, शतार और सहस्रार कल्पमें एक पटल है तथा अन्तके आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पोंमें छै पटल हैं । इस प्रकार सोलह स्वर्गोंमें [३१+७+४+२+१+१+६] कुल ५२ पटल हैं । और स्वर्गोंसे ऊपर नौ ग्रैवेयकोंमेंसे प्रत्येक ग्रैवेयकका एक एक पटल होनेसे नौ पटल हैं । नवग्रैवेयकोंके ऊपर अनुदिशोंका एक पटल है और अनुदिशोंसे ऊपर पञ्च अनुत्तरोंका एक पटल है । इस प्रकार सब मिलाकर ऋतु आदि ६३ पटल हैं ।

असुहेण णिरय-तिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं ।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥४२॥

अशुभ उपयोगसे नरक गति और तिर्यञ्चगति प्राप्त होती है, शुभ उपयोगसे देवगति और मनुष्य गतिका सुख प्राप्त होता है, तथा सुद्ध उपयोगसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार लोकका विचार करना चाहिये ।

७ अशुचित्वानुप्रेक्षा

अट्ठीहिं पडिवद्धं मसविलित्त तएण ओच्छण्णं ।
किमिसंकुलेहिं भरियमचोक्खं देहं सयाकालं ॥४३॥

यह शरीर हड्डियोंसे बना है, मांससे लिपटा हुआ है और चर्मसे ढका है। तथा कीट समूहोंसे भरा है अतः सदा गन्दा रहता है।

दुग्गध बीभछं कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्त।
सडणप्पडणसहावं देहं इदि चिंतये णिच्च ॥४४॥

यह शरीर दुर्गन्धसे युक्त है, बीभत्स (घिनावना) है, कलुषित मलसे भरा हुआ है, अचेतन है, मूर्तिक है, तथा अवश्य ही नष्ट होनेवाला है ऐसा विचारना चाहिये।

रस-रुहिर-मंस-मेदट्ठी-मज्जसकुलं मुत्त-पूय-किमिबहुलं।
दुग्गधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणं ॥४५॥

यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेद, हड्डि, मज्जा आदि सात धातुओंसे युक्त है। मूत्र, पीव, कृमियोंसे भरा है, दुर्गन्ध मय है, अपवित्र है, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन है और नष्ट होने वाला है।

देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलओ।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्च भावणं कुज्जा ॥४६॥

देहसे भिन्न, कर्मोंसे रहित, और अनन्त सुखका भण्डार आत्मा ही श्रेष्ठ है इस प्रकार सदा चिन्तन करना चाहिये।

८ आस्रवानुप्रेक्षा

मिच्छत्त अविरमणं कसाय-जोगा य आसवा होंति।
पण-पण-चउ-तियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ॥४७॥

पाँच प्रकारका मिथ्यात्व, पाँच अविरति, चार कषाय और तीन प्रकारका योग आस्रवके कारण हैं, आगममें इनका विस्तारसे कथन किया गया है।

एयंत-विणय-विवरिय-संसयमण्णाणमिदि हवे पंच।
अविरमणं हिंसादी पंचविहो सो हवइ णियमेण ॥४८॥

एकान्त मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व ये पाँच मिथ्यात्वके भेद हैं। और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहके भेदसे पाँच प्रकारकी अविरति है।

कोहो माणो माया लोहो वि य चउव्विहं कसायं खु ।
मणवचिकाएण पुणो जोगो तिवियप्पमिदि जाणे ॥४९॥

क्रोध, मान, माया, और लोभ यह चार प्रकारकी कषाय हैं। तथा मनो योग, वचन योग और काययोगके भेदसे योगके तीन भेद जानने चाहिये।

असुहेदरभेदेण दु एक्केक्क वण्णिदं हवे दुविहं ।
आहारादी सण्णा असुहमण इदि विजाणेहि ॥५०॥

तीनो योगोंमेंसे प्रत्येक योग अशुभ और शुभके भेदसे दो प्रकारका होता है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी चाहका होना अशुभ मन है।

किण्हादि तिण्णि लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो ।
ईसा विसादभावो असुहमण त्ति य जिणा वेंति ॥५१॥

कृष्ण नील कापोत ये तीन लेश्या, इन्द्रियसे होने वाले सुखमे तृष्णा भाव, ईर्षा और विषाद भाव, इन सबको जिनेन्द्र देव अशुभ मन जानते हैं। अर्थात् खोटे विचारोंसे युक्त मनको अशुभ मन कहते हैं। कषाय, लेश्या, संज्ञा वगैरह अशुभ भावोंकी कारण हैं इसलिये इन्हें अशुभ मन कहा है।

रागो दोसो मोहो हास्सादि णोकसायपरिणामो ।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणो त्ति य जिणा वेंति ॥५२॥

राग, द्वेष, मोह और हास्य आदि नोकषायरूप परिणाम, चाहे स्थूल हों या सूक्ष्म हों, उन्हें जिनेन्द्रदेव अशुभ मन जानते हैं।

भत्तित्थि-राय-चोरकहाओ वयण वियाण असुहमिदि ।
बंधण-छेदण-मारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ॥५३॥

भोजनकथा, स्त्रीकथा, राजकथा और चोरोंकी कथा करना अशुभ वचन है। बाँधना, छेदना, मारना आदि क्रियाओंको करना अशुभ काय है अर्थात् बुरी अथवा व्यर्थकी बातोंका कहना अशुभ वचन है और शरीरसे बुरी क्रियाओंका करना, जिससे दूसरोंको कष्ट पहुँचता हो, अशुभ काय है।

मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं ।
वद-समिदि-सील-संजम परिणामं सुहमणं जाणे ॥५४॥

ऊपर कहे हुए समस्त द्रव्यों और अशुभ भावोंको छोड़कर व्रत, समिति शील और संयम रूप परिणामोंका होना शुभ मन है अर्थात् शुभ भावोंसे युक्त मनको शुभ मन कहते है।

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं।
जिणदेवादिसु पूजा सुहकायं ति य हवे चेट्ठा ॥५५॥

जो वचन संसाररूपी बन्धनको काटनेमें कारण हैं उन वचनोंको जिनदेवने शुभ वचन कहा है। और जिनेन्द्र देव वगैरहकी पूजाके लिये जो चेष्टा की जाती है वह शुभ काय है।

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिये दुक्खजलचराकिण्णे।
जीवस्स परिब्भमणं कम्मासवकारणं होदि ॥५६॥

यह जन्म मरण रूपी समुद्र बहुत दोपरूपी लहरोंसे और दुखरूपी मगर मच्छोंसे भरा है। इसमे जीवका भटकना कर्मोके आस्रवका कारण है।

कम्मासवेण जीवो बूडदि संसारसागरे घोरे।
जण्णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया ॥५७॥

कर्मोंका आस्रव होनेसे जीव संसाररूपी भयानक समुद्रमे डूबजाता है। जो क्रिया ज्ञान पूर्वककी जाती है वह परंपरासे मोक्षका कारण होती हैं।

आसवहेदू जीवो जम्मसमुद्दे णिमज्जदे खिप्पं।
आसवकिरिया तम्हा मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो ॥५८॥

कर्मोके आस्रवके कारण जीव शीघ्र ही जन्म मरण रूपी समुद्रमे डूब जाता है अर्थात् उसे संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। इसलिये कर्मोंके आस्रव रूप क्रियाको मोक्षका कारण नहीं मानना चाहिये।

पारंपज्जाएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं।
ससारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण ॥५९॥

कर्मोंके आस्रवरूप क्रियासे परम्परासे भी मोक्ष नही होता। आस्रव संसारमे भटकनेका कारण है, इसलिये उसे निन्दनीय ही जानो। अर्थात् जो लोग पुण्यकर्मके आस्रवको अच्छा मानते हैं और परम्परासे उसे मोक्षका कारण मानते हैं, उनके लिये आचार्य कहते हैं कि पाप कर्मोंका आस्रव हो या पुण्यकर्मोंका आस्रव हो, आस्रव तो आस्रव ही है। जब तक

आस्रव है तब तक मोक्ष नहीं मिल सकता। इसलिये आस्रवको रोकना ही हितकर है।

पुव्वुत्तासवभेया णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स।
उहयासवणिम्मुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं ॥६०॥

निश्चयनयसे पूर्वोक्त आस्रवके भेद जीवके नहीं हैं। इसलिये सदा आत्माको शुभ और अशुभ कर्मोंके आस्रवसे अथवा द्रव्यास्रव और भावास्रवसे मुक्त ही विचारना चाहिये।

९ संवरानुप्रेक्षा

चल-मलिणमगाढं च वज्जिय सम्मत्तदिढकवाडेण।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदि त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं ॥६१॥

सम्यक्त्वके चल मलिन और अगाढ़ दोषोंको छोड़कर सम्यग्दर्शन-रूपी दृढ़ कपाटोंके द्वारा मिथ्यात्व रूप आस्रव द्वार रुक जाता है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। [आशय यह है कि आस्रवके चार द्वार हैं—मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग। निर्दोष सम्यग्दर्शनको धारण करनेसे आस्रवका प्रथम मुख्यद्वार मिथ्यात्व बन्द हो जाता है और उसके द्वारा आने वाले कर्म रुक जाते हैं। इसीको संवर कहते हैं]।

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा।
कोहादिआसवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहि ॥६२॥

मनसे पाँच महाव्रतोंको धारण करनेसे अविरतिसे आनेवाले कर्म नियमसे रुक जाते हैं। और क्रोध आदि कषाय रूप आस्रवके द्वार कषाय-रहित परिणामोंसे बन्द हो जाते हैं।

शुद्धोपयोगके होनेसे जीवके धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान होते हैं। अतः संवर ध्यानका कारण है ऐसा सदा विचारना चाहिये।

जीवस्स ण संवरणं परमट्ठणएण सुद्धभावादो।
संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्च ॥६५॥

निश्चय नयसे जीवके संवर नहीं है, क्योंकि जीव सदा शुद्ध भाव वाला है। यदि जीवके अशुद्ध भाव होते तो आस्रव होता और आस्रव होता तो संवर भी होता। किन्तु निश्चयनय उपाधिरहित वस्तुस्वरूपको ही ग्रहण करता है इसलिये निश्चयनयसे जीव सदा शुद्धोपयोगी है। अतः उसके न आस्रव है और न संवर है। इसलिये सदा आत्माको संवर भावसे रहित विचारना चाहिये।

१० निर्जरानुप्रेक्षा

बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणेहि पण्णत्तं।
जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाण ॥६६॥

बंधे हुए कर्मोंके प्रदेशोंके गलनेको निर्जरा कहते हैं ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है। जिन कारणोंसे संवर होता है उन्हींसे निर्जरा होती है।

सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाण पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥६७॥

वह निर्जरा दो प्रकार की है—एक उदयकाल आने पर कर्मोंका स्वयं पककर झड़ जाना और एक तपके द्वारा उदयावली बाह्य कर्मोंको बलात् उदयमें लाकर खिराना। चारों गतिके जीवोंके पहली निर्जरा होती है और व्रती पुरुषके दूसरी निर्जरा होती है।

११ धर्मानुप्रेक्षा

एयारस-दसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ॥६८॥

उत्तम सुखमें मग्न अरहंत देवने गृहस्थों और मुनियोंके धर्मको क्रमसे ग्यारह और दस भेदवाला कहा है। वह धर्म सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है। अर्थात् गृहस्थ धर्म और मुनि धर्मकी अपेक्षा धर्मके दो भेद हैं। गृहस्थ धर्मके ग्यारह भेद हैं और मुनि धर्मके दस भेद हैं। दोनों ही धर्म

सम्यग्दर्शन पूर्वक होते हैं; सम्यग्दर्शनके बिना नहीं होते। अर्थात् धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है।

दसण-वय-सामाइय-पोसह-सच्चित-रायभत्ते य।
बम्हारम्भ-परिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥६९॥

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रि भक्तव्रत, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग, ये ग्यारह देश विरत श्रावक धर्मके भेद हैं।

उत्तमखम-मद्दवज्जव-सच्च-सउच्चं च सजमं चेव।
तव-चाग-मकिंचण्हं बम्हा इदि दसविह होदि ॥७०॥

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दस भेद मुनिधर्मके हैं।

कोहुप्पत्तिस्स पुणो वहिरंगं जदि हवेदि सक्खाद।
ण कुणदि किंचि वि कोहो तस्स खमा होदि धम्मो त्ति ॥७१॥

यदि क्रोधकी उत्पत्तिका साक्षात् वहिरंग कारण हो, फिर भी जो जरा भी क्रोध नहीं करता, उसके क्षमा धर्म होता है।

कुल-रूव-जादि-बुद्धिसु तव-सुदसीलेसु गारवं किंचि।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्म हवे तस्स ॥७२॥

जो श्रमण कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत और शीलका किञ्चित् भी मद नहीं करता, उसके मार्दवधर्म होता है।

मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदएण चरदि जो समणो।
अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण ॥७३॥

जो श्रमण कुटिल भावको छोड़कर निर्मल हृदयसे आचरण करता है उसके नियमसे तीसरा आर्जव धर्म होता है।

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्च ॥७४॥

दूसरोंको संताप करनेवाले वचनोंको छोड़कर जो भिक्षु अपना और दूसरोंका हित करनेवाले वचन बोलता है उसके चौथा सत्य धर्म होता है।

कंखाभावणिवित्ति किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो ।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं ॥७५॥

जो उत्कृष्ट मुनि आकांक्षा भावको दूर करके वैराग्य भावनासे युक्त रहता है, उसके शौच धर्म होता है।

वद-समिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण ।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ॥७६॥

मन वचन और कायकी प्रवृत्तिको त्याग कर और इन्द्रियोंको जीतकर जो पाँच महाव्रतोंको धारण करता है और पाँच समितियोंका पालन करता है उसके नियमसे संयम धर्म होता है।

विसय-कसायविणिग्गहभाव काऊण झाणसज्झाए ।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥७७॥

विषय और कषाय भावका विनिग्रह करके जो ध्यान और स्वाध्यायके द्वारा आत्माकी भावना भाता है उसके नियमसे तपधर्म होता है।

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥७८॥

जो समस्त द्रव्योंसे मोह त्याग कर तीन प्रकारके निर्वेदको भाता है उसके त्याग धर्म होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं ॥७९॥

जो मुनि समस्त परिग्रहको छोड़कर और सुख दुःख देनेवाले आत्म-भावोंका निग्रह करके निर्द्वन्द रहता है उसके आकिंचन्य धर्म होता है।

सव्वंग पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं ।
सो बम्हचेरभावं सुक्कदि (?) खलु दुद्धर धरदि ॥८०॥

जो स्त्रियोंके सब अंगोंको देखता हुआ भी उनमें खोटे भाव नहीं करता। वह धर्मात्मा दुर्धर ब्रह्मचर्यभावका धारी है।

सावयधम्मं चत्ता जदिधम्मे जो हु वट्टए जीवो ।
सो ण य वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतए णिच्चं ॥८१॥

जो जीव श्रावकधर्मको छोड़कर मुनिधर्मको धारण करता है वह मोक्ष-रूप धर्मको नहीं छोड़ता। अर्थात् उसे मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है। ऐसा सदा चिन्तन करना चाहिये।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतए णिच्चं ॥८२॥

निश्चयनयसे जीव गृहस्थ धर्म और मुनिधर्मसे भिन्न है। अर्थात् न गृहस्थधर्म ही आत्माका स्वरूप है और न मुनिधर्म ही आत्माका स्वरूप है। अतः दोनों धर्मोमे मध्यस्थभाव रखते हुए सदा शुद्ध आत्माका चिन्तन करना चाहिये।

१२ बोधि-अनुप्रेक्षा

उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स;
चिंता हवेइ बोही अच्चंतं दुल्लहं होदि ॥८३॥

जिस उपायसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपायकी चिन्ता होती है क्योंकि सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

कम्मुदयजपज्जाया हेयं खाओवसमियणाणं खु।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छित्ति होदि सण्णाणं ॥८४॥

कर्मोंके उदयसे होनेवाली पर्याय होनेके कारण, क्षायोपशमिक ज्ञान हेय है और आत्मद्रव्य उपादेय है। इस प्रकारके 'निश्चयको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

मूलुत्तरपयडीओ मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा।
परदव्वं सगदव्वं अप्पा इदि णिच्छयणएण ॥८५॥

निश्चयनयसे आठ मूल कर्मोंकी असख्यात लोकप्रमाण मिथ्यात्व आदि उत्तर प्रकृतियाँ (भेद प्रभेद) पर द्रव्य हैं। और आत्मा स्वद्रव्य है।

एव जायदि णाणं हेयमुवादेय णिच्छये णत्थि।
चिंतिज्जइ मुणि बोहिं संसारविरमणट्ठे य ॥८६॥

इस प्रकार चिन्तन करनेसे हेय और उपादेयका ज्ञान होता है। निश्चयनयसे तो न कोई हेय है और न उपादेय है। किन्तु मुनिको संसारसे विरक्त होनेके लिये ज्ञानका विचार करना चाहिये।

उपसंहार

बारस अणुवेक्खाओ पच्चक्खाणं तहेव पडिकमणं ।
आलोयणं समाहिं तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं ॥८७॥

अतः बारह अनुप्रेक्षाओंको तथा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधिको बारम्बार विचारना चाहिये ।

रत्तिदिवं पडिकमणं पच्चक्खाणं समाहि सामइय ।
आलोयणं पकुव्वदि जदि विज्जदि अप्पणो सत्ती ॥८८॥

यदि अपनी शक्ति है तो रात दिन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक और आलोचनाको करना चाहिये ।

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारअणुवेक्खं ।
परिभाविऊण सम्म पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥८९॥

अनादिकालसे बारह अनुप्रेक्षाओंका भली-भाँति चिन्तन करनेसे जो पुरुष मोक्ष गये हैं, मैं उन्हे बारंबार नमस्कार करता हूँ ।

किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहदि जे वि भविया त जाणह तस्स माहप्पं ॥९०॥

अधिक कहनेसे क्या ? जो श्रेष्ठ मनुष्य अतीत कालमे सिद्ध हुए हैं तथा आगामी कालमे भी जो भव्य पुरुष सिद्ध होंगे, वह सब अनुप्रेक्षाओं-का माहात्म्य जानों ।

इदि णिच्छय ववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे ।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥९१॥

इस प्रकार मुनियोंके स्वामी कुन्दकुन्दने जो निश्चय और व्यवहारका कथन किया है, उसे जो शुद्ध मन होकर भाता है वह उत्तम निर्वाणको प्राप्त करता है ।

———

११. भक्ति अधिकार

१ पञ्चनमस्कार

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

अर्हन्तोंको नमस्कार, सिद्धोंको नमस्कार, आचार्योंको नमस्कार। उपाध्यायोंको नमस्कार, लोकमें सब साधुओंको नमस्कार।

मंगलसूत्र

चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं।
साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं ॥

चार मंगल रूप हैं—अर्हन्त मंगल रूप हैं, सिद्ध मंगल रूप हैं, साधु मंगलरूप हैं और केवलीके द्वारा कहा गया धर्म मंगलरूप है।

लोकोत्तमसूत्र

चत्तारि लोगुत्तमा-अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा।
साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥

चार लोकमे उत्तम हैं—अर्हन्त लोकोत्तम हैं, सिद्ध लोकोत्तम हैं। साधु लोकोत्तम हैं और केवलिके द्वारा कहा गया धर्म लोकोत्तम है।

शरणसूत्र

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ॥

मै चारकी शरण जाता हूँ—अर्हन्तकी शरण जाता हूँ, सिद्धकी शरण जाता हूँ, साधुकी शरण जाता हूँ और केवलिके द्वारा कहे धर्मकी शरण जाता हूँ।

२ तीर्थङ्कर भक्ति

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे ॥१॥

मैं केवल ज्ञानसे सम्पन्न और जिन पदको प्राप्त अनन्त जिनश्रेष्ठ तीर्थङ्करोंकी स्तुति करता हूँ, जो मनुष्योंमे श्रेष्ठ चक्रवर्ती आदि जनोंके द्वारा पूजित हैं, जिन्होंने चार घातिकर्मोंको नष्ट कर दिया है और जो महाप्राज्ञ हैं।

लोयस्सुज्जोययरे धम्मतित्थकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो ॥२॥

मैं केवल ज्ञानके द्वारा लोकको प्रकाशित करने वाले और धर्मरूपी तीर्थके कर्ता जिनोंको नमस्कार करता हूँ। तथा (वर्तमान) चौवीस केवल ज्ञानी अर्हन्तोंका ही कीर्तन करूँगा।

उसहमजियं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥३॥

मैं ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व और चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रको नमस्कार करता हूँ।

सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि ॥४॥

मैं भगवान सुविधि अथवा पद्म प्रभ, सीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल अनन्त, धर्म और शान्ति नाथको नमस्कार करता हूँ।

कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदामि रिट्ठणेमिं तह पासं वड्ढमाणं च ॥५॥

मैं जिनवर श्रेष्ठ कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, अरिष्टनेमी पार्श्व और वर्धमानको नमस्कार करता हूँ।

एवं मए अभित्थुया विहुय-रय-मला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥

इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुत, घाति कर्मरूपी रज और मलको नष्ट कर देने वाले तथा जरा और मरण रहित, चौवीसों जिनवर तीर्थङ्कर मुझपर प्रसन्न हों।

कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥७॥

मेरे द्वारा कीर्तित (स्तुति किये गये) वंदित और पूजित ये लोकोत्तम कृतकृत्य जिन मुझे आरोग्य लाभ, ज्ञान लाभ, समाधि तथा बोधि प्रदान करें।

चंदेहि णिम्मलयरा आइच्चेहिं अहिय पहासत्ता।
सायरमिव गभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥

चन्द्रमाओंसे भी निर्मल, सूर्योसे भी अधिक प्रभासमान और सागरकी तरह गम्भीर तथा सिद्ध पदको प्राप्त ये तीर्थङ्कर मुझे मुक्ति प्रदान करें।

२ सिद्ध भक्ति

अट्ठविहकम्ममुक्के अट्ठगुणड्ढे अणोवमे सिद्धे।
अट्ठमपुढविणिविट्ठे णिट्ठियकज्जे य वंदिमो णिच्चं ॥१॥

आठ प्रकारके कर्मोंसे मुक्त हुए, आठ गुणोंसे सम्पन्न, अष्टम पृथ्वी अर्थात् मोक्ष भूमिमें स्थित और अपने कार्यको जिन्होने समाप्त कर दिया है, उन अनुपम सिद्धोंको नित्य नमस्कार करता हूँ।

तित्थयरेदरसिद्धे जल-थल-आयासणिव्वुदे सिद्धे।
अंतयडेदरसिद्धे उक्कस्स-जहण्ण-मज्झिमोगाहे ॥२॥

उड्ढ-मह-तिरियलोए छव्विहकाले य णिव्वुदे सिद्धे।
उवसग्गणिरुवसग्गे दीवोदहिणिव्वुदे य वंदामि ॥३॥

जो तीर्थङ्कर होकर सिद्ध हुए, जो तीर्थङ्कर न होकर सिद्ध पदको प्राप्त हुए, जो जलसे थलसे या आकाशसे सिद्ध पदको प्राप्त हुए, जो अन्तकृत सिद्ध हुए, जो अन्तकृत न होकर सिद्ध हुए, जो उत्कृष्ट अवगाहनासे या मध्यम अवगाहनासे अथवा जघन्य अवगाहनासे सिद्ध पदको प्राप्त हुए, जो ऊर्ध्व लोकसे या अधोलोकसे अथवा मध्य लोकसे सिद्ध पदको प्राप्त हुए, जो उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके छह समयोंमे सिद्ध पदको प्राप्त हुए, जो उपसर्ग सहकर सिद्ध हुए अथवा जो उपसर्गके विना सिद्ध हुए, तथा जो द्वीप अथवा समुद्रसे सिद्ध पदको प्राप्त हुए, उन सब सिद्धोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

पच्छायडेय सिद्धे दुग-तिग-चदुणाण पंचचदुरजमे।
परिवडिदापरिवड्ढिदे संजमसम्मत्तणाणमादीहिं ॥४॥

साहारणासाहारणे ममुग्घादेदरे य णिव्वादे ।
ठिदपलियंकणिसण्णो विगयमले परमणाणगे वंदे ।।५।।

जिन्होंने मतिज्ञान श्रुतज्ञानको, अथवा मति श्रुत अवधि ज्ञानको अथवा मति श्रुत अवधि मनः पर्यय इन चार ज्ञानोंको प्राप्त करनेके पश्चात् केवल ज्ञानको प्राप्त कर सिद्ध पद प्राप्त किया है, तथा जिन्होंने पाँचों संयमोंको अथवा परिहार विशुद्धिके सिवाय शेप चार संयमोंको धारण करके सिद्ध पद प्राप्त किया है, तथा जो सिद्ध पद प्राप्त करनेसे पहले संयम, सम्यक्त्व और ज्ञानसे च्युत हुए और जो उनसे च्युत नहीं हुए, तथा जो उपसर्ग वश आभरणके साथ सिद्ध हुए और जो निराभरण दिगम्बर अवस्थामें सिद्ध हुए, जो समुद्घात करके सिद्ध हुए अर्थात् आयु कर्मकी स्थिति अन्तमुहूर्त मात्र और शेप तीन अघाति कर्मोंकी अधिक स्थिति होनेपर जिन केवलियोंने समुद्घातके द्वारा कर्मोंकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त करनेके पश्चात् निर्वाण पद किया, उन समुद्घात सिद्धोंको और समुद्घातके बिना जिन्होंने सिद्ध पद प्राप्त किया उन सिद्धोंको, तथा कायोत्सर्ग, अथव पल्यंकासनसे सिद्ध पदको प्राप्त करने वाले मुक्त जीवोंको मैं नमस्कार करता हूँ ।

पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा ।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ।।६।।

जो पुरुप भावपुरुपवेदका अनुभवन करते हुए क्षपक श्रेणिपर आरूढ़ हुए और जो भाव स्त्री वेद तथा भाव नपुंसक वेदके उदयसे क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ हुए वे पुरुप शुक्ल ध्यानके द्वारा सिद्ध पदको प्राप्त करते हैं ।

पत्तेयसयंबुद्धा बोहियबुद्धा य होंति ते सिद्धा ।
पत्तेयं पत्तेयं समयं समयं पडिवदामि सदा ।।७।।

प्रत्येक बुद्ध सिद्ध (जो किसी कारणसे प्रेरित होकर विरक्त हुए और पश्चात् जिन्होंने सिद्ध पद प्राप्त किया), स्वयं बुद्ध सिद्ध (जो बिना किसी बाह्य प्रेरणाके स्वयं विरक्त हुए और फिर जिन्होंने सिद्ध पद प्राप्त किया), और बोधित बुद्ध सिद्ध (जो दूसरेके समझानेसे बोधको प्राप्त हुए और फिर जिन्होंने सिद्ध पद प्राप्त किया) उनको पृथक् पृथक् प्रत्येकको तथा साथ साथ सबको सदा नमस्कार करता हूं ।

पण-णव-दु-अट्ठवीसाचउतियणवदी य दोण्णि पचेव ।
बावण्णहीणवियसय पयडिविणासेण होंति ते सिद्धा ।।८।।

ज्ञाना वरण कर्मकी पाँच, दर्शनावरण कर्मकी नौ, वेदनीय कर्मकी दो, मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस, आयु कर्मकी चार, नाम कर्मकी तिरानवे, गोत्र कर्मकी दो और अन्तराय कर्मकी पाँच इस प्रकार आठों कर्मोंकी ५२ कम २०० (२० -५२ = १४८) अर्थात् १४८ प्रकृतियोंको नष्ट करके वे सिद्ध होते हैं।

अइसयमव्वाबाहं सोक्खमणंतं अणोवम परमं।
इंदियविसयातीद अप्पत्तं अच्चव च ते पत्ता ॥९॥

उन सिद्धोंने जो सुख प्राप्त किया वह अतिशय अर्थात् संसार अवस्था में प्राप्त सुखोंसे बहुत अधिक है, अव्याबाध-बाधासे रहित है अर्थात् उस सुखकी अनुभूतिमें कभी कोई बाधा नहीं आती, अनन्य है—उसका कभी अन्त नहीं होता, अनुपम है—उसकी तुलना संसारके किसी सुखसे नहीं की जा सकती, उत्कृष्ट है, इन्द्रिय विषयोंसे अतीत है, सिद्ध पद प्राप्त करनेसे पहले ऐसा सुख कभी प्राप्त नहीं हुआ। और प्राप्त हो जानेके बाद वह कभी छूटता नहीं, सदा बना रहता है।

लोयग्गमत्थयत्था चरमसरीरेण ते हु किचूणा।
गयसित्थमूसगब्भे जारिस आयार तारिसायारा ॥१०॥

वे सिद्ध लोकके अग्रभागमें सिद्ध शिलापर विराजमान रहते हैं, जिस शरीरसे उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया है उससे उनका आकार कुछ न्यून रहता है। मोमसे बने मूषकका मोम गल जानेपर उसके अन्तर्वर्ती आकाशका जैसा आकार रहता है वैसा ही आकार सिद्धोंका होता है।

जर-मरण-जम्म-रहिया ते सिद्धा मम सुभत्तिजुत्तस्स।
दिंतु वरणाणलाहं बुहयणपरिपत्थणं परमसुद्धं ॥११॥

जरा, मरण और जन्मसे रहित वे सिद्ध परमेष्ठी सम्यक् भक्तिसे युक्त मुझ कुन्दकुन्दको उस परम शुद्ध उत्तम ज्ञानका लाभ दें, जिसके लिये बुधजन प्रार्थना किया करते हैं।

किच्चा काउस्सग्गं चउरट्ठयदोसविरहियं सुपरिसुद्धं।
अइभत्तिसपउत्तो जो वंदइ लहु लहइ परमसुहं ॥१२॥

जो बत्तीस दोषोंसे रहित अति शुद्ध कायोत्सर्गको करके अत्यन्त भक्तिपूर्वक वन्दना करता है वह शीघ्र ही परम सुखको प्राप्त करता है।

३ श्रुतभक्ति

सिद्धवरसासणाणं सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं ।
काऊण णमुक्कारं भत्तीए णमामि अंगाइं ॥१॥

जिनका श्रेष्ठ शासन (मत) सकल लोकमें प्रसिद्ध है और जो कर्मोंके चक्रसे मुक्त हो चुके हैं उन सिद्धोंको नमस्कार करके बारह अंगोंको भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं ।

अंगोंके नाम

आयार सुद्दयणं ठाणं समवाय वियाहपण्णत्ती ।
णाणा (णाहा) धम्मकहाओ उवासयाणं च अज्झयणं ॥२॥
वंदे अंतयडदस अणुत्तरदस च पण्हवायरणं ।
एयारसमं च तहा विवायसुत्त णमंसामि ॥३॥
परियम्मसुत्त पढमाणुओग-पुव्वगयन्चूलिया चेव ।
पवरवरदिट्ठिवादं तं पंचविहं पणिवदामि ॥४॥
उप्पायपुव्वमग्गायणीय वीरियत्थिणत्थि य पवादं ।
णाणा-सच्चपवाद आदा-कम्मपवादं च ॥५॥
पच्चक्खाणं विज्जाणुवाद-कल्लाणणामवरपुव्वं ।
पाणावायं किरियाविसालमध लोयबिंदुसारसुद ॥६॥

आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्या प्रज्ञप्ति, नाथ धर्मकथा, या ज्ञातृ धर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरोपपाद दश, प्रश्न व्याकरण, तथा ग्यारहवें विपाक सूत्र अंगको नमस्कार करता हूँ। परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, और चूलिका ये पाँच दृष्टिवादके भेद हैं। उस पाँच प्रकारके सर्वश्रेष्ठ दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगको नमस्कार करता हूँ। उत्पाद पूर्व, अग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्ति नास्ति प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्य प्रवाद, आत्म प्रवाद, कर्म प्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणनाम धेय, प्राणवाद, क्रिया विशाल, लोक विन्दुसार ये चौदह पूर्व हैं।

पूर्वोंमें वस्तु नामक अधिकारोंकी संख्या

दस चउदस अट्ठारस बारस तह य दोसु पुव्वेसु ।
सोलस वीसं तीसं दसमम्मि य पण्णारसवत्थू ॥७॥

एदेसिं पुव्वाणं जावदिओ वत्थुसंगहो भणिओ ।
सेसाण पुव्वाण दस दस वत्थू पडिवदामि ॥८॥

पहले पूर्वमे दस वस्तु हैं, दूसरेमें चौदह, तीसरेमें आठ, चौथेमें अट्ठारह, पाँचवें और छठेमें बारह बारह, सातवेंमे सोलह, आठवेंमें बीस नौवेंमे तीस तथा दसवें पूर्वमे पन्द्रह वस्तु हैं। शेष चार पूर्वोंमें दस दस वस्तु नामक अधिकार हैं। इन पूर्वोंमे जितने वस्तु अधिकार हैं उन सबको नमस्कार करता हूँ।

वस्तुमें प्राभृतोंकी संख्या

एक्केक्कम्मि य वत्थू वीसं वीसं च पाहुडा भणिया ।
विसमसमावि य वत्थू सव्वे पुण पाहुडेहि समा ॥९॥

एक एक वस्तु नामक अधिकारमें बीस बीस प्राभृत कहे हैं। कुछ पूर्वोंमें वस्तु अधिकार समान हैं जैसे दस और कुछ पूर्वोंमे वस्तु अधिकार समान नहीं हैं जैसे किसीमे चौदह, किसीमें अठारह आदि। किन्तु सब वस्तु अधिकारोंमे प्राभृतोंकी संख्या समान है अर्थात् प्रत्येक वस्तु अधिकारमें बीस बीस प्राभृत होते हैं।

चौदह पूर्वोंमें वस्तुओं और प्राभृतोंकी संख्या

पुव्वाण वत्थुसयं पंचाणउदी हवंति वत्थूओ ।
पाहुड तिण्णि सहस्सा णवयसया चउदसाण पि ॥१०॥

चौदह पूर्वोंमे एक सौ पिचानवें वस्तु अधिकार होते हैं। और १९५×२० = ३९०० तीन हजार नौ सौ प्राभृत होते हैं।

एव मए सुदपवरा भत्तीराएण सथुया तच्चा ।
सिग्घं मे सुदलाहं जिणवरवसहा पयच्छंतु ॥११॥

इस प्रकार मैंने भक्ति और प्रेमवश द्वादशांग रूप श्रेष्ठ श्रुतका तालिका रूपसे स्तवन किया। जिनवर ऋषभदेव मुझे शीघ्रही द्वादशांगरूप श्रुत ज्ञानका लाभ प्रदान करें।

४ चारित्र भक्ति

[1]तिलोयसव्वजीवाणं हिदं धम्मोवदेसिणं ।
वड्ढमाणं महावीरं वंदित्ता सव्ववेदिणं ॥१॥

---

१. तिलोए स—इति पाठान्तरम् ।

घादिकम्मविघादत्थं घादिकम्मविणासिणा ।
भासियं भव्वजीवाण चारित्तं पंचभेददो ॥२॥

तीनों लोकोंमे रहने वाले सब जीवोंके हितकारी, धर्मके उपदेष्टा सर्वज्ञ वर्धमान महावीरको नमस्कार करता हूँ। घाति कर्मोंका विनाश करनेवाले भगवान महावीरने घातिकर्मोंको नष्ट करनेके लिये, भव्य जीवोंको पॉच प्रकारका चारित्र कहा है।

चारित्रके पॉच भेद

सामाइयं तु चारित्त छेदोवट्ठावण तहा ।
तं परिहारविसुद्धि च सजमं सुहुमं पुणो ॥३॥

जहाखादं तु चारित्त तहाखादं तु तं पुणो ।
किच्चाहं पचहाचार मंगलं मलसोहण ॥४॥

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात, ये पॉच प्रकारका चारित्र है। यथाख्यातको तथाख्यात भी कहते है। कर्मरूपी मलका शोधन करने वाले और मंगल स्वरूप इस पॉच प्रकारके चारित्रको धारण करके मै सुखको प्राप्त करता हूँ।

मुनियोंके मूल गुण और उत्तरगुण

अहिंसादीणि उत्ताणि महव्वयाणि पंच य ।
समिदीओ तदो पंच पंच इंदियणिग्गहो ॥५॥

छब्भेयावास भूसिज्जा अण्हाणत्तमचेलदा ।
लोयत्तं ठिदिभुत्ति च अदंतधावणमेव य ॥६॥

एयभत्तेण संजुत्ता रिसिमूलगुणा तहा ।
दसधम्मा तिगुत्तीओ सीलाणि सयलाणि य ॥७॥

सव्वे वि परीसहा उत्तुत्तरगुणा तहा ।
अण्णे वि भासिया सता तेसिं हाणिं मए कया ॥८॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पॉच महाव्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग ये पाँच समितियॉ, स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र इन पाचों इन्द्रियोंका निग्रह, सामायिक स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ये छै आवश्यक,

पृथ्वीपर शयन, स्नान न करना, दिगम्बर रहना, केशलोंच करना, खड़े होकर भोजन करना, दन्त धावन न करना, तथा दिनमें एक बार भोजन करना, ये साधुओंके २८ मूल गुण हैं। उत्तम क्षमा आदि दस धर्म, तीन गुप्ति (मनो गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति), सब प्रकारका शील, सर्व परीपहोंको जीतना, ये मुनियोंके उत्तर गुण कहे हैं। केवल ये ही उत्तर गुण नहीं हैं अन्य भी उत्तर गुण जिनेन्द्रदेवने कहे हैं। यदि उनका पालन करते हुए मैंने उनकी हानि की हो तो—

जइ राएण दोसेण मोहेणाणादरेण वा।
वंदित्ता सव्वसिद्धाणं संजदा सा मुमुक्खुणा ॥९॥
संजदेण मए सम्मं सव्वसजमभाविणा।
सव्वसजमसिद्धीओ लब्भदे मुत्तिजं सुहं ॥१०॥

यदि रागसे, द्वेषसे, मोहसे अथवा अनादरसे उन मूलगुणों और उत्तर गुणोंमें क्षति पहुँची हो तो सम्यक् रीतिसे सम्पूर्ण संयमका पालन करने वाले मुझ संयमी मुमुक्षुको सब सिद्धोंको नमस्कार करके उस हानिका परित्याग करना चाहिये; क्योंकि सकल संयमकी सिद्धिसे मुक्तिका सुख प्राप्त होता है।

५ योगि-भक्ति

थोस्सामि गुणधराणं अणयाराणं गुणेहि तच्चेहिं।
अंजलि-मउलिय-हत्थो अभिवंदंतो सविभवेण ॥१॥

दोनों हाथोंको जोड़कर अपनी सामर्थ्यके अनुसार वन्दना करता हुआ मैं, गुणोंके धारक अनगारों (मुनियों) का तात्विक गुणोंके द्वारा स्तवन करता हूं।

सम्मं चेव य भावे मिच्छाभावे तहेव बोद्धव्वा।
चइऊण मिच्छभावे सम्मम्मि उवट्ठिदे वंदे ॥२॥

मुनि दो प्रकारके जानने चाहियें—एक समीचीन भावोंसे सम्पन्न भावलिंगी और एक मिथ्याभावसे सम्पन्न द्रव्यलिंगी। मिथ्याभाववाले द्रव्यलिंगी मुनिको छोड़कर भाव लिंगी मुनियोकी मैं वन्दना करता हूँ।

दो दोसविप्पमुक्के तिदंडविरदे तिसल्लपरिसुद्धे।
तिण्णियगारवरहिदे तियरणसुद्धे णमंसामि ॥३॥

जो मुनि राग और द्वेषसे विमुक्त हो चुके हैं, मन वचन कायके व्यापारसे विरत हैं, माया मिथ्यात्व और निदान इन शल्योंसे रहित होनेसे अति विशुद्ध हैं, शब्दगारव ऋद्धिगारव और रसगारव इन तीन गारवों (घमण्डों) से रहित है और जिनके मन वचन और कायकी प्रवृत्ति विशुद्ध हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ।

चउविहकसायमहणे चउगइसंसारगमणभयभीए।
पंचासवपडिविरदे पंचिंदियणिज्जिदे वंदे ॥४॥

जिन्होंने क्रोध मान माया लोभरूप चार कषायोंका मथन (विनाश) कर डाला है, जो चार गतिरूप संसारमें भ्रमण करनेके भयसे भीत है, जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके निमित्तसे होनेवाले आस्रवसे विरत हैं तथा पाँचों इन्द्रियोंको जिन्होंने जीत लिया है, उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

छज्जीवदयापण्णे छडायदणविवज्जिदे समिदभावे।
सत्तभयविप्पमुक्के सत्ताण सिवकरे वंदे ॥ ५ ॥

छ कायके जीवोंपर दयालु, मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तथा उनके धारक मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री मनुष्य इन छ आयतनोंसे रहित, क्रोधादि कषायोंका उपशम करनेवाले, सात प्रकारके भयसे मुक्त और प्राणियोंके लिये कल्याणकारी मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

णट्ठट्ठमयट्ठाणे पणट्ठ-कम्मट्ठणट्ठसंसारे।
परमट्ठणिट्ठियट्ठे अट्ठगुणड्ढीसरे वंदे ॥६॥

जिन्होंने ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि तप और शरीर सम्बन्धी आठ मदोंको नष्ट कर दिया है, आठों कर्मोंको तथा संसारको नष्ट कर दिया है, परमार्थ मोक्षको प्राप्त करना ही जिनका ध्येय है और जो आठ ऋद्धियोंके स्वामी हैं, उन मुनीश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूं।

णवबंभचेरगुत्ते णव-णयसब्भावजाणगे वंदे।
दहविहधम्मट्ठाई दस-सजमसंजदे वंदे ॥७॥

मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके भेदसे ३×३=९, नौ प्रकारसे जो ब्रह्मचर्यकी रक्षा करते हैं, और द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक

तथा दोनोंके भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत, इन नौ नयोंके स्वरूपको जानते हैं उन मुनियोंको नमस्कार करता हूं। तथा जो उत्तम क्षमादिरूप दस धर्मोंमें स्थित हैं अर्थात् उनका पालन करते हैं, और पाँचों इन्द्रियोंके विषयमें तथा एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त पाँच प्रकारके जीवोंके विषयमें संयमी हैं अर्थात् इन्द्रियोंको वशमे रखते है और जीवोंकी रक्षा करते हैं, उन सब मुनीश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूं।

एयारसंगसुदसायरपारगे बारसंगसुदणिउणे।
बारसविहतवणिरदे तेरस-किरियादरे वंदे ॥८॥

जो ग्यारह अंगरूपी श्रुतसमुद्रके पारगामी हैं, द्वादशांगरूप श्रुतमें निपुण हैं, बारह प्रकारका तपश्चरण करनेमें लीन रहते हैं और पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकारके चारित्रका आदर पूर्वक पालन करते हैं, उन मुनीश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

भूदेसु दयावण्णे चउदस चउदससु गंथपरिसुद्धे।
चउदसपुव्वपगब्भे चउदसमलवज्जिदे वंदे ॥९॥

जो एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त चौदह प्रकारके जीवोंपर दया करते हैं। मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य आदि छः नोकषाय और क्रोध मान माया लोभ इन चौदह प्रकारकी अन्तरंग परिग्रहोंसे रहित होनेके कारण अति विशुद्ध हैं, चौदह पूर्वोंके पाठी हैं और चौदह मलोंसे रहित हैं, उन मुनीश्वरोंको मे नमस्कार करता हूं।

वंदे चउत्थ भत्तादि जाव छम्मास खवण पडिवण्णे।
वंदे आदावंते सूरस्स य अहिमुहट्ठिदे सूरे ॥१०॥

जो चतुर्थ भक्त अर्थात् एक उपवाससे लेकर छः महीने तकका उपवास धारण करते हैं, उन मुनीश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूँ। तथा जो प्रातः कालसें और दोपहरमे सूर्यके सामने खड़े होकर तपस्या करनेमें समर्थ हैं उन मुनीश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

बहुविहपडिमट्ठाई णिसिज्जवीरासणेक्कवासी य।
अणिट्ठीवकंडुवदीवे चत्तदेहे य वंदामि ॥११॥

जो अनेक प्रकारके प्रतिमायोगोंको धारण करते हैं, निषद्या (एक

आसनसे बैठना) वीरासन आदि आसन लगाते हैं, एक पार्श्वसे शयन करते हैं, न थूकनेका, न खुजानेका व्रत लेते है और शरीरको हेय समझकर उसकी उपेक्षा करते हैं, उन मुनीश्वरोंको मै नमस्कार करता हूँ।

ठाणी मोणवदीए अब्भोवासी य रुक्खमूली य।
धुव-केस-मंसु-लोमे णिप्पडियम्मे य वंदामि ॥१२॥

जो खड़े होकर ध्यान करते हैं, मौन व्रतका पालन करते हैं, शीत ऋतुमें खुले आकाशके नीचे रहते है, और वर्षा ऋतुमे वृक्षके मूलमें निवास करते हैं, सिर और दाढ़ीके वालोंका लोच करते हैं और रोगादि होनेपर उनका प्रतिकार नहीं करते, उन मुनीश्वरोंको मै नमस्कार करता हूँ।

जल्ल-मल्ल-लित्त-गत्ते वंदे कम्म-मल-कलुस-परिसुद्धे।
दीह-णह-मंसु-लोमे तव-सिरि-भरिए णमंसामि ॥१३॥

जल्ल (सर्वाङ्ग मल) और मल्ल (एक अङ्गका मल) से जिनका शरीर लिप्त हैं, किन्तु कर्मरूपी मलकी कालिमासे जिनका आत्मा अति विशुद्ध है उन मुनिश्वरोंको मै नमस्कार करता हूँ। जिनके नख और दाढ़ीके बाल बढ़े हुए हैं, तथा जो तपरूपी लक्ष्मीसे परिपूर्ण हैं, उन मुनीश्वरोंको मै नमस्कार करता हूँ।

णाणोदयाहिसित्ते सीलगुणविहूसिदे तवसुगंधे।
ववगय-राय-सुदड्ढे सिवगइपहणायगे वंदे ॥१४॥

जो ज्ञानरूपी जलमें स्नान करते हैं, शील और गुणोंसे विभूषित हैं, तपसे सुगंधित हैं, रागसे रहित हैं, श्रुतसे सम्पन्न हैं और मोक्षगतिको ले जाने वाले मार्गके नायक हैं, उन मुनीश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूं।

उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे य घोरतवे।
वंदामि तवमहंते तवसंजमइड्ढिसंजुत्ते ॥१५॥

तप संयम और ऋद्धियोंसे संयुक्त उग्रतपस्वी (जो एक दिन, दो दिन चार दिन, पांच दिन, छै दिन, एक पक्ष, एक मास आदिका उपवास धारण करके उससे विचलित नहीं होते), दीप्त तपस्वी (महा उपवास करने पर भी जिनके शरीरकी कान्ति म्लान नहीं होती), तप्त तपस्वी (जैसे तपे हुए तवे पर गिरी जलकी बूंद झट सूख जाती है उसी तरह अल्पाहारके कारण जिनका आहार मलरूप परिणत नहीं होता), महातपस्वी

(सिंह निष्क्रिडित आदि महा उपवास करने वाले मुनि), घोर तपस्वी (भयंकर रोगोंसे ग्रस्त होने पर भी तपस्यासे न डिगने वाले और भयंकर स्थानोंमें निवास करने वाले मुनि) इन पूजनीय तपस्वी मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

आमोसहिए खेलोसहिए जल्लोसहिए तवसिद्धे ।
विप्पोसहीए सव्वोसहीए वंदामि तिविहेण ॥१६॥

आमौषधि ऋद्धिधारी मुनि (जिनके द्वारा किया हुआ आहार अपक्व अवस्थामें औषधि रूप परिणमन करता हो वे मुनि। अन्यत्र आमर्शौषधि ऋद्धि नाम है, जिन मुनिके हस्त आदिका स्पर्श औषधि रूप होता है वे मुनि आमर्शौषधि ऋद्धि धारी होते हैं), खेलौषधि ऋद्धिधारी मुनि (जिनका थूक औषधि रूप हो वे मुनि), जल्लौषधि ऋद्धिधारी मुनि (शरीरमें पसीनेके साथ जो धूल वगैरह जम जाती है उसे जल्ल कहते हैं जिन मुनियोंका जल्ल औषधि रूप हो), विडौषधि ऋद्धि धारी मुनि (जिनका मल औषधि रूप हो), और सर्वौषधि ऋद्धि धारि मुनि (जिनके अंगसे छूजाने वाली वायु आदि सब वस्तु औषधि रूप हो जाती हो) ऐसे तपस्वी मुनियोंको मन वचन कायसे मैं नमस्कार करता हूं।

अमय-महु-खीर-सप्पिसवीए अक्खीणमहाणसे वंदे ।
मणवलि-वचवलि-कायवलिणो य वंदामि तिविहेण ॥१७॥

जिन तपस्वी मुनियोंके हस्तपुटमें दिया गया नीरस आहार भी अमृतके समान, मधुके समान, खीरके समान या घीके समान स्वाद वाला और पौष्टिक हो जाता है, उन अमृतास्रवी, मध्वास्रवी, क्षीरास्रवी, सर्पिरास्रवी ऋद्धिधारी मुनियोंको तथा अक्षीण महानस ऋद्धिके धारी मुनियोंको (इस ऋद्धिके धारी मुनिको जिस वरतनमेंसे आहार दिया जाता है उस वरतनमेंसे यदि चक्रवर्तीकी सेना भी भोजन करे तो उस दिन अन्न कम नहीं होता) मैं नमस्कार करता हूँ। मनोवली (अन्त-मुहूर्तमें द्वादशांगका विचार करनेमें समर्थ मुनि), वचनवली (अन्तमुहूर्त में द्वादशांगका पाठ करनेमें समर्थ मुनि) और कायवली (महीने, चार महीने या एक वर्ष तक प्रतिमा योग धारण करने पर भी जिनका काय-वल क्षीण नहीं होता) मुनियोंको मैं मन वचन कायसे नमस्कार करता हूँ।

वरकुट्ठवीयवुद्धी पदाणुसारी य भिण्णसोदारे ।
उग्गह-ईहसमत्थे सुत्तत्थविसारदे वंदे ॥१८॥

कोष्ठबुद्धि ऋद्धिके धारी (जैसे कोठेमें सब प्रकारका धान अलग-अलग सुरक्षित रहता है वैसे ही जिनकी बुद्धिमें विविध विषयोंका ज्ञान अलग-अलग सुरक्षित रहता है) वे मुनि, बीजबुद्धि ऋद्धिके धारी (जैसे अच्छी भूमिमे बोया गया एक बीज अनेक बीजोको उत्पन्न करता है वैसे ही एक बीज पदको लेकर अनेक पदार्थोंका ग्रहण करना बीजबुद्धि नामक ऋद्धि है उसके धारी), पदानुसारित्व ऋद्धिके धारी (किसी ग्रन्थके एक पदका अर्थ सुनकर शेष ग्रन्थके अर्थका अवधारण करनेमे समर्थ मुनि), संभिन्न श्रोतृत्व ऋद्धिके धारी (चक्रवर्तीके वारह योजन लम्बे और नौ योजन चौड़े कटकमे पशुओं और मनुष्योंके उत्पन्न होनेवाले सब शब्दोंको जुदा-जुदा ग्रहण करनेकी शक्ति रखनेवाले मुनि), और अवग्रह और ईहाके द्वारा पदार्थोंके स्वरूपका निश्चय करनेमे कुशल तथा सूत्रोंके अर्थको जाननेवाले मुनियोंको, मै नमस्कार करता हूँ।

आभिणिबोहिय-सुद-ओहिणाणि-मणणाणि-सव्वणाणी य।
वंदे जगप्पदीवे पच्चक्ख-परोक्खणाणी य ॥ १६ ॥

अभिनिबोध (मतिज्ञान) ज्ञानके धारी, श्रुतज्ञानके धारी, अवधि-ज्ञानके धारी, मनःपर्यय ज्ञानके धारी और सर्वज्ञान अर्थात् समस्त लोकालोकको जाननेवाले केवलज्ञानके धारी, इस तरह जगतको प्रकाश करनेवाले प्रत्यक्षज्ञानी और परोक्षज्ञानी मुनियोंको मै नमस्कार करता हूँ।

आयास-तंतु-जल-सेढिचारणे जंघचारणे वंदे।
विउवणइड्ढिपहाणे विज्जाहरपण्णसवणे य ॥२०॥

पालथी लगाकर अथवा खड़े-खड़े बिना डग धरे आकाशमें गमन करनेकी शक्ति रखनेवाले मुनियोंको, तन्तु जल श्रेणि आदिका आलम्बन लेकर जलकायिक वायुकायिक आदि जीवोकी विराधना किये बिना भूमि-की तरह गमन करनेमे समर्थ मुनियोंको, पृथ्वीसे चार अंगुल ऊपर आकाशमे अपनी जवांओके द्वारा गमन करनेमे समर्थ जंघाचारण ऋद्धिधारी मुनियोंको, विक्रिया ऋद्धिके स्वामी मुनियोंको, विद्याधर मुनियोंको और प्रज्ञाश्रवणत्व ऋद्धिके धारी मुनियोको (द्वादशांगका पाठी न होने पर भी द्वादशांग सम्बन्धी प्रश्नका अपनी बुद्धिसे उत्तर देनेमे समर्थ मुनि प्रज्ञाश्रमण कहलाते हैं) मै नमस्कार करता हूँ।

बालक, गुरु, वृद्ध, शैक्ष्य, रोगी और स्थविर मुनियोके विषयमें वे आचार्य क्षमाशील होते हैं। और अन्य शिष्योंको दुःशील जानकर उन्हें सन्मार्गमे लगाते है।

वद-समिदि-गुत्तिजुत्ता मुत्तिपहे ठावया पुणो अण्णे।
अज्झावयगुणणिलये साहुगुणेणावि संजुत्ता ॥४॥

वे आचार्य ५व्रत, ५ समिति और तीन गुप्तियोंसे विशिष्ट होते हैं। दूसरोंको मुक्तिके मार्गमें लगाते हैं। तथा व उपाध्याय परमेष्ठीके गुणोंसे और साधु परमेष्ठीके गुणोंसे भी युक्त होते हैं।

उत्तमखमाए पुढवी पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा।
कम्मिंधणदहणादो अगणी वाऊ असंगादो ॥५॥

उत्तम क्षमामे वे पृथ्वीके समान क्षमाशील होते हैं। निर्मल परिणामोंके कारण स्वच्छ जलके समान होते हैं। कर्मरूपी ईधनको जलानेके कारण अग्निके तुल्य हैं और सब प्रकारकी परिग्रहसे रहित होनेसे वायुकी तरह निस्संग होते हैं।

गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरु व्व मुणिवसहा।
एरिसगुणणिलयाणं पायं पणमामि सुद्धमणो ॥६॥

मुनियोंमे श्रेष्ठ वे आचार्य आकाशकी तरह निर्लेप और सागरकी तरह क्षोभरहित-गम्भीर होते हैं। मैं शुद्ध मनसे इस प्रकारके गुणोंके घर आचार्य परमेष्ठीके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ।

संसारकाणणे पुण बंभममाणेहि भव्वजीवेहिं।
णिव्वाणस्स हु मग्गो लद्धो तुम्हं पसाएण ॥७॥

हे आचार्य! संसाररूपी भयंकर वनमें भ्रमण करनेवाले भव्य जीवोंने आपके प्रसादसे मोक्षका मार्ग प्राप्त किया है।

अविसुद्धलेस्सरहिया विसुद्धलेस्साहि परिणदा सुद्धा।
रुद्दट्टे पुण चत्ता धम्मे सुक्के य संजुत्ता ॥८॥

वे आचार्य कृष्ण नील और कापोत नामक बुरी लेश्याओंसे रहित होते हैं। और पीत पद्म शुक्ल नामक विशुद्ध लेश्याओंसे युक्त होते हैं। तथा आर्त और रौद्र ध्यानके त्यागी होते हैं और धर्म तथा शुक्ल ध्यानसे युक्त होते हैं।

उग्गह-ईहावायाधारणगुणसंपदेहि संजुत्ता ।
सुत्तत्थभावणाए भाविय माणेहि वंदामि ॥६॥

श्रुत ज्ञानको उत्पन्न करनेमें कारणभूत अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा रूप ज्ञानगुणकी सम्पत्तिसे वे आचार्य युक्त होते हैं। (अर्थात् मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है और मति ज्ञानके भेद अवग्रह ईहा अवाय और धारणा हैं)। उन आचार्योंको मैं नमस्कार करता हूँ।

तुम्हं गुणगणसंथुदि अजाणमाणेण जो मया वुत्तो ।
देउ मम बोहिलाहं गुरुभत्तिजुदत्थओ णिच्च ॥

हे आचार्य! आपके गुणोंको न जानते हुए आपके गुणोंके समूहका जो स्तवन मैंने किया है, वह गुरुभक्तिसे प्रेरित होकर किया है। गुरुभक्तिसे भरा हुआ यह स्तवन मुझे बोधिलाभ प्रदान करे।

७ निर्वाण भक्ति

अट्ठावयम्मि उसहो चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो ।
उज्जंते णेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो ॥१॥

अष्टापद (कैलास पर्वत) पर ऋषभनाथका, चम्पामें वासुपूज्यनाथका, ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार पर्वत) पर नेमिनाथका, और पावामें महावीर भगवानका निर्वाण हुआ।

वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा ।
सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥२॥

देवों और असुरोंसे वन्दित शेष वीस तीर्थङ्कर कर्मक्लेशको नष्ट करके सम्मेद शिखरसे निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

सत्तेव य बलभद्दा जदुवणरिंदाण अट्ठकोडीओ ।
गजपंथे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥३॥

सात बलभद्र और आठ करोड़ यादववंशी राजा गजपन्था गिरिके शिखर पर निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

वरदत्तो य वरंगो सायरदत्तो य तारवर-णयरे ।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥४॥

वरदत्त, वरांग, सागरदत्त और साढ़े तीन करोड़ मुनिराज तारवर नगरमें निर्वाणको प्राप्त हुए। उनको नमस्कार हो।

णेमिसामी पज्जुण्णो संबुकुमारो तहेव अणिरुद्धो ।
बाहत्तर कोडीओ उज्जंते सत्तसया सिद्धा ॥५॥

भगवान नेमिनाथ, कृष्णपुत्र प्रद्युम्न, शम्बुकुमार, अनिरुद्ध और बहात्तर करोड़ सात सौ मुनि उर्जयन्त गिरिपर मुक्त हुए ।

रामसुआ वेण्णि जणा लाडणरिंदाण पचकोडीओ ।
[1]पावागिरिवरसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥६॥

रामचन्द्रके लव कुश नामक दो पुत्र और लाट देशके पाँच करोड़ राजा पावागिरिके शिखरसे निर्वाणको प्राप्त हुए । उन्हे नमस्कार हो ।

पंडुसुआ तिण्णि जणा दविणणरिंदाण अट्ठकोडीओ ।
सितुंजेगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥७॥

पाण्डुके तीन पुत्र और आठ करोड़ द्रविड राजा शत्रुञ्जय गिरिके शिखर पर निर्वाणको प्राप्त हुए । उन्हे नमस्कार हो ।

राम-हणू-सुग्गीवो गवय-गवक्खो य णील-महणीला ।
णवणवदीकोडीओ तुंगीगिरिणिव्वुदे वंदे ॥८॥

रामचन्द्र, हनुमान, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील, महानील तथा निन्धानवें करोड़ मुनि तुङ्गी पर्वतसे निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो ।

[2]अंगाणंगकुमारा विक्खापंचद्धकोडिरिसिसहिया ।
सुवण्णगिरिमत्थयत्थे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥९॥

अंग या नंग और अनंगकुमार साढ़े पाँच करोड़ प्रसिद्ध मुनियोंके साथ सुवर्णगिरिके ऊपरसे निर्वाणको प्राप्त हुए । उन्हें नमस्कार हो ।

दहमुहरायस्स सुआ कोडी पंचद्ध मुणिवरे सहिया ।
रेवाउहयतडग्गे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१०॥

राजा दशमुख अर्थात् रावणके पुत्र साढ़े पाँच करोड़ मुनियोंके साथ रेवा नदीके दोनों तटोंसे मोक्षको प्राप्त हुए । उन्हें नमस्कार हो ।

---

१ 'पावाएगिरि'– पाठान्तर ।

२ 'णंगाणंगकुमारा कोडिपंचद्ध मुणिवरा सहिया ।
सुवण्णवरगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥९॥' इति पाठान्तरम् ।

रेवाणइए तीरे पच्छिमभायम्मि सिद्धवरकूडे ।
दो चक्की दह कप्पे आहुट्ठयकोडिणिव्वुदे वंदे ॥११॥

रेवा नदीके तीर पर पश्चिम भागमे स्थित सिद्धवर कूटपर दो चक्रवर्ती और दस कामदेव तथा साढ़े तीन कोटि मुनिराज मोक्षको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

वडवाणीवरणयरे दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे ।
इंदजियकुंभकण्णो णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१२॥

वडवानी नगरके दक्षिण भागमें स्थित चूलगिरिके शिखर पर इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हे नमस्कार हो।

पावागिरिवरसिहरे सुवण्णभद्दाइ मुणिवरा चउरो ।
चेलणाणईतडग्गे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१३॥

चेलना नदीके तटपर स्थित पावागिरिके शिखर पर सुवर्णभद्र आदि चार मुनिराज मोक्षको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

फलहोडीवरगामे पच्छिमभायम्मि दोणगिरिसिहरे ।
गुरुदत्ताइमुणिंदा णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१४॥

फलहोडी नामक गॉवके पश्चिम भागमे स्थित द्रोणगिरिके शिखर पर गुरुदत्त आदि मुनीन्द्र निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

णायकुमारमुणींदो वालि महावालि चेव अज्झेया ।
अट्ठावयगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१५॥

कैलास पर्वतके शिखरपर नागकुमार मुनि, वाली और महावाली निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हे नमस्कार हो।

अचलपुरवरणयरे ईसाणभाए मेढगिरिसिहरे ।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१६॥

एलिचपुर नगरकी ईशान दिशामे मेढगिरि (मुक्तागिरि) के शिखर-पर साढ़े तीन करोड़ मुनिराज मोक्षको प्राप्त हुए। उन्हे नमस्कार हो।

[1]वंसत्थलम्मि नयरे पच्छिमभायम्मि कुन्थगिरिसिहरे ।
कुलदेसभूसणमुणी णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१७॥

---

१ 'वसंत्थलवरणियडे'—पाठान्तर ।

वंशस्थल नगरके पश्चिम भागमे स्थित कुंथलगिरिके शिखरपर कुलभूषण देशभूषण मुनि निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

जसहररायस्स सुत्रा पंचसया कलिंगदेसम्मि।
कोडिसिला कोडिमुणी णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१८॥

यशोधर राजाके पाँच सौ पुत्र तथा एक करोड़ मुनि कलिग देशमें स्थित कोटिशिलासे निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

पासस्स समवसरणे [1]गुरुदत्त-वरदत्त-पंचरिसिपमुहा।
रिस्सिंदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१९॥

भगवान पार्श्वनाथके समवशरणमें गुरुदत्त वरदत्त आदि पाँच प्रमुख ऋषि रेशन्दीगिरके शिखरपर निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।

जे जिणु जित्थु तत्था जे दु गया णिव्वुदिं परमं।
ते वंदामि य णिच्चं तियरणसुद्धो णमसामि ॥२०॥

जो जिन जहाँ-जहाँसे निर्वाणको प्राप्त हुए हैं उनकी नित्य वंदना करता हूँ और मन वचन कायको शुद्ध करके उन्हें नमस्कार करता हूँ।

सेसाणं तु रिसीण णिव्वाण जम्मि जम्मि ठाणम्मि।
ते ह वंदे सव्वे दुक्खक्खयकारणट्ठाए ॥२१॥

शेप अन्य मुनियोका निर्वाण जिस जिस स्थानपर हुआ, दुखोंका क्षय करनेके लिये मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ।

पासं तह अहिणंदण णायद्दहि मंगलाउरे वंदे।
अस्सारम्भे पट्टणि मुणिसुव्वश्रो तहेव वंदामि ॥१॥

नागह्रद और मंगलापुरमे स्थित पार्श्वनाथ और अभिनन्दन नाथको नमस्कार करता हूँ। तथा अस्सारम्भ (?) नगरमे मुनिसुव्रत नाथको नमस्कार करता हूँ।

बाहूबलि तह वंदमि पोदणपुर हत्थिणापुरे वंदे।
संती कुंथुव अरिहो वाराणसीए सुपास पासं च ॥२॥

---

[1] –रणे सहिया वरदत्त मुणिवरा पंच। –पाठान्तर।

पोदनापुरमें बाहुबली, हस्तिनापुरमें शान्तिनाथ, कुंथनाथ, अरहनाथ को, वाराणसीमें सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथको नमस्कार करता हूँ।

महुराए अहिछित्ते वीरं पासं तहेव वंदामि।
जंबुमुणिंदो वंदे णिव्वुइपत्तो वि जंबुवणगहणे ॥३॥

तथा मथुरा और अहिछेत्र नगरमें महावीर और पार्श्वनाथको नमस्कार करता हूँ। और गहन जम्बूवनसे मोक्षको प्राप्त हुए जम्बू स्वामीको नमस्कार करता हूँ।

पंचकल्लाणठाणइ जाणि वि संजादमच्चलोयम्मि।
मणवयणकायसुद्धो सव्वे सिरसा णमसामि ॥४॥

मनुष्यलोकमें जितने भी पंचकल्याणकोंके स्थान हैं, मन वचन और कायको शुद्ध करके सबको मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

अग्गलदेवं वंदमि वरणयरे णिवणकुंडलीवंदे।
पासं सिरिपुरि वंदमि लोहागिरिसंखदीवम्मि ॥५॥

वर नगर (वड़ नगर) में अर्गलदेवको तथा निकट कुण्डली (?) को नमस्कार करता हूँ। श्रीपुरमें पार्श्वनाथकी वन्दना करता हूँ तथा लोहगिरि और शंखद्वीपमें भी (?) पार्श्वनाथकी वन्दना करता हूँ।

गोम्मटदेवं वंदमि पंचसयधणुहदेहउच्चं तं।
देवा कुणंति वुट्ठी केसरकुसुमाण तस्स उवरिम्मि ॥६॥

जिनके शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ धनुष है उन गोम्मट स्वामीको नमस्कार करता हूँ। उनके ऊपर देवगण केशरकी और पुष्पोंकी वर्षा करते हैं।

णिव्वाणठाण जाणि वि अइसयठाणाणि अइसये सहिया।
संजादमिच्चलोए सव्वे सिरसा णमंसामि ॥७॥

मनुष्यलोकमें जितने भी निर्वाण स्थान हैं और अतिशय सहित जितने अतिशय क्षेत्र हैं, उन सबको मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

८ पंचगुरु भक्ति

मणुय-णाइंद-सुरधरियछत्तत्तया, पंचकल्लाण-सोक्खावलीपत्तया।
दंसणं णाणझाणं अणंतं बलं ते जिणा दिंतु अम्हं वरं मंगलं ॥१॥

राजा, नागेन्द्र और सुरेन्द्र जिनके तीन छत्र लगाते हैं, जो पाँच कल्याणकोंके सुखोंको प्राप्त हैं, वे जिनेन्द्र हमे परम मंगल स्वरूप अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवल और शुक्लध्यान प्रदान करें।

जेहिं झाणग्गिबाणेहिं अइथद्दयं, जम्मजरमरणणयरत्तय दड्ढय।
जेहि पत्तं सिव सासयं ठाणयं ते मह दिंतु सिद्धा वरं णाणयं ॥२॥

जिन्होने शुक्लध्यानरूपी अग्निवाणोंसे अति मजबूत जन्म जरा और मरणरूपी तीन नगरोंको जला डाला। और जिन्होने शाश्वत मोक्षस्थानको प्राप्त कर लिया, वे सिद्ध मुझे उत्तम ज्ञान प्रदान करे।

पंचहाचारपचग्गिसंसाहया बारसंगाइं सुअजलहि अवगाहया।
मोक्खलच्छी महती महते सया सूरिणो दिंतु मोक्खं गयासंगया ॥३॥

जो पॉच आचाररूपी पञ्चाग्निका साधन करते हैं, और द्वादशांग श्रुतरूपी समुद्रमे अवगाहन करते हैं, सव प्रकारकी आशाओसे रहित मोक्षको प्राप्त हुए वे आचार्य मुझे सदा महती मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्रदान करें।

घोर-संसार-भीमाडवीकाणणे तिक्ख-वियराल-णह-पावपंचाणणे।
णट्ठमग्गाण जीवाण पहदेसिया वंदिमो ते उवज्झाय अम्हे सया ॥४॥

तीक्ष्ण विकराल नखवाला पापरूपी सिंह जहॉ वसता है, उस घोर संसाररूपी भयानक वीहड़ जगंलमे मार्गभ्रष्ट भव्यजीवोंको जो मार्ग-दर्शन कराते हैं, उन उपाध्याय परमेष्ठीको हम सदा नमस्कार करते हैं।

उग्गतवचरणकरणेहि झीणगया, धम्मवरझाणसुक्केक्कझाणं गया।
णिब्भरं तवसिरीए समालिंगया, साहवो ते महं मोक्खपहमग्गया ॥५॥

उग्र तपश्चरण करनेसे जिनका शरीर क्षीण हो गया है, जो उत्तम धर्मध्यान और शुक्लध्यानमे लीन रहते हैं, तथा जो तपरूपी लक्ष्मीके गाढ़ आलिंगनमें वद्ध हैं वे साधु मुझे मोक्षमार्गका प्रदर्शन करें।

एण थोत्तेण जो पंचगुरु वंदए, गरुयसंसारघणवेल्लि सो छिंदए।
लहइ सो सिद्धिसोक्खाइ वरमाणणं, कुणइ कम्मिंधणं पुंजपज्जालणं ॥६॥

जो इस स्तोत्रके द्वारा पंच परमेष्ठीकी वन्दना करता है, वह अनन्त संसाररूपी घनी वेलको काट डालता है। तथा वह उत्तम जनोंके द्वारा

मान्य मोक्षके सुखोंको प्राप्त करता है और कर्मरूपी ईंधनके ढेरको जलाकर भस्म कर देता है।

अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
एयाण णमुक्कारा भवे भवे मम सुहं दिंतु ॥७॥

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये पंच परमेष्ठी हैं। इनका नमस्कार मुझे भव भवमें सुख देवें।

---

१२. मोक्ष अधिकार

[मोक्षप्राभृतसे]

मंगलाचरण

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण[1]।
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥१॥

जिस कर्मोंकी निर्जरा करनेवालेने परद्रव्यको छोड़कर ज्ञानस्वरूप आत्माको प्राप्त किया है उस देवको वारम्वार नमस्कार हो।

प्रतिज्ञा

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं[2] सुद्धं।
वुच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥२॥
जं जाणिऊण जोई जोयत्थो जोइऊण अणवरयं।
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं लहइ णिव्वाणं ॥३॥

अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनसे सहित तथा अट्ठारह दोषोंसे रहित उस देवको नमस्कार करके, उत्कृष्ट योगियोंके लिये, परम पदमें विराजमान परमात्माका स्वरूप कहूँगा।

---

१ ख्विय—गा०। २—मणविसु—ऊ०।

जिसको जानकर तथा निरन्तर अनुभव करके ध्यानमें स्थित योगी वाधा रहित अविनाशी और अनुपम मोक्षको प्राप्त करता है।

आत्माके तीन भेद

तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीण[1]।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण[2] चइवि बहिरप्पा ॥४॥

शरीरधारियोंका आत्मा तीन प्रकारका होता है—परमात्मा, अन्तरात्मा और वहिरात्मा। वहिरात्माको त्याग कर अन्तरात्माके द्वारा परमात्माका ध्यान किया जाता है।

तीनोंका स्वरूप

अक्खाणि बहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए[3] देवो ॥५॥

इन्द्रियाँ वहिरात्मा हैं अर्थात् इन्द्रियोंको ही आत्मा मानने वाला प्राणी वहिरात्मा है। आत्मामें ही आत्माका संकल्प करने वाला सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा है। और कर्म कलंकसे विमुक्त आत्मा परमात्मा है। उसे ही देव कहा जाता है।

सिद्ध परमात्माका स्वरूप

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥६॥

वह परमात्मा मैलसे रहित है, शरीरसे रहित है, इन्द्रियोंसे रहित है, केवलज्ञानमय है, विशुद्ध है, परम पदमें स्थित है, परम जिन है, मोक्षको देने वाला है, अविनाशी है और सिद्ध है।

परमात्माके ध्यानका उपदेश

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहि ॥७॥

अन्तरात्माको अपनाकर और मन वचन कायसे बहिरात्माको छोड़कर परमात्माका ध्यान करो, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

---

१ हेऊण आ०। २ अंतोऊण आ०। अंतो वा च—ग०। ३ सन्नए ऊ०।

बहिरात्माकी प्रवृत्ति

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि[1] मूढदिट्ठीओ ॥८॥

मूढ़दृष्टि बहिरात्मा इन्द्रियोंके द्वारा धन धान्य आदि बाह्य पदार्थोंमें मनको लगाता है, और स्वरूपसे च्युत होता हुआ अपने शरीरको आत्मा मानता है।

[2]णियदेहस्स सरिस्सं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण ।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभावेण ॥९॥

मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा अपने शरीरके समान दूसरेके शरीरको देखकर, यद्यपि वह अचेतन है, फिर भी बड़े यत्नपूर्वक परम भावसे उसका ध्यान करता है।

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदियत्थमप्पाणं ।
सुयदाराईविसए मणुवाणं वड्ढए मोहो ॥१०॥

इस प्रकार देहोंको ही अपना और परका आत्मा माननेसे, पदार्थोंके स्वरूपको न जानने वाले मनुष्योंका स्त्री पुत्र आदिके विषयमें मोह बढ़ता है।

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो ।
मोहोदएण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ ॥११॥

मिथ्या ज्ञानमें लीन हुआ और मिथ्याभावकी भावना रखता हुआ मनुष्य मोहके उदयसे फिर भी शरीरको आत्मा मानता है।

निर्वाणको कौन प्राप्त करता है

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो ।
आदसहावेसु रओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥१२॥

जो योगी शरीरसे उदासीन है, निर्द्वन्द्व है ममत्व रहित है, आरम्भ रहित है और आत्म स्वभावमें लीन है, वह निर्वाणको प्राप्त करता है।

---

१ –सदि य मू–आ० । २ णियदेहं सारिच्छं ग०, ऊ० ।

संक्षेपमें बन्ध और मोक्षका कारण

परदव्वरओ बज्झइ विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं।
एसो जिणउवएसो समासओ बंधमुक्खस्स ॥१३॥

जो जीव परद्रव्यसे राग करता है, वह अनेक प्रकारके कर्मोंका बंध करता है और जो परद्रव्यमें राग नहीं करता है वह अनेक प्रकारके कर्म बन्धनसे छूट जाता है, यह जिनेन्द्र भगवानने संक्षेपसे बन्ध और मोक्षके स्वरूपका उपदेश दिया है।

सद्दव्वरओ सवणो सम्मादिट्ठी हवेइ णियमेण।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥१४॥

जो श्रमण अपने आत्मामें लीन है वह नियमसे सम्यग्दृष्टि है। और जो सम्यग्दृष्टी है वही आठ दुष्ट कर्मोंका नाश करता है।

जो पुण परदव्वरओ मिच्छाइट्ठी हवेइ सो साहू।
मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ॥१५॥

और जो साधु परद्रव्यमें लीन है, वह मिथ्यादृष्टी है। तथा जो मिथ्यादृष्टी है वह दुष्ट आठ कर्मोंको बाँधता है।

परद्रव्य और स्वद्रव्यके रागका फल

परदव्वादो दुग्गइ सद्दव्वादो हु सुग्गई होई।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि ॥१६॥

परद्रव्यमें राग करनेसे दुर्गति होती है और स्वद्रव्यमें राग करनेसे सुगति होती है। ऐसा जानकर स्वद्रव्यमें राग करो और पर द्रव्यमें राग मत करो।

पर द्रव्यका स्वरूप

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमीसियं हवदि।
तं परदव्वं भणियं अवियत्थं सव्वदरिसीहिं ॥१७॥

आतम स्वभावसे अन्य जो स्त्री पुत्रादि सचित्त पदार्थ, धन-धान्य आदि अचेतन पदार्थ और आभूषण पहिने हुए पुरुष आदि सचेतन-अचेतन पदार्थ हैं, सर्वज्ञ भगवानने उन सबको वास्तवमें परद्रव्य कहा है।

स्वद्रव्यका स्वरूप

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणेहि कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं ॥१८॥

आठ दुष्ट कर्मोंसे रहित, अनुपम, ज्ञान शरीरी, नित्य और शुद्ध आत्माको जिनेन्द्रदेवने स्वद्रव्य कहा है ।

स्वद्रव्यके ध्यानसे मोक्षकी प्राप्ति

जे [1]झायंति सदव्वं परदव्व[2]परम्मुहा दु सुचरित्तं[3] ।
ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहहि णिव्वाणं ॥१९॥

जो परद्रव्यसे विमुख होकर सम्यक् चारित्रसे युक्त आत्मद्रव्यका ध्यान करते हैं, वे जिनवर भगवानके मार्गमें लगे रहकर मोक्षको प्राप्त करते है ।

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं ।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं ॥२०॥

योगीको जिनवर भगवानके द्वारा बतलाये हुए मार्गके अनुसार ध्यानमें शुद्ध आत्माको ध्याना चाहिये । जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है क्या उससे स्वर्गलोककी प्राप्ति नहीं हो सकती ? अर्थात् ध्यान करनेसे यदि मोक्ष न भी मिला तो स्वर्ग तो मिल ही जायेगा । अतः जैनमार्गके अनुसार ही शुद्धात्माका ध्यान करना चाहिये ।

उक्त कथनका दृष्टान्त द्वारा समर्थन

जो जाइ जोयणसयं दिवहेणेक्केण लेवि गुरुभारं ।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कइ जाउ भुवणयले ॥२१॥

जो मनुष्य भारी बोझ लेकर एक दिनमें सौ योजन जाता है, क्या वह भूमितलपर आधा कोस भी नहीं जा सकता ?

जो कोडिणरेहि ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं ।
सो किं जिप्पइ एक्कं णरेण संगामए सुहडो ॥२२॥

---

१ झाएहि आ० । २ –व्वं परा–आ० । ३ –रिता ग० ।

जो योद्धा युद्ध करनेवाले करोड़ों मनुष्योंसे भी नहीं जीता जाता, क्या वह योद्धा युद्धमें एक मनुष्यके द्वारा जीता जा सकता है ?

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए किंतु झाणजोएण ।
[1]जो पावइ सो पावइ परे भवे सासयं सुक्खं ॥२३॥

तपसे तो सभी स्वर्ग प्राप्त करते हैं। किन्तु जो ध्यानके द्वारा स्वर्ग प्राप्त करता है वह दूसरे भवमें अविनाशी सुख अर्थात् मोक्षको प्राप्त करता है।

आत्माके परमात्मा होनेमें दृष्टान्त

अइसोहणजोएणं सुद्धं हेम्मं हवेइ जह तह य ।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवइ ॥२४॥

जैसे अति शोधनके (?) योगसे सोना शुद्ध हो जाता है वैसेही काल आदि लब्धियोंका योग मिलनेसे आत्मा परमात्मा हो जाता है।

तपके द्वारा स्वर्ग भी मिले तो उत्तम है

[2]वरवयतवेहिं [3]सग्गो मा दुक्खं होइ णिरइ इयरेहि ।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥२५॥

व्रत और तपसे स्वर्ग पाना उत्तम है किन्तु व्रत और तपको न पालनेसे नरकमें दुःख उठाना ठीक नहीं है। छाया और धूपमें बैठे हुए मनुष्योंमें जैसे बहुत भेद है वैसे ही व्रत और तपका पालन करनेवालों और न करने वालोंमें बहुत भेद हैं।

आत्माका ध्यान करो

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारम[4]हावणस्स रुद्दाओ ।
कम्मिंधणाण [5]डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥२६॥

जो संसार रूपी महावनके विस्तारसे निकलना चाहता है, वह कर्मरूपी ईंधनको जलाने वाले शुद्ध आत्माका ध्यान करता है।

---

१ णो पा–आ० । २ वरं आ० । ३ सग्गे आ० । ४ –महाणवस्स रुद्दस्स आ०, महण्णवस्स रुंदस्स ऊ० । ५ डहणो आ० ।

ध्यान कैसे करना चाहिये

सव्वे कसाय मुत्तुं गारव-मय-राय-दोस-वामोहं ।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएह झाणत्थो ॥२७॥

ध्यानमें बैठे हुए मुनिको सब कषायोंको तथा गारव मद राग द्वेष और व्यामोहको छोड़कर व लोकव्यवहारसे विरत होकर आत्माका ध्यान करना चाहिये ।

मिच्छत्त अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो [1]झाइए अप्पा ॥२८॥

मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्यको मन वचन कायसे त्याग कर, योगमें स्थित योगी मौनव्रत पूर्वक आत्माका ध्यान करता है ।

मौनपूर्वक ध्यान करनेमें हेतु

जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणेइ सव्वहा ।
जाणगं दिस्सदे [2]णेवं तम्हा जपेमि केण हं ॥२९॥

क्योंकी वह सोचता है कि जो रूप (शरीर) मैं देखता हूं वह कुछ भी नहीं जानता । और जो जानने वाला आत्मा है वह दिखाई नहीं देता, तव मैं किससे वातें करूँ । (अतः मौन पूर्वक ही ध्यान करता है) ।

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवइ संचियं ।
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥३०॥

योगमे स्थित योगी सब कर्मोंके आस्रवको रोक कर पहलेके संचित कर्मोंका क्षय करता है फिर (केवल ज्ञानी होकर) सबको जानता है ऐसा जिन देवने कहा है ।

योगी लोकव्यवहारसे विरत क्यों होता है—

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जमि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥
इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं ।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेहिं ॥३२॥

---

१ जोइय ग०, ऊ० । २ णं तं ग०, ऊ० ।

जो योगी लोक व्यवहारमें सोता है वह आत्मिक कार्यमें जागता है। और जो लोक व्यवहारमे जागता है वह आत्मिक कार्यमें सोता है। ऐसा जानकर योगी सब प्रकारके व्यवहारको सर्वथा छोड़ देता है और जैसा जिनेन्द्र देवने कहा है उसी प्रकारसे परमात्माका ध्यान करता है।

ध्यान करनेकी प्रेरणा

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह ॥३३॥

आचार्य कहते हैं कि हे भव्य! तू पाँच महाव्रतोंको धारण करके, तथा पाँच समिति तीन गुप्ति और रत्नत्रयसे संयुक्त होकर सदा ध्यान और स्वाध्याय किया कर।

आराधकका लक्षण और आराधनाका फल

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो।
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥३४॥

सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी आराधना करने वाले जीवको आराधक जानो। आराधना करनेका फल केवलज्ञानकी प्राप्ति है।

आत्मा ही केवल ज्ञान है—

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य।
सो जिणवरेहि भणिओ जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

जिनवर भगवान्ने सिद्ध पदको प्राप्त शुद्ध आत्माको सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा है, उसे ही तुम केवलज्ञान जानो। अर्थात् केवलज्ञान आत्मरूप है। इसलिये केवल ज्ञानकी प्राप्ति शुद्धात्माकी ही प्राप्ति है।

रत्नत्रयका आराधक आत्माका ही आराधक है—

रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण।
सो झायइ अप्पाणं परिहरइ परं ण संदेहो ॥३६॥

जो योगी जिनवर भगवानके द्वारा बतलाए हुए मार्गके अनुसार रत्नत्रयकी आराधना करता है वह आत्माका ध्यान करता है और परवस्तुका त्याग करता है इसमे कोई सन्देह नहीं है।

अभेद रत्नत्रयका स्वरूप

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं ।
तं चारित्त भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥३७॥

जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है वही दर्शन है, और जो पुण्य और पापका परित्याग करता है वह चारित्र है। अर्थात् आत्मा ही जानता है, वही देखता है और वही त्याग करता है अतः वह स्वयं ही रत्नत्रय है।

भेदरत्नत्रयका स्वरूप

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं ।
चारित्त परिहारो पयंपियं जिणवरिंदेहिं ॥३८॥

तत्त्वोंमें रुचि होनेका नाम सम्यग्दर्शन है। तत्त्वोंके स्वरूपको ठीक ठीक ग्रहण करना सम्यग्ज्ञान है। और कर्मोंको लानेवाली क्रियाओंको त्यागना सम्यक् चारित्र है, ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है।

इस कथनका खुलासा

इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु ।
तं सम्मत्त भणियं समणाणं सावयाण पि ॥४०॥

इस प्रकारका उपदेश ही सार भूत है और वही बुढ़ापा मरण आदि संसारिक रोगोंको हरनेवाला है, जो ऐसा मानता है उसे सम्यग्दर्शन कहा है। यह सम्यग्दर्शन मुनि और श्रावक दोनोंके लिये है।

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण ।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं ॥४१॥

जिनवर भगवानके द्वारा बतलाये हुए मार्गके अनुसार योगी जो जीव और अजीवके भेदको जानता है, उसे सर्वदर्शी परमात्माने यथार्थ सम्यग्ज्ञान कहा है।

[1]तं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाण ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएहिं ॥४२॥

---

१ जं ग०, ऊ० ।

उस जीव अजीवके भेदको जानकर योगी जो पुण्य और पापका त्याग करता है उसे कर्मोंसे रहित जिनेन्द्रदेवने निर्विकल्प चारित्र कहा है।

मोक्षको कौन प्राप्त करता है—

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥४३॥

जो संयमी रत्नत्रयसे युक्त होता हुआ अपनी शक्तिपूर्वक तप करता है वह शुद्ध आत्माका ध्यान करता हुआ परम पद मोक्षको प्राप्त करता है।

मय-माय-कोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सुक्खं ॥४५॥

जो जीव मद माया और क्रोधसे रहित है, लोभसे रहित है और निर्मल स्वभाव वाला है, वह उत्तम सुखको प्राप्त करता है।

विसयकसाएहिं जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ॥४६॥

जो जीव विषय और कषायोंमें फँसा हुआ है, रौद्र परिणामी है, तथा जिसका मन परमात्माकी भावनासे शून्य है, वह जीव जिन मुद्रासे विमुख होनेके कारण मोक्षके सुखको प्राप्त नहीं कर सकता।

जिनमुद्रा ही मोक्षका कारण है—

जिणमुद्दा सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥४७॥

जिनवर भगवानके द्वारा उपदिष्ट जिन मुद्रा ही मोक्ष सुखका कारण है। जिन्हें स्वप्नमें भी यह जिनमुद्रा नहीं रुचती वे जीव संसाररूपी गहन वनमें पड़े रहते हैं।

परमात्माके ध्यानसे कर्मनिवृत्ति

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ [1]मलपलोहेण।
णादियदि णव कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि ॥४८॥

---

१ –मलदलो–आ०।

परमात्माका ध्यान करने वाला योगी कर्मरूपी महामलके ढेरसे मुक्त हो जाता है तथा नये कर्मोंको ग्रहण नहीं करता, ऐसा जिनवर देवने कहा है।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥४६॥

इस प्रकार चारित्रमें दृढ़ होकर और मनमें दृढ़ सम्यग्दर्शनकी भावना लेकर आत्माका ध्यान करने वाला योगी परमपद मोक्षको प्राप्त करता है।

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं।
होइ धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥७०॥

जिनका आत्मा सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है, चारित्र दृढ़ है और मन विषयोंसे विरक्त है, उन आत्माका ध्याने करने वालोंको निश्चयसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

जो लोग कहते है कि यह ध्यानयोगका समय नहीं है, उन्हें उत्तर—

[1]चरियाचरिया वद-समिदि-वज्जिया सुद्धभावपब्भट्टा।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥७३॥

जिन्होंने कभी चारित्रका आचरण नहीं किया, जो व्रतों और समितियोंसे दूर हैं तथा शुद्ध भावोंसे शून्य हैं, ऐसे कुछ लोग कहते हैं कि यह काल ध्यान-योगके योग्य नहीं है।

सम्मत्त-णाण-रहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को।
संसारसुहेसु रदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७४॥

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित हैं, जिसे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता तथा जो सांसारिक सुखोंमें ही लीन रहता है, ऐसा अभव्य जीव ही यह कहता है कि यह ध्यानका काल नहीं है।

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
सो [2]णट्ठो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७५॥

---

१ –पावरि –आ०, ऊ०। २ मूढो ऊ०।

जो अज्ञानी पाँच महाव्रतोंमे पाँच समितियोंमे और तीन गुप्तियोंमें भ्रष्ट हो गया है, वह कहता है कि यह ध्यानका काल नहीं है।

भरहे दुस्समकाले धम्मं झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावट्ठिदे ण हु मण्णइ सो हु अण्णाणी ॥७६॥

भरत क्षेत्रमें इस पंचम कालमें साधुके धर्मध्यान होता है। किन्तु वह धर्म ध्यान उसी साधुके होता है जो आत्म स्वभावमे स्थित है। जो ऐसा नहीं मानता वह भी अज्ञानी है।

आजकल भी जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं—

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्त।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुया णिव्वुदि जंति ॥७७॥

आज भी रत्नत्रयसे पवित्र मुनि आत्माका ध्यान करके इन्द्रपद और लौकान्तिक देवके पदको प्राप्त करते हैं और वहाँसे च्युत होने पर (विदेह क्षेत्रमें जन्म लेकर) मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

नीचे लिखे जीवोंके लिये मोक्षका निषेध

जे पावमोहियमई लिंगं घित्तूण जिणवरिंदाण।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥७८॥

जो पाप बुद्धिवाले जीव जिनवर तीर्थङ्कर देवका जिनलिंग धारण करके भी पाप करते हैं वे पापी मोक्षमार्गसे भ्रष्ट हैं।

जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाही य जायणासीला।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥७९॥

जो पाँच प्रकारके वस्त्रोंमें आसक्त हैं अर्थात् सूत, ऊन, रेशम, चमड़ा अथवा छालसे वने वस्त्रका उपयोग करते हैं, परिग्रह रखते है, दूसरोंसे माँगते हैं, तथा नीच कर्म करनेमे लीन हैं, वे मोक्ष मार्गके पात्र नहीं है।

मोक्षके पात्र व्यक्ति

णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८०॥

जो अन्तरंग और वाह्य परिग्रहसे रहित हैं, निर्मोही हैं, वाईस परीपहों-को सहते हैं, जिन्होंने क्रोध आदि कपायोंको जीत लिया है, तथा जो पापरूप आरम्भ नहीं करते, वे मुनि मोक्ष मार्गके पात्र हैं।

उद्धद्धमज्झलोए केई मज्झं ण अहयमेगागी।
इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं [1]ठाण ॥८१॥

ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोकमें मेरा कोई नहीं है, मैं अकेला ही हूँ। इस भावनासे योगी शाश्वत स्थान अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं।

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेयपरंपराविचिंतिंता।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८२॥

जो देव और गुरुके भक्त है, वैराग्यकी परम्पराका चिन्तन करते हैं, ध्यानमें लीन रहते है तथा जिनका चारित्र उत्तम है, वे साधु मोक्षमार्गके पात्र हैं।

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
[2]सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

निश्चयनयका ऐसा अभिप्राय है कि आत्मामें आत्माके द्वारा अच्छी तरहसे लीन आत्मा ही सम्यक् चारित्रका पालक योगी है। और वही निर्वाणको प्राप्त करता है

आत्माको जानना कठिन है—

[3]दुक्खं णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियसहावपुरिसो विसएसु [4]विरच्चइ दुक्खं ॥६५॥

वड़ी कठिनतासे आत्माको जाना जाता है। आत्माको जानकर उसीमें भावना होना और भी कठिन है। और आत्माकी भावना करनेवाला पुरुष भी कठिनतासे ही विषयोंसे विरक्त होता है।

[5]ताव ण [6]णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।
[7]विसए [8]विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

---

१ सोक्खं ऊ० । २ जो आ०, ग० । ३ दुक्खे ग० । ४ –विरच्चए ऊ०, ग० । ५ तान ऊ० । ६ णज्जरइ ग० । ७ विसर्यावि– आ० । ८ विरत्तो चि– ग० ।

जब तक मनुष्य विषयोंमें लीन रहता है तब तक आत्माको नहीं जानता। जिसका चित्त विषयोंसे विरक्त है वह योगी ही आत्माको जानता है।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्ठा।
हिंडंति [1]चाउरंगे विसएसु विमोहिया मूढा ॥६७॥

विषयोंमे विमोहित हुए कुछ मूढ़ मनुष्य आत्माको जानकर भी आत्म भावनासे भ्रष्ट होनेके कारण चारगति रूप संसारमे भ्रमण करते हैं।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छंडंति चाउरंगं तव-गुणजुत्ता ण संदेहो ॥६८॥

किन्तु जो विषयोंसे विरक्त हैं और आत्माको जानकर आत्माकी भावना भाते हैं, तथा तप और सम्यग्दर्शन आदि गुणोंसे विशिष्ट हैं, वे योगी चतुर्गतिरूप संसारको छोड़ देते हैं, इसमे कुछ भी सन्देह नहीं है।

परमाणुपमाणं [2]वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स[3] विवरीदो ॥६६॥

मोहके कारण जिस मनुष्यकी परद्रव्यमे परमाणुके बराबर भी रति होती है वह मूर्ख अज्ञानी है; (क्योंकि उसका यह कार्य) आत्माके स्वभावके विपरीत है।

आत्मा ज्ञानके बिना सब क्रिया व्यर्थ है—

बाहिरसंगविमुक्को ण विमुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो।
किं तस्स ठाणमोणं[4] ण विजाणदि अप्पसब्भावं[5] ॥६६॥

जो निर्ग्रन्थ साधु बाह्य परिग्रहको तो छोड़ चुका है किन्तु जिसने मिथ्यात्वको नहीं छोड़ा है, उसके कायोत्सर्ग और मौनसे क्या लाभ है जबकि वह आत्माके अस्तित्वको ही नहीं जानता।

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगो [6]णियदं ॥६७॥

---

१ चाउरंगं ऊ० ग०। २ या ऊ०। ३ –सहावादु ग०। ४ मउणं ऊ०। ५ –समभावं ऊ० ग०। ६ णिच्चं ऊ०।

जो साधु मूलगुणोंका घात करके बाह्य क्रिया करता है वह मोक्ष सुखको नहीं पाता, क्योंकि वह नियमसे जिन लिंगकी विराधना करता है।

किं काहिदि वहिकम्मं किं काहिदि वहुविहं च खवणं [1]तु।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥६८॥

आत्माके स्वभावसे विपरीत प्रवृत्ति करने वाला मनुष्य वाह्य क्रिया क्यों करता है, क्यों अनेक प्रकारके उपवास आदि करता है और क्यों आतापन योग करता है। अर्थात् उसका यह सब करना निरर्थक है।

जइ [2]पढसि वहुसुयाणि[3] य जइ [4]काइहि बहुविहं[5] च चारित्तं।
तं वालसुयं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीयं ॥६६॥

हे जीव! यदि तू आत्म स्वभावके विपरीत वहुतसे शास्त्रोंको पढ़ता है, तथा अनेक प्रकारका चारित्र पालता है तो वह सब मूर्खोंका शास्त्र पठन और मूर्खोंका चारित्र है।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य सो होदि।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥१००॥
गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू।
झाणज्झएसु [6]णिरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥१०१॥

जो साधु वैराग्यमें तत्पर है, पर द्रव्यसे विमुख है, सांसारिक सुखोंसे विरक्त है और आत्मिक शुद्ध सुखमें लीन है, जिसका अंग गुणोंके समूहसे सुशोभित है, जो हेय और उपादेयका निश्चय कर चुका है तथा ध्यान और पठन पाठनमें लगा रहता है, वह साधु उत्तम स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

णविएहि जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहि अणवरयं।
थुव्वंतेहि थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥१०२॥

इसलिये नमस्कार करनेवाले जिसको नमस्कार करते हैं, ध्यान करनेवाले निरंतर जिसका ध्यान करते हैं और स्तुति करने वाले जिसका स्तवन करते हैं वह शरीरमें स्थित आत्मा ही है, अन्य कुछ भी नहीं है, उसे ही जानो।

---

१ च ऊ०। २ पढदि ऊ०। ३ –सुयाणं आ० ग०। ४ काहिदि ऊ ग। ५ वहुविहे य चारित्ते ऊ। ६ –रत्तो ऊ।

आत्मा ही शरण है

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०३॥

अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं, वे भी आत्मामे ही स्थित हैं अर्थात् आत्मा ही अर्हन्त सिद्ध आदि अवस्थावाला है । इसलिये निश्चयसे आत्मा ही मेरा शरण है ।

सम्मत्तं सण्णाणं [1]सच्चारित्तं हि [2]सत्तवं चेव ।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०४॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चारों आत्मामें ही स्थित हैं । अतः आत्मा ही निश्चयसे मेरा शरण है ।

एवं जिणपण्णत्त मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥१०५॥

इस प्रकार जिन भगवानके द्वारा कहे हुए मोक्ष प्राभृतको जो भक्ति पूर्वक पढ़ता है, सुनता है और वारम्वार चिन्तन करता है वह शाश्वत सुख (मोक्ष) को प्राप्त करता है ।

मोक्षका स्वरूप

जाइ-जर-मरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं ।
णाणाइ चउसहावं अक्खयमविणासमच्छेज्जं ॥ [नियo १७६]

मोक्ष जन्म, जरा और मरणसे रहित है; उत्कृष्ट है, आठ कर्मोंसे रहित है, शुद्ध है अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त-वीर्य इन चार आत्मिक स्वभावोंसे युक्त है, क्षय रहित है, विनाश रहित है तथा अछेद्य है ।

अव्वाबाहमणिंदियमणोवम पुण्णपावणिम्मुक्कं ।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालम्बं ॥ [नियo १७७]

मोक्ष बाधारहित है, अतीन्द्रिय है, अनुपम है, पुण्य और पापसे निर्मुक्त है, पुनः संसारमें आगमनसे रहित है, नित्य है, अचल है और आलम्बन-रहित है ।

---

१ सचरितं आ, ऊ । २ सत्तवो ग ।

ण वि दुक्खं ण वि सुक्खं ण वि पीडा णेव विज्जदे बाहा ।
ण वि मरणं ण वि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥ [नि०१७८]

जहाँ न तो कोई दुःख है, न सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म है, वहीं निर्वाण है ।

ण वि इंदिय उवसग्गा ण वि मोहो विम्हयो ण णिद्दा य ।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य हवदि णिव्वाणं ॥ [नि० १७९]

जहाँ न तो इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग है न मोह है, न आश्चर्य है, न निद्रा है न तृष्णा है, और न भूख है वहीं निर्वाण है ।

ण वि कम्मं णोकम्मं ण वि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि ।
ण वि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥ [नि० १८०]

जहाँ न तो कर्म हैं, न नोकर्म हैं, न चिन्ता है, न आर्त और रौद्रध्यान हैं तथा धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान भी नहीं हैं, वहीं निर्वाण है ।

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं ।
केवलदिट्ठि अमुत्त अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥ [नि० १८१]

मुक्तात्मामे केवल ज्ञान, केवल सुख, केवल दर्शन, अमूर्तत्व, अस्तित्व और प्रदेशवत्व, ये गुण रहते हैं ।

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा ।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥ [नि० १८२]

मुक्तजीव ही निर्वाण है और निर्वाण ही मुक्तजीव है ऐसा कहा है । अर्थात् आत्माकी शुद्ध अवस्थाका ही नाम निर्वाण है इसलिये निर्वाणमें और निर्वाणको प्राप्त जीवमे कोई भेद नहीं है । जो आत्मा कर्मोंसे मुक्त होता है वह मुक्त होते ही ऊपर लोकके अग्रभाग तक जाता है ।

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥ [नि० १८३]

जहाँतक धर्मास्तिकाय नामका द्रव्य है वहीं तक जीव और पुद्गलोंका गमन जानो । लोकके अग्रभावसे आगे धर्मास्तिकाय नामक द्रव्यका अभाव है । इसलिये उससे आगे मुक्तजीव नहीं जाते ।

समय-प्राभृत

नमस्कार पूर्वक-प्रतिज्ञा

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणिदं ॥१॥

मैं ध्रुव, अचल और अनुपम गतिको प्राप्त हुए सब सिद्धोंको नमस्कार करके श्रुतकेवलीके द्वारा कहे हुए इस समयप्राभृतको कहूंगा ।

स्वसमय और परसमयका स्वरूप

जीवो चरित्तदंसणणाणठिओ तं हि ससमयं जाण ।
पोग्गलकम्म[1]पदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥२॥

जो जीव अपने चारित्र दर्शन और ज्ञान गुणमे स्थित है उसे स्वसमय जानो । और जो जीव पुद्गल कर्मोके प्रदेशोमे स्थित है, उसे परसमय जानो । अर्थात् जीवको समय कहते हैं । जो जीव अपने स्वभावमे स्थित होता है उसे स्वसमय कहते हैं और जो जीव परस्वभाव रागद्वेष मोहरूप हुआ रहता है वह परसमय कहा जाता है ।

स्वसमयकी श्रेष्ठता

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे ।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि ॥३॥

एकत्वनिश्चयको प्राप्त समय (आत्मा) सब लोकमें सुन्दर है । अतः एकत्वमें दूसरेके साथ बन्धकी कथा विसंवाद पैदा करने वाली है ।

एकत्वकी दुर्लभता

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

---

१ –'कम्मुवदेसट्ठिदं'–ता० वृ० ।

काम भोग विषयक बन्धकी कथा सबकी ही सुनी हुई है, परिचित है और अनुभूत है। किन्तु समस्त परद्रव्योंसे भिन्न आत्माके एकत्वकी प्राप्ति सुलभ नहीं है।

एकत्वको दर्शानेकी प्रतिज्ञा

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥५॥

उस एकत्वविभक्त शुद्ध आत्माके स्वरूपको मैं आत्माके स्वकीय ज्ञानविभवके द्वारा दिखलाता हूँ। जो मैं दिखलाऊँ उसे प्रमाण मानना। यदि कहीं चूक जाऊँ तो दोष ग्रहण नहीं करना।

वह शुद्ध आत्मा कौन है ?

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादा जो सो उ सो चेव ॥६॥

जो यह ज्ञायक भाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं है और न प्रमत्त ही है। इस तरह उसे शुद्ध कहते हैं। और जो ज्ञायक भावके द्वारा जान लिया गया है वह वही है दूसरा कोई नहीं है। [आशय यह है कि गुणस्थानोंकी परिपाटीके अनुसार छठे गुणस्थान तक जीव प्रमत्त कहा जाता है और सातवेंसे अप्रमत्त कहा जाता है। परन्तु ये सभी गुणस्थान अशुद्धनयकी कथनी है. शुद्धनयसे आत्मा मात्र ज्ञायक है। किन्तु ज्ञायक (जाननेवाला) होने परभी उसमें ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है]।

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

व्यवहार नयसे ज्ञानीके चारित्र दर्शन और ज्ञान ये तीन गुण कहे जाते हैं। किन्तु निश्चयसे न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है। ज्ञानी तो शुद्ध ज्ञायक है।

फिर व्यवहारकी आवश्यकता क्यों ?

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥८॥

जैसे म्लेच्छ लोगोंको म्लेच्छभाषाके विना वस्तुका स्वरूप ग्रहण करानेमें कोई भी समर्थ नहीं है, वैसे ही व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश करना शक्य नहीं है।

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥९॥

जो सुयणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा ॥१०॥

जो श्रुतज्ञानके द्वारा केवल इस एक शुद्ध आत्माको जानता है, लोकको प्रकाशित करने वाले ऋषिगण उसे श्रुतकेवली कहते हैं। और जो समस्त श्रुतज्ञानको जानता है, उसे जिनेन्द्र देवने श्रुतकेवली कहा है। क्योंकि यतः सब ज्ञान आत्मा ही है, अतः वह जीव श्रुतकेवली है। [आशय यह है कि जो श्रुतसे केवल शुद्ध आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है यह तो परमार्थ है। और जो समस्त श्रुतज्ञानको जानता है वह श्रुतकेवली है यह व्यवहार है। जो श्रुतसे केवल शुद्ध आत्माको जानता है, वह श्रुतकेवली है, इस परमार्थका कथन अशक्य होनेसे तथा जो सर्व श्रुतज्ञानको जानता है वह श्रुतकेवली है, यह व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक होनेसे अपनाना पड़ता है।

व्यवहार और निश्चय

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥११॥

व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, ऐसा ऋषियोंने वतलाया है। जो जीव भूतार्थका आश्रय लेता है वह सम्यग्दृष्टी है। [आशय यह है कि शुद्धनय सत्यार्थ है इसको अपनानेसे जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है। किन्तु इसको जाने विना जब तक जीव व्यवहारसे मग्न है तब तक सम्यक्त्व नहीं हो सकता]।

व्यवहार और निश्चयके पात्र

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१२॥

जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान तथा ज्ञान-चारित्रवान हो गये हैं, उनको तो शुद्ध आत्माका कथन करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है। किन्तु जो जीव श्रद्धा ज्ञान और चारित्रकी पूर्णता तक नहीं पहुँच सके हैं और साधक दशामें स्थित हैं, वे व्यवहारनयके द्वारा उपदेश करनेके योग्य है।

शुद्धनयसे जानना ही सम्यक्त्व है

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसव-संवर-णिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

भूतार्थ अर्थात् शुद्धनयसे जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ तत्त्व सम्यक्त्व हैं। अर्थात् इन तत्त्वोंको शुद्धनयसे जान लेना सम्यग्दर्शन है।

शुद्धनयका स्वरूप

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

जो नय आत्माको बन्ध रहित, परके स्पर्शसे रहित, अन्यसे रहित, चंचलतासे रहित, विशेषसे रहित और अन्यके संयोगसे रहित देखता है उसे शुद्धनय जानो।

जो आत्माको देखता है वह जिन शासनको देखता है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

जो आत्माको अबद्धस्पृष्ट—द्रव्यकर्म और नोकर्मसे अछूता, अनन्य—अन्यसे रहित, अविशेष-विशेषसे रहित देखता है वह समस्त जिन-शासनको देखता है। ['अपदेस सुत्तमज्झं' का अर्थ आत्मख्यातिमें नहीं है। और तात्पर्यवृत्तिमें जो अर्थ किया है वह मेरी समझमें नहीं आया। अतः मैंने भी इस पदका अर्थ छोड़ दिया है]।

दर्शनज्ञान चारित्र आत्मरूप ही हैं—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

साधुको नित्य ही दर्शन ज्ञान और चारित्रका पालन करना चाहिये। तथा उन तीनोको निश्चयनयसे एक आत्मा ही जानो। अर्थात् ये तीनों आत्मस्वरूप ही हैं। अतः निश्चयसे साधुको एक आत्माका ही सेवन करना योग्य है।

दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥

जैसे कोई धनका अर्थी मनुष्य राजाको जानकर श्रद्धा करता है, उसके पश्चात् उसकी अच्छी तरहसे सेवा करता है। इसी तरह मोक्षकी इच्छा करने वालेको जीवरूपी राजाको जानना चाहिये, फिर उसी रूपसे श्रद्धान करना चाहिये। और उसके पश्चात उसीका अनुचरण अर्थात् अनुभवन करना चाहिये।

आत्मा कब तक अज्ञानी रहता है—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥

जब तक इस आत्माकी ऐसी बुद्धि है कि ज्ञानावरण आदि कर्म और शरीर आदि नो कर्मरूप मैं हूँ, और ये कर्म नोकर्म मेरे हैं, तबतक यह आत्मा अज्ञानी है।

ज्ञानी और अज्ञानीका चिन्ह

अहमेदं एदमहं अहमेदस्स[1] हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताच्चित्तमिस्सं वा ॥२०॥
आसि मम पुव्वमेदं [2]एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं [3]एदस्स अहं पि होस्सामि ॥२१॥
एयं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि समूढो॥
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥

---

१ –स्सेव होमि मम–ता० वृ०। २ अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि–ता० वृ०। ३ अहमेदं चावि हो–ता० वृ०।

जो पुरुष अपनेसे भिन्न सचित्त स्त्री पुत्र आदि, अचित्त धन्य धान्य आदि और मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त ग्राम नगर आदि परद्रव्यको ऐसा मानता है कि मैं यह हूं, ये द्रव्य मुझ रूप है, मैं इनका हूँ, ये मेरे हैं, पहले ये मेरे थे, मै भी पहले इनका था, ये आगामीमे मेरे होंगे, मैं भी आगामीमें इनका होऊँगा, वह अज्ञानी है। और जो सत्यार्थको जानता हुआ ऐसा मिथ्या विकल्प नहीं करता, वह ज्ञानी है।

आचार्य अज्ञानीको समझाते हैं—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिण भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४॥
जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सत्तो वत्तुं जे मज्झमिण पोग्गलं दव्वं ॥२५॥

जिसकी मति अज्ञानसे मोहित है, वह जीव कहता है कि यह वद्ध शरीर आदि तथा अबद्ध धन धान्य आदि पुद्गल द्रव्य मेरा है, तथा जीव राग द्वेप मोह आदि अनेक भावोंसे सयुक्त है। आचार्य उसे समझाते है कि सर्वज्ञके ज्ञान द्वारा जो जीव नित्य उपयोग लक्षणवाला देखा गया है, वह पुद्गल द्रव्यरूप कैसे हो सकता है जिससे तू कहता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है? यदि जीव द्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप होजाये और पुद्गल द्रव्य जीव द्रव्यरूप हो जाये तो तुम यह कह सकते हो कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है।

अज्ञानीकी आशंका

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥२६॥

अज्ञानी कहता है कि यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थङ्कर और आचार्योंकी जो स्तुति है वह सब मिथ्या हो जाती है। [क्योंकि शरीरको लेकर ही स्तुतियाँकी जाती है] अतः आत्मा शरीर ही है।

उत्तर

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो ॥२७॥

व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर एक है। किन्तु निश्चय नय कहता है कि जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं है।

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

जीवसे भिन्न इस पुद्गलमय शरीरकी स्तुति करके मुनि ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवानकी स्तुति और वन्दना की।

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२९॥

किन्तु निश्चयमें यह ठीक नहीं है क्योंकि शरीरके गुण केवलीके गुण नहीं है। अतः जो केवलीके गुणोंकी स्तुति करता है वही वास्तवमें केवलीकी स्तुति करता है।

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥३०॥

जैसे नगरका वर्णन करनेसे राजाका वर्णन नहीं हो जाता। वैसे ही शरीरके गुणोका स्तवन करनेसे केवलिके गुणोका स्तवन नहीं होता।

निश्चय स्तुति

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३१॥

जो इन्द्रियोंको जीतकर आत्माके ज्ञान स्वभाव होनेसे उसे अन्य द्रव्योसे विशिष्ट मानता है, निश्चय नयमें स्थित साधु उसे जितेन्द्रिय कहते हैं।

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बिंति ॥३२॥

जो मोहको जीतकर ज्ञानस्वभाव होनेसे आत्माको अन्य द्रव्योंसे विशिष्ट मानता है, परमार्थके जाननेवाले साधु उस साधुको जितमोह कहते हैं।

जिदमोहस्स तु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

और मोहको जीतनेवाले साधुका जब मोह क्षीण–नष्ट हो जाता है, निश्चयको जाननेवाले तब उसे क्षीणमोह कहते हैं।

प्रत्याख्यानका स्वरूप

[1]सव्वे भावा जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं ॥३४॥

यतः अपने सिवाय अन्य सभी पदार्थ पर हैं, ऐसा जानकर प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करता है। अतः प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ऐसा नियमसे जानना अर्थात् अपने ज्ञानमें त्यागरूप अवस्थाका नाम ही प्रत्याख्यान है।

दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण

जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी ॥३५॥

जैसे कोई पुरुष परवस्तुको 'यह परवस्तु है' ऐसा जानकर छोड़ देता है। उसी तरह ज्ञानी समस्त पर भावोंको 'यह परभाव है' ऐसा जानकर छोड़ देता है।

निर्ममत्वका स्वरूप

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बिंति ॥३६॥

जो ऐसा जानता है कि मोह मेरा कोई भी नहीं है; मैं एक उपयोग-रूप ही हूं; ऐसे जाननेको, सिद्धान्तके अथवा आत्म स्वरूपके जाननेवाले मोहसे निर्ममत्व कहते हैं।

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बिंति ॥३७॥

जो ऐसा जानता है कि धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं एक उपयोग-रूप ही हूं, ऐसे जाननेको सिद्धान्तके अथवा आत्म स्वरूपके ज्ञाता धर्म-द्रव्यके प्रति निर्ममत्व कहते हैं।

---

१ 'णाणं सव्वे भावे पच्चक्खादि य परेत्ति णाइणं'–ता० वृ०।

उपसंहार

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदाऽरूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥३८॥

ज्ञानी आत्मा ऐसा जानता है कि निश्चयसे मै एक हूं, दर्शन ज्ञानमय हूँ । कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है ।

जीव-अजीव अधिकार

जीवके सम्बन्धमें विभिन्न मान्यताएँ

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवमज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥३९॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ॥४०॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छंति ।
तिव्वत्तण-मंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
ते ण[1] परमट्ठवाइणो णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

आत्माको नहीं जानते हुए, परको आत्मा कहनेवाले कोई मूढ़ अज्ञानी अध्यवसान को और कोई कर्मको जीव कहते हैं। दूसरे कोई अध्यवसानमे तीव्र मन्द अनुभागगतको जीव मानते है। अन्य कोई नोकर्मको जीव मानते है। अन्य कोई कर्मके उदयको जीव मानते हैं। कोई कर्मका अनुभाग जो तीव्रता या मन्दता गुणको लिये हुए होता है,

१ –ण दु परप्पवादी णि– ता० वृ० ।

उसे जीव मानते हैं। कोई जीव और कर्म दोनो मिले हुओंको जीव मानते है। दूसरे कोई कर्मोके संयोगसे ही जीव मानते हैं। इस प्रकार तथा अन्य अनेक प्रकारके दुर्बुद्धि लोग परको आत्मा कहते हैं। वे परमार्थ-वादी अर्थात् सत्य अर्थका कथन करनेवाले नहीं हैं, ऐसा निश्चयवादियोने कहा है।

उक्त कथन करनेवाले सत्यवादी क्यों नही है ?

एए सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिदा कह ते जीवो ति वुच्चति ॥४४॥

ऊपर कहे गये अध्यवसान आदि सभी भाव पुद्गल द्रव्यके परि-णामसे उत्पन्न हुए हैं, ऐसा केवलज्ञानी जिनेन्द्रदेवने कहा है। उनको जीव कैसे कह सकते है ?

अध्यवसान आदि भी पौद्गलिक हैं—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पोग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फल तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

जिनेन्द्र देवने कहा है कि आठ प्रकारके सभी कर्म पौद्गलिक हैं। तथा पककर उदयमे आने वाले उस कर्मका फल दु ख है, ऐसा कहा है। आशय यह है कि अध्यवसान आदि भावोंको उत्पन्न करने वाले कर्म पौद्गलिक हैं और पौद्गलिक कर्मोका फल दुःख है। अतः अध्यवसान आदि भाव आत्माके स्वभाव नहीं हैं।

व्यवहारसे ही उन्हें जीव कहा है—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥

ये सब अध्यवसानादिक भाव जीव हैं, ऐसा जिनवर देवने जो उपदेश दिया है, वह व्यवहार नयका मत है।

व्यवहारनयका उदाहरण

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु वुच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥४७॥

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ॥४८॥

जैसे राजा निकला, यहाँ व्यवहारनयसे सेनाके समुदायको 'राजा निकला' ऐसा कहाजाता है। वास्तवमें राजा तो एक ही निकला है। इसी प्रकार परमागममें अध्यवसान आदि भावोंको, ये जीव है, ऐसा जो कहा है वह व्यवहारसे कहा है, निश्चयसे तो जीव एक है।

जीवका स्वरूप

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाण ॥४९॥

जीवको रस रहित, रूप रहित, गन्ध रहित, अव्यक्त, चेतना गुण वाला, शब्द रहित, इन्द्रियोंके अगोचर और अनियत आकारवाला जानो।

उक्त कथनका खुलासा

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि सठाणं ण सहणणं ॥५०॥
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५१॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्डया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायटाणाणि ॥५२॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५३॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५४॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥

जीवके वर्ण नहीं है, गंध भी नहीं हैं, रस भी नहीं है, स्पर्श भी नहीं है रूप भी नहीं है, शरीर भी नहीं है, संस्थान भी नहीं है, संहनन भी नहीं है। तथा जीवके राग नहीं है, द्वेष भी नहीं है, मोह भी नहीं है, आस्रव भी नहीं है, कर्म भी नहीं है और नोकर्म भी नहीं है। जीवके वर्ग नहीं है, वर्गणा नहीं हैं, कोई स्पर्द्धक भी नहीं है, न अध्यवस्थान है और न अनुभाग

स्थान ही हैं। जीवके न कोई योगस्थान है, न वन्धस्थान है, न उदय-स्थान है और न कोई मार्गणास्थान है। जीवके न स्थितिवन्धस्थान हैं, न संक्लेश स्थान हैं, न विशुद्धि स्थान हैं, न संयमलब्धिस्थान हैं, न जीवस्थान हैं, और न गुणस्थान हैं, क्योंकि ये सभी पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं।

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥

ये वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव व्यवहार नयसे तो जीवके हैं। परन्तु निश्चयनयसे इनमेंसे कोई भी भाव जीवका नहीं है।

ये भाव जीवके क्यों नहीं हैं?

एएहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

इन वर्णादिक भावोंके साथ जीवका सम्वन्ध दूध और जलके सम्वन्धकी तरह ही जानना चाहिये। किन्तु वे जीवके नहीं हैं; क्योकि जीवमें उनसे उपयोग गुण अधिक है, अर्थात् उन भावोंमें जानना देखना-पना नहीं है, किन्तु जीवमें है। इसलिये जीव उनसे भिन्न है।

व्यवहार और निश्चयमें अविरोध

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥५८॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ॥५९॥
एवं गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥

जैसे मार्गमे चलनेवालोंको लुटता देखकर व्यवहारी लोग कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है। किन्तु कोई मार्ग लुटता नहीं है, जानेवाले लोग ही लुटते हैं। इसी तरह जीवमे कर्म और नोकर्मोंका वर्ण देखकर 'यह जीवका वर्ण है' ऐसा जिनदेवने व्यवहारसे कहा है। इसी प्रकार जो गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर और संस्थान वगैरह हैं, वे सब व्यव-हारसे जीवके हैं, ऐसा निश्चयनयके द्रष्टा पुरुष कहते हैं।

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६१॥

वे वर्ण आदि भाव संसारमें स्थित जीवोंके संसार अवस्थामें ही होते हैं। संसारसे मुक्त हुए जीवोंके कोई भी वर्ण आदि भाव नहीं होता।

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

ये सब वर्ण आदि भाव जीवरूप ही हैं, यदि ऐसा तू मानता है तो तेरे मतमें जीव और अजीवमें कोई भेद नहीं रहता।

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥६३॥

एवं पोग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो ॥६४॥

अथवा यदि तेरा मत है कि संसारमें स्थित जीवोंके वर्णादि होते हैं तो संसारी जीव रूपीपनेको प्राप्त हुए कहलाये। ऐसी स्थितिमें पुद्गलके लक्षणके समान ही जीवका लक्षण होनेसे हे मूढ़ बुद्धि! पुद्गल द्रव्य ही जीव हुआ। तथा निर्वाण प्राप्त होनेपर भी पुद्गल ही जीवपनेको प्राप्त हुआ कहलाया। आशय यह है कि यदि ऐसा माना जाये कि संसार अवस्थामें जीव वर्णादिवाला है तो वर्णादिमान होना तो पुद्गलका लक्षण है। अतः पुद्गल द्रव्य ही जीव द्रव्य ठहरा। ऐसी स्थितिमें मोक्ष भी पुद्गलको ही हुआ। इससे मोक्षमें भी पुद्गल ही जीव ठहरा, अन्य कोई चैतन्यरूप जीव नहीं रहा। अतः जीव वर्णादिवाला नहीं है।

जीवसमास जीव नहीं है—

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥६५॥

एदेहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाओ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पोग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ॥६६॥

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव तथा बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त, ये सब नामकर्मकी प्रकृतियां हैं। इन

करणभूत पुद्गलमयी प्रकृतियोंके द्वारा जीवस्थानोंकी रचना हुई है। अतः उनके द्वारा जीव कैसे कहा जा सकता है?

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥६७॥

आगममें जो देहकी पर्याप्त अपर्याप्त और सूक्ष्म बादर आदि जिन संज्ञाओंको जीवसंज्ञा रूपसे कहा है वह सब व्यवहारसे कहा है।

गुणस्थान जीव नहीं है—

मोहणकम्मस्सुदयादु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥६८॥

मोहनीय कर्मके उदयसे जो ये गुणस्थान कहे गये हैं; जिन्हें सदा अचेतन कहा है, वे जीव कैसे हो सकते हैं।

—:०.—

कर्तृकर्माधिकार

जीवके कर्मबन्ध कैसे होता है?

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि।
अण्णाणी ताव दु सो कोहाइसु वट्टदे जीवो ॥६९॥
कोहाइसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥७०॥

जीव जब तक आत्मा और आस्रव, इन दोनोंके विशिष्ट भेदको नहीं जानता तब तक वह अज्ञानी हुआ क्रोध आदिमें प्रवृत्ति करता है। क्रोध आदिमें प्रवृत्ति करते हुए उस जीवके कर्मोंका संचय होता है। इस प्रकार सर्वज्ञ देवने जीवके कर्मका बन्ध कहा है।

बन्धका निरोध कब होता है?

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥

जब यह जीव आत्मा और आस्रवके विशिष्ट अन्तरको जान लेता है। तब उसके बन्ध नहीं होता।

जानने मात्रसे बन्धका निरोध कैसे होता है ?

णादूण आसवाण असुचित्त च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्ति कुणदि जीवो ॥७२॥

आस्रवोंका अशुचिपना, विपरीतपना और 'ये दुःखके कारण हैं' ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है, अर्थात् उनमे प्रवृत्ति नहीं करता।

आस्रवोंसे निवृत्तिका उपाय

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाण-दंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७३॥

ज्ञानी जीव विचारता है कि निश्चयसे मैं एक हूँ, शुद्ध हूं, ममता रहित हूँ, ज्ञान और दर्शनसे पूर्ण हूं। अपने इस स्वभावमे स्थित होकर उसीमे लीन होता हुआ मैं इन सब आस्रवोंको क्षय कर देता हूँ।

जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥७४॥

ये आस्रव जीवके साथ निबद्ध है, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःख रूप हैं और उनका फल दुःख ही है, ऐसा जानकर ज्ञानी उनसे निवृत्ति करता है।

आत्माके ज्ञानी होनेकी पहचान

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७५॥

जो आतमा इस कर्मके परिणामको, उसी तरह नोकर्मके परिणामको नहीं करता, परन्तु जानता है, वह ज्ञानी है।

ज्ञानी पररूप परिणमन नहीं करता—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥

ज्ञानी अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मोंको जानता हुआ भी निश्चयसे न तो परद्रव्यकी पर्यायरूप परिणमन करता है, न उसे ग्रहण करता है और न उसरूप उत्पन्न होता है। आशय यह है कि ज्ञानी पुद्गल कर्मको जानता तो है परन्तु पुद्गलके साथ उसका कर्तापना या कर्मपना नहीं है न पुद्गलकर्म जीवका कार्य है और न जीव उसका कर्ता है।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥७७॥

ज्ञानी अनेक प्रकारके अपने परिणामोंको जानता हुआ भी न तो परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमन करता है, न उसे गृहण करता है और न उसरूप उत्पन्न होता है।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥७८॥

ज्ञानी पुद्गलकर्मोंके अनन्त फलोंको जानता हुआ भी निश्चयसे न तो पर द्रव्यकी पर्यायरूप परिणमन करता है, न उसे ग्रहण करता है और न उसरूप उत्पन्न होता है।

पुद्गल कर्मका भी जीवके साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥७९॥

इसी तरह पुद्गलद्रव्य भी न तो परद्रव्यकी पर्यायरूप परिणमन करता है, न उसे ग्रहण करता है और न उसरूप उत्पन्न होता है। किन्तु अपने भावरूपसे ही परिणमता है।

जीव और पुद्गलका परस्परमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध मात्र है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥८१॥
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पोग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

जीवके परिणामके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते हैं। उसी तरह पुद्गल कर्मोंके निमित्तसे जीव भी परिणमन करता है। न तो जीव कर्मके गुणोंको करता है, उसी प्रकार न कर्म जीवके गुणोंको करते हैं। परन्तु परस्परके निमित्तसे दोनोंका परिणाम जानो। इस कारणसे आत्मा अपनेही भावसे कर्ता कहाता है, किन्तु वह पुद्गलकर्मोंके द्वारा किये हुए समस्त भावोंका कर्ता नहीं है।

निश्चयसे आत्मा अपने ही भावोंका कर्ता भोक्ता है—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥

इस प्रकार निश्चयनयके अनुसार आत्मा अपनेको ही करता है और फिर अपनेको ही भोगता है, ऐसा जानो।

और व्यवहारसे

ववहारस्स दु आदा पोग्गलकम्मं करेइ णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

व्यवहारनयके अनुसार आत्मा अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मोंको करता है और फिर उन्हीं अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मोंको भोगता है।

उक्त व्यवहारमें दूषण

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियाविदिरित्तो पसजदि सो जिणावमदं ॥८५॥

यदि आत्मा इस पुद्गल कर्मको करता है और उसीको भोगता है तो वह आत्मा स्व और पररूप दो क्रियाओंसे अभिन्न ठहरता है और यह बात जिन सम्मत नहीं है। [आशय यह है कि दो द्रव्योंकी क्रियाएँ भिन्न ही होती हैं—चेतनकी क्रिया जड़ नहीं कर सकता और जड़की क्रिया चेतन नहीं कर सकता। जो एकही द्रव्यमें दोनों क्रियाएँ मानता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है]

दो क्रियावादी मिथ्यादृष्टि क्यों है ?

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥८६॥

यतः दो क्रियावादी यह मानते हैं कि आत्मा आत्माके भावको और पुद्गलके भावको दोनोंको ही करता है। इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं।

उसीका विशेष कथन

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगा मोहो कोहादीया इमे भावा ॥८७॥

मिथ्यात्वके दो प्रकार हैं—एक जीव मिथ्यात्व और एक अजीव मिथ्यात्व। उसी तरह अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोध आदि ये सभी भाव जीव और अजीवके भेदसे दो दो प्रकारके हैं।

पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो त्ति ॥८८॥

पुद्गल कर्मरूप जो मिथ्यात्व योग अविरति और अज्ञान हैं वे अजीव हैं और उपयोगरूप जो अज्ञान अविरति और मिथ्यात्व हैं, वह जीव है।

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥८९॥

अनादिकालसे मोहसे युक्त उपयोगके, मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति-भाव ये तीन अनादि परिणाम जानने चाहियें।

उक्त तीनों परिणामोंका कर्ता आत्मा है—

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

यद्यपि यथार्थमें वह उपयोग शुद्ध और निरंजन भावरूप है, किन्तु मिथ्यात्व अज्ञान और अविरतिका निमित्त मिलनेसे तीन प्रकारका है। इनमेंसे उपयोगरूप आत्मा जिस भावको करता है वह उसीका कर्ता होता है।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ॥९१॥

आत्मा जिस भावको करता है वह उस भावका कर्ता होता है। उसके कर्ता होनेपर पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्मरूपसे परिणमन करता है।

अज्ञानसे कर्मोंकी उत्पत्ति होती है—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥९२॥

परको अपना करता हुआ और अपनेको पर करता हुआ वह जीव अज्ञानी है। वह अज्ञानी जीव कर्मोंका कर्ता होता है।

ज्ञानसे कर्मोंकी उत्पत्ति नहीं होती—

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥९३॥

परको अपना नहीं करता हुआ और अपनेको भी परका नहीं करता हुआ जीव ज्ञानी है। वह ज्ञानी जीव कर्मोंका कर्ता नहीं होता।

अज्ञानसे कर्म कैसे उत्पन्न होते हैं ?

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि कोहोऽहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥९४॥

मिथ्यात्व अज्ञान और अविरतिके भेदसे तीन प्रकारका उपयोग 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा आत्म विकल्प करता है। उससे वह आत्मा उस उपयोग-रूप आत्म भावका कर्ता होता है।

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ धम्मादि।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥९५॥

तीन प्रकारका यह उपयोग 'मैं धर्म द्रव्य आदि हूँ' ऐसा आत्मविकल्प करता है। उससे वह आत्मा उस उपयोगरूप आत्मभावका कर्ता होता है।

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण ॥९६॥

इस प्रकार अज्ञानी अज्ञान भावसे परद्रव्योंको अपना करता है और अपनेको परका करता है।

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥९७॥

उक्त कारणसे निश्चयको जाननेवाले ज्ञानियोंने उस आत्माको कर्ता कहा है। जो ऐसा जानता है वह सब कर्तृत्वको छोड़ देता है। [सारांश यह है कि अज्ञानी अवस्थामें ही परद्रव्यका कर्तृत्व बनता है। ज्ञानी होनेपर परद्रव्यका कर्तृत्व नहीं रहता।]

ववहारेण दु आदा करेदि घटपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥९८॥

व्यवहारसे इस लोकमें ऐसा माना जाता है कि आत्मा घट, पट रथ आदि वस्तुओंको तथा इन्द्रियोंको और अनेक प्रकारके कर्मों और नोकर्मों-को करता है।

उक्त व्यवहार यथार्थ नहीं है—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥९९॥

यदि आत्मा परद्रव्योंको करे तो वह नियमसे परद्रव्यमय हो जाय। परन्तु यतः वह परद्रव्यमय नहीं होता इसलिये वह उनका कर्ता नहीं है।

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

जीव न घटको करता है, न पटको और न शेष द्रव्योंको ही करता है। किन्तु जीवके योग और उपयोग घटादिकी उत्पत्तिमे निमित्त होते हैं और उनका कर्ता जीव है।

जे पुग्गलदव्वाण परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०१॥

जो पुद्गल द्रव्योंके परिणाम ज्ञानावरण आदि कर्म हैं उनको आत्मा नहीं करता। जो ऐसा जानता है वह ज्ञानी है।

अज्ञानी भी पर भावका कर्ता नहीं है—

ज भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२॥

आत्मा जिस शुभ या अशुभ भावको करता है वह उसका कर्ता होता

है और वह भाव उसका कर्म होता है। तथा वह आत्मा उस भावका भोक्ता होता है।

कोई द्रव्य पर भावको नहीं कर सकता—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

जो द्रव्य जिस द्रव्यमे और गुणमे रहता है वह अन्य द्रव्य और अन्य गुणमें संक्रमण नही करता अर्थात् वह अपने स्वभाव और गुणको छोड़कर अन्य द्रव्य और अन्य गुणरूप नहीं बदलता। इस प्रकार अन्यरूपमें संक्रान्त नही होता हुआ वह द्रव्य अन्य द्रव्यको कैसे परिणमा सकता है। सारांश यह है कि द्रव्यका जो स्वभाव है उसे कोई भी वदल नहीं सकता। प्रत्येक द्रव्य अपनी मर्यादामे ही रहता है।

अतः आत्मा पुद्गल कर्मका कर्ता नही है—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

आत्मा पुद्गलमय कर्ममे द्रव्यको तथा गुणको नही करता। उन दोनोंको नहीं करते हुए वह उसका कर्ता कैसे हो सकता है?

आत्माको पुद्गल कर्मका कर्ता कहना उपचार मात्र है—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

जीवके निमित्तभूत होनेपर पुद्गलोंके कर्मबन्धरूप परिणामको देखकर उपचारमात्रसे यह कहा जाता है कि 'जीवने कर्मको किया'।

दृष्टान्त द्वारा उपचारका स्पष्टीकरण

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

सैनिकोंके द्वारा युद्ध करने पर लोग ऐसा कहते हैं कि राजाने युद्ध किया। उसी प्रकार व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि जीवने ज्ञानावरण आदि कर्म किये।

व्यवहार नयका वक्तव्य

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पोग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

आत्मा पुद्गलद्रव्यको उत्पन्न करता है, बांधता है, परिणमाता है और ग्रहण करता है, यह व्यवहार नयका कथन है ।

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

जैसे राजाको व्यवहारसे प्रजाके दोषों और गुणोंका उत्पादक कहा जाता है वैसे ही जीवको व्यवहारसे पुद्गलके द्रव्य-गुणोंका उत्पादक कहा है ।

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य बोद्धव्वा ॥१०९॥
तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११०॥
एदे अचेदणा खलु पोग्गलकम्मुदयसभवा जम्हा ।
ते जदि करंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा ॥१११॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा ।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥

सामान्यसे चार प्रत्यय (कर्मबन्धके कारण) बन्धके कर्ता कहे जाते हैं। वे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जानने। फिर उन चारोंके भी तेरह भेद कहे हैं। वे तेरह भेद मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तक तेरह गुणस्थान हैं। ये चारों प्रत्यय अथवा गुणस्थान अचेतन हैं, क्योंकि पुद्गल कर्मके उदयसे होते हैं। यदि वे कर्मको करते हैं तो उनका भोक्ता आत्मा नहीं है। और यतः ये गुणस्थान नामवाले प्रत्यय कर्मको करते हैं, अतः जीव कर्मका कर्ता नहीं है किन्तु गुणस्थान ही कर्मको करते हैं।

जीव और प्रत्यय एक नहीं हैं—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥११३॥

एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥११४॥

अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥११५॥

जैसे उपयोग जीवसे अन्य नहीं हैं वैसे ही यदि क्रोध भी जीवसे अनन्य है अर्थात् एक रूप है तो ऐसी स्थितिमें जीव और अजीव अनन्य ठहरते हैं। और ऐसा होनेपर इस जगतमें जो जीव है वही नियमसे अजीव ठहरा। प्रत्यय, कर्म और नोकर्मको भी एक मानने पर यही दोप आता है। इस दोपके भयसे यदि तेरे मतमें क्रोध अन्य है और उपयोगस्वरूप आत्मा अन्य है तो जैसे क्रोध आत्मासे अन्य है वैसे ही प्रत्यय कर्म और नोकर्म भी आत्मासे अन्य ही है।

पुद्गल द्रव्य परिणामी है—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पुग्गल दव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७॥
जीवो परिणामयदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ॥११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥

यदि ऐसा माना जाये कि यह पुद्गलद्रव्य जीवमें स्वयं नहीं बंधा और न स्वयं कर्मरूप परिणत होता है तो वह अपरिणामी ठहरता है। तथा कार्मण वर्गणाओंके कर्मरूपसे परिणमन न करनेपर संसारके अभाव का प्रसंग आता है अथवा सांख्यमतका प्रसंग आता है। यदि ऐसा माना जाता है कि जीव पुद्गल द्रव्योंको कर्मरूपसे परिणमाता है तो यह प्रश्न पैदा होता है कि स्वयं परिणमन न करते हुए पुद्गलद्रव्योंको जीव कैसे परिणमा सकता है? अथवा यदि यह माना जाता है कि पुद्गलद्रव्य स्वयं ही कर्मरूपसे परिणमन करता है तो जीव पुद्गल द्रव्यको कर्मरूपसे परि-

णमाता है यह कथन मिथ्या ठहरता है। अतः नियमसे कर्मरूप परिणत हुआ पुद्गलद्रव्य ही कर्मरूप होता है। तथा ज्ञानावरणादि रूपसे परिणत हुआ पुद्गलद्रव्य ही ज्ञानावरण आदि है ऐसा जानो।

जीव भी परिणामी है—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥१२१॥

अपरिणमतम्हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२॥

पोग्गलकम्म कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंत कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥

अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥

कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥

जीव स्वयं कर्मसे नहीं बंधा और न स्वयं क्रोधादिरूपसे परिणमन करता है, यदि तेरा ऐसा मत है तो जीव अपरिणामी ठहरता है। और स्वय जीवके क्रोध आदि भावरूपसे परिणमन न करनेपर संसारके अभावका प्रसंग आता है अथवा सांख्यमतका प्रसंग आता है। पुद्गल-कर्म क्रोध जीवको क्रोध रूपसे परिणमाता है यदि ऐसा मानते हो तो यह प्रश्न होता है कि स्वयं परिणमन नहीं करते हुए जीवको क्रोध कैसे परिणमा सकता है? अथवा आत्मा स्वयं क्रोधरूपसे परिणमन करता है, यदि ऐसी तुम्हारी बुद्धि है तो क्रोध जीवको क्रोध रूपसे परिणमाता है यह कथन मिथ्या ठहरता है। अतः क्रोधसे उपयुक्त अर्थात् क्रोधरूप परिणत आत्मा ही क्रोध है, मानरूप परिणत आत्मा ही मान है, मायारूप परिणत आत्मा ही माया है और लोभरूप परिणत आत्मा ही लोभ है।

ज्ञानी ज्ञानमय भावका और अज्ञानी अज्ञानमय भावका कर्ता है—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६॥

आत्मा जिस भावको करता है वह उस भावका कर्ता होता है। ज्ञानीका तो भाव ज्ञानमय होता है और अज्ञानीका भाव अज्ञानमय होता है।

ज्ञानमय और अज्ञानमय भावका कार्य

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ॥१२७॥

अज्ञानीका भाव अज्ञानमय होता है इसलिये वह कर्मोंको करता है। और ज्ञानीका भाव ज्ञानमय होता है इसलिये ज्ञानी कर्मोंको नहीं करता।

ज्ञानीके ज्ञानमय और अज्ञानीके अज्ञानमय भाव होनेमें हेतु

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायए भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥१२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१२९॥

यतः ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होता है अतः ज्ञानीके सब भाव ज्ञानमय होते हैं। और यतः अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय ही भाव होते हैं अतः अज्ञानीके भाव अज्ञानमय होते हैं।

दृष्टान्त द्वारा उक्त कथनका समर्थन

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३०॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

जैसे सुवर्णमय पदार्थसे सुवर्णमय कुण्डल वगैरह भाव उत्पन्न होते हैं और लोहमय पदार्थसे लोहमय कड़े आदि भाव उत्पन्न होते हैं। वैसे ही अज्ञानीके अनेक प्रकारके अज्ञानमय भाव उत्पन्न होते हैं और ज्ञानीके सब भाव ज्ञानमय होते हैं।

अपने अज्ञानमय भावोंका हेतु जीव स्वयं है—

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३२॥

उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥१३३॥

तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥

एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादि भावेहिं ॥१३५॥

तं खलु जीवणिवद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

जीवोंको जो तत्त्वका अज्ञान है यह अज्ञानका उदय है। जीवको जो तत्त्वका अश्रद्धान है यह मिथ्यात्वका उदय है। जीवोंका जो अविरमण अर्थात् अत्याग भाव है यह असंयमका उदय है। जीवोंका जो कलुषित उपयोग है यह कषायका उदय है। जीवोंके जो शुभ अथवा अशुभ प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिरूप चेष्टा का उत्साह है उसे योगका उदय जानो। इन उदयोंके हेतुभूत होनेपर जो कार्मणवर्गणारूपसे आया हुआ पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरण आदि भावसे आठ प्रकार परिणमन करता है, वह कार्मणवर्गणारूपसे आया हुआ द्रव्य जब जीवसे बंधता है तब जीव अपने अज्ञानरूप परिणामोंका हेतु होता है। [आशय यह है कि मिथ्यात्व आदिका उदय पुद्गलका परिणाम है। उस उदयका निमित्त मिलनेपर कार्मणवर्गणारूप पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणमन करते और जीवके साथ बंधते है। तथा उस समय जीव स्वयं ही अश्रद्धान आदि रूपसे परिणमन करता है।

पुद्गलका परिणाम जीवसे भिन्न है —

जइ जीवेण सह च्चिय पोग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एवं पोग्गलजीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥१३७॥

एक्कस्स दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहि विणा कम्मस्स परिणामो ॥१३८॥

यदि जीवके साथ ही पुद्गलद्रव्यका कर्मरूप परिणाम होता है, अर्थात् जीव और पुद्गल दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमन करते हैं यदि ऐसा माना जायगा, तो पुद्गल और जीव दोनों ही कर्मपनेको प्राप्त हुए

कहलायेंगे। किन्तु कर्मरूपसे परिणामन तो अकेले पुद्गलद्रव्यका ही होता है। अतः जीव भावरूप निमित्तके विना ही कर्मका परिणाम होता है।

जीवका परिणाम पुद्गलसे भिन्न है—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा ॥१३६॥

एक्कस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहि विणा जीवस्स परिणामो ॥१४०॥

यदि जीवके रागादि परिणाम कर्मके साथ होते हैं अर्थात् जीव और कर्म दोनों मिलकर यदि रागादिरूप परिणमन करते हैं तो जीव और कर्म दोनों ही रागादिरूप परिणमे ऐसा कहा जायेगा। किन्तु रागादिरूप परिणाम तो अकेले जीवके ही होते हैं। अतः कर्मके उदयरूप निमित्तके विना ही जीवके रागादि परिणाम होते हैं। ऐसा मानना चाहिये।

जीवसे कर्मबद्ध है या अबद्ध?

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्ध पुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

जीवमें कर्म बद्ध और स्पृष्ट है, यह व्यवहार नयका कथन है। जीवमें कर्म अबद्ध और अस्पृष्ट है, यह निश्चय नयका कथन है।

किन्तु समयसार उभयनयातीत है—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

जीवमें कर्म बद्ध है अथवा जीवमे कर्म अबद्ध है इस प्रकार ये दोनो नयपक्ष हैं। किन्तु जो पक्षातिक्रान्त हैं, वह समयसार है।

पक्षातिक्रान्तका स्वरूप

दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

आत्माका अनुभव करनेवाला जीव दोनों नयोंके कथनोंको केवल

जानता है। किन्तु नयपक्षसे रहित होता हुआ किसी भी नयका पक्ष ग्रहण नहीं करता।

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

जो सब नयपक्षोंसे रहित कहा जाता है वही समयसार है। उसीको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यह नाम मिलता है।

पुण्य-पाप अधिकार

कर्ममें शुभ अशुभ भेद निरर्थक है—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं ज संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

अशुभ कर्मको कुशील और शुभ कर्मको सुशील जानो। किन्तु जो संसारमें प्रवेश कराता है वह कर्म सुशील कैसे हो सकता है?

शुभ अशुभ कर्म बन्धके कारण हैं—

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥

जैसे सोनेकी बेड़ी भी पुरुषको बांधती है और लोहेकी बेड़ी भी पुरुषको बांधती है। उसी प्रकार किये हुए शुभ और अशुभकर्म जीवको बांधते हैं।

अतः दोनों त्याज्य हैं—

तम्हा दु कुसीलेहि य रायं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरागेण ॥१४७॥

अतः दोनों प्रकारके कुशील कर्मोंके साथ न राग करो और न उनका संसर्ग करो ; क्योंकि कुशीलोंका संसर्ग करनेसे तथा उनसे राग करनेसे स्वाधीनताका विनाश होता है ।

दृष्टान्त द्वारा समर्थन

जह णाम को वि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं ससग्ग रायकरणं च ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णाउं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥१४९॥

जैसे कोई पुरुष खोटी आदतवाले मनुष्यको जानकर उसके साथ संसर्ग और राग करना छोड़ देता है । वैसे ही अपने स्वभावमें लीन पुरुष कर्म प्रकृतियोंके शील-स्वभावको कुत्सित जानकर उनका संसर्ग छोड़ देते हैं और उनसे दूर रहते हैं ।

आगमसे समर्थन

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपन्नो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

रागी जीव कर्मका बन्ध करता है और विरागसे सम्पन्न जीव कर्म बन्धनसे छूट जाता है । यह जिन भगवानका उपदेश है । अतः कर्मोंमें राग मत करो ।

ज्ञान ही मोक्षका कारण है—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५१॥

निश्चयसे जो परमार्थ है वही समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है । उस परमार्थ स्वभावमें स्थित मुनिजन निर्वाणको प्राप्त करते हैं ।

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेइ ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं बिंति सव्वण्हू ॥१५२॥

जो परमार्थमें स्थित नहीं है, वह जो तप करता है और व्रत धारण करता है, उस सबको सर्वज्ञदेव बालतप और बालव्रत कहते हैं ।

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥

व्रत-नियमोंको धारण करते हुए और शीलों तथा तपका आचरण करते हुए भी जो परमार्थसे वाहर हैं, अर्थात् परमार्थके ज्ञान और श्रद्धानसे शून्य है, वे निर्वाणको प्राप्त नहीं कर सकते ।

पुण्य संसारका कारण है, मोक्षका नहीं—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥१५४॥

जो परमार्थसे वाहर हैं, वे मोक्षके कारणको नहीं जानते हुए, अज्ञानवश संसार भ्रमणके कारणभूत भी पुण्यको चाहते हैं ।

मोक्षका कारण

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान सम्यक्त्व है । उनका जानना ज्ञान है और रागादिका त्याग चारित्र है । ये तीनों मोक्षका मार्ग हैं ।

विद्वानों और यतियोंमें भेद

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

विद्वान लोग निश्चयनयके विपयको छोड़कर व्यवहारसे प्रवृत्ति करते हैं । किन्तु परमार्थका आश्रय लेनेवाले यतियोंके ही कर्मोंका क्षय होता है, ऐसा आगमका विधान है ।

कर्म मोक्षके कारणोंको ढाँकता है—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणाछण्णो[1] ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥१५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणाछण्णो[2] ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥१५८॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणाछण्णो[3] ।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णायव्वं ॥१५९॥

१-२-३—'णासत्तो', आ० ।

जैसे वस्त्रकी सफेदी मैलके संसर्गसे व्याप्त होकर नष्ट हो जाती है वैसे ही मिथ्यात्वरूपी मैलके संसर्गसे व्याप्त हुआ सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है ऐसा जानना चाहिये। जैसे वस्त्रकी सफेदी मैलके संसर्गसे व्याप्त होकर नष्ट हो जाती है वैसे ही अज्ञानरूपी मैलके संसर्गसे व्याप्त हुआ ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा जानना चाहिये। जैसे वस्त्रकी सफेदी मलके संसर्गसे व्याप्त होकर नष्ट हो जाती है वैसे ही कषायरूपी मलके संसर्गसे व्याप्त हुआ चारित्र भी नष्ट हो जाता है ऐसा जानना चाहिये।

कर्म स्वयं ही बन्धरूप है—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो।
संसारसमावण्णो ण वि जाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

आत्मा स्वभावसे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है। किन्तु अपने कर्मरूपी रजसे व्याप्त होनेके कारण संसार अवस्थाको प्राप्त हुआ पूरी तरहसे सबको नहीं जानता।

कर्म मोक्षके कारणोंके विनाशक हैं—

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्तिणादव्वो ॥१६१॥

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ॥१६२॥

चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ॥१६३॥

मिथ्यात्व सम्यक्त्वको रोकनेवाला है ऐसा जिनवर देवने कहा है। उसके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है ऐसा जानना। अज्ञान ज्ञानका रोकने वाला है ऐसा जिनवर भगवानने कहा है। उसके उदयसे जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना। कषाय चारित्रको रोकती है ऐसा जिनवर भगवानने कहा है। उसके उदयसे जीव अचारित्री—चरित्रहीन होता है ऐसा जानना।

आस्रव-अधिकार

आस्रवका स्वरूप

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग चेतन भी हैं और अचेतन भी हैं। इनके अनेक भेद हैं। ये सब जीवमें होते हैं और जीवके ही अनन्य परिणाम हैं। तथा वे ज्ञानावरण आदि कर्मोंके कारण होते हैं। और उनका कारण रागद्वेषादि भावोंका कर्ता जीव होता है।

ज्ञानीके उनका अभाव है—

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो ।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१६६॥

सम्यग्दृष्टीके आस्रव पूर्वक बन्ध नहीं होता; क्योंकि उसके आस्रवका निरोध अर्थात् संवर होता है। वह नवीन कर्मोंको नहीं बांधता हुआ पहले बंधे हुए कर्मोंको, जो सत्तामें स्थित हैं, जानता है।

राग द्वेष मोह ही आस्रव हैं—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥१६७॥

जीवके द्वारा किये गये रागादियुक्त भावको बंधक कहा है। और रागादिसे रहित भाव बन्धक नहीं है, केवल ज्ञायक है।

राग द्वेषसे रहित भावकी उत्पत्ति

पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेइ ॥१६८॥

जैसे पके हुए फलके गिरजानेपर वह फल पुनः वृन्तसे नहीं बंधता। वैसे जीवके कर्मभावकी निर्जरा हो जानेपर वह पुनः उदयको प्राप्त नहीं होता।

ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है –

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स ॥१६९॥

उस ज्ञानीके पहले बंधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यप्रत्यय मिट्टीके ढेलेके समान अकिञ्चित्कर है। तथा वे सब कार्मण शरीरके साथ सम्बद्ध हैं (जीवके साथ नहीं)।

ज्ञानी निरास्रव क्यों है?

चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहि।
समए समए जम्हा तेण अबंधो त्ति णाणी दु ॥१७०॥

चूंकि मिथ्यात्व अविरति कषाय और योगके भेदसे चार प्रकार का द्रव्यप्रत्यय ज्ञान और दर्शन गुणोंके द्वारा प्रति समय अनेक प्रकारके कर्मोंको बांधता है। अर्थात् उदयागत कर्म जीव के ज्ञान और दर्शन गुणोंको अज्ञान रूपसे परिणमाते हैं और अज्ञानभाव रूपसे परिणत ज्ञान और दर्शनगुण वन्धके कारण होते हैं। अतः ज्ञानी को अबंधक कहा है।

ज्ञानगुण का परिणमन वन्धका कारण कैसे है?

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

चूंकि ज्ञान गुण जघन्य ज्ञान गुणसे भी पुनः अन्यरूप परिणमन करता है। अर्थात् जब तक ज्ञानगुण जघन्य रहता है तब तक उसका पुनः पुनः अन्यरूप परिणमन हुआ करता है। और यथाख्यात चारित्ररूप अवस्था से नीचे राग का सद्भाव अवश्य रहता है, अतः उस ज्ञान गुणको बंधक कहा है।

तब ज्ञानी निरास्रव कैसे है?

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२॥

अतः ज्ञान दर्शन और चारित्र जघन्य रूपसे परिणमन करते हैं। इसलिये ज्ञानी अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मोंसे बंधता है। आशय यह है कि जब तक ज्ञानी ज्ञानको जघन्य रूपसे जानता देखता और आचरता है तब तक पुद्गलकर्मका बंध होता है अतः जो साक्षात् ज्ञानीभूत है वह निरास्रव है।

ऐसी स्थितिमें सम्यग्दृष्टीको अबंधक कहनेका कारण –

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बधंते कम्मभावेण ॥१७३॥

संती दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥१७४॥

होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहि ॥१७५॥

एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१७६॥

सम्यग्दृष्टीके पहले बंधे हुए सब प्रत्यय हैं और उपयोगके प्रयोगानुसार वे कर्म रूपसे बंध कराते हैं। किन्तु सत्ता अवस्थामें वे निरुपभोग्य है। जैसे लोकमें बाला स्त्री पुरुषके भोगने योग्य नहीं होती। जब वे प्रत्यय भोगने योग्य होते है अर्थात् उदयागत होते है तो बंध कराते हैं, जैसे तरुणी स्त्री पुरुषको बांधती है। निरुपभोग्य होकर वे प्रत्यय जिस रूपसे भोगने योग्य होते हैं उसी रूपमें ज्ञानावरणादिरूपसे सात प्रकारके अथवा आठ प्रकारके कर्मोंका वन्ध कराते हैं। इस कारणसे सम्यग्दृष्टीको अबंधक कहा है। क्योंकि आस्रवभावके अभावमें प्रत्ययोंको वन्धक नहीं कहा है। आशय यह है कि पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय पहले निरुपभोग्य रहते हैं-उदयकाल आनेपर उपभोगयोग्य होते हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी कर्मके उदयसे होनेवाले जीवके भावोंके निमित्तसे ही वे कर्मवन्ध कराते हैं। किन्तु कर्मके उदयके कार्य राग द्वेष मोहरूप आस्रवभावके अभावमें द्रव्य प्रत्यय वन्धके कारण नहीं हैं।

उक्त बातका ही समर्थन करते हैं–

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१७७॥

हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं होदि ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१७८॥

राग, द्वेप, और मोह ये आस्रव सम्यग्द्दष्टीके नहीं हैं । इसलिये आस्रव भावके विना द्रव्य प्रत्यय कर्मबन्धके कारण नहीं होते । मिथ्यात्व आदि चार प्रकारके हेतु आठ प्रकारके कर्मबन्धके कारण होते है और उन मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्ययोंके कारण रागादि भाव होते हैं । रागादिभावोंका अभाव होने पर कर्मबन्ध नहीं होता ।

पुनः दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं —

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणामदि सो अणेयविहं ।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो ॥१७९॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
बज्झते कम्मं ते णयपरिहीणादु ते जीवा ॥१८०॥

जैसे पुरुषके द्वारा ग्रहण किया गया आहार उदराग्निसे संयुक्त होकर मांस, चर्वी, रुधिर आदि अनेक भावरूप परिणमन करता है । वैसे ही ज्ञानीके पहले जो मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्यय बंधे थे वे (जीवके रागादि भावोंसे संयुक्त होकर) अनेक प्रकारके कर्मबंधको करते है । किन्तु ऐसे जीव शुद्धनयसे हीन होते है । अर्थात् शुद्धनयसे च्युत होनेपर ज्ञानीके कर्मबन्ध होता है ।

संवर-अधिकार

समस्त कर्मोंके संवरका उत्तम उपाय भेद विज्ञान है अतः सबसे प्रथम भेद विज्ञानका अभिनन्दन करते है ।

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो ।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८१॥
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगम्मि य कम्मं णोकम्म चावि णो अत्थि ॥१८२॥

एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स ।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१८३॥

उपयोगमे उपयोग है, क्रोधादिकमे कोई उपयोग नहीं है। क्रोध क्रोधमे ही है, निश्चय नयसे उपयोगमे क्रोध नहीं है। आठ प्रकारके कर्मोंमे और नो कर्ममे भी उपयोग नहीं है। उपयोगमे भी कर्म और नो कर्म नहीं हैं। यह अविपरीत-विपरीततारहित ज्ञान जब जीवको होता है तब उपयोग स्वरूप वह शुद्धात्मा उपयोगके सिवाय अन्य किसी भी भावको नहीं करता। आशय यह है कि उक्त प्रकारसे भेद विज्ञानसे शुद्धात्मा की उपलब्धि होनेपर जीव मिथ्यात्व-रागादि भावोंको नहीं करता। इससे नवीन कर्मोका संवर होता है।

भेदविज्ञानसे ही शुद्धात्माकी उपलब्धि कैसे होती है—

जह कणयमग्गितवियं पि कणयभावं ण त परिच्चयदि ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥१८४॥
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रागमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥१८५॥

जैसे सुवर्ण अग्निसे तपा होनेपर भी सुवर्णपनेको नही छोड़ता। वैसे ही कर्मके उदयसे तप्त ज्ञानी भी ज्ञानपनेको नहीं छोड़ता, ऐसा ज्ञानी जानता है। और अज्ञानरूपी अन्धकारसे आच्छादित अज्ञानी आत्मा के स्वभाव को न जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है।

शुद्धात्माकी उपलब्धिसे ही कैसे संवर होता है यह बतलाते है –

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥१८६॥

शुद्ध आत्मा को जाननेवाला जीव शुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है। और अशुद्ध आत्माका अनुभव करनेवाला जीव अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है।

संवर किस प्रकारसे होता है यह बतलाते हैं

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोगेसु ।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि ॥१८७॥

जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणा अप्पा ।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्त ॥१८८॥

अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्क ॥१८६॥

आत्माको आत्माके द्वारा दो पुण्य पापरूप शुभोपयोग और अशुभो-पयोगसे रोक कर और शुद्धदर्शन ज्ञानरूप आत्मामे स्थिर होता हुआ अन्य-द्रव्यकी इच्छाको त्यागता हैं और समस्त परिग्रहको छोड़कर आत्माके द्वारा आत्माका ध्यान करता है कर्म और नो कर्मका ध्यान नहीं करता। तथा आत्माके एकत्वका ही चिन्तन करता हैं। वह आत्मा आत्माका ध्यान करता हुआ दर्शनज्ञानमय तथा अनन्यमय होकर शीघ्रही कर्मसे मुक्त आत्माको प्राप्त करता है।

संवरका क्रम

तेसि हेऊ भणिया अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१६०॥

हेउअभावे णियमा जायइ णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायइ कम्मस्स वि णिरोहो ॥१६१॥

कम्मस्स अभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ॥१६२॥

सर्वज्ञ देवने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगरूप अध्यव-सानोंको उन राग द्वेप मोहरूप आस्त्रवभावका कारण कहा है। इन कारणोंका अभाव होने पर ज्ञानीके नियमसे आस्त्रवका निरोध होता हैं। और आस्त्रव भावके विना कर्मका भी निरोध होता है। कर्मका अभाव होनेसे नो कर्मोंका भी निरोध हो जाता है और नो-कर्मका निरोध होनेसे संसारका निरोध हो जाता हैं।

निर्जरा अधिकार

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१६३॥

सम्यग्दृष्टी जो इन्द्रियोंके द्वारा अचेतन तथा चेतन पदार्थोंका उपभोग करता है वह सब निर्जराका निमित्त है।

भाव निर्जराका स्वरूप

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं च दुःक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥१६४॥

द्रव्यका उपभोग करने पर नियमसे सुख अथवा दुःख होता है। और उस उदयागत सुख दुःखको जीव वेदन करता है। तदनन्तर वह निर्जराको प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानकी सामर्थ्य

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी ॥१६५॥

जैसे वैद्य पुरुष विषको खाते हुए भी मरणको प्राप्त नहीं होता वैसे ही ज्ञानी पुद्गल कर्मोंके उदयको भोगता है, किन्तु कर्मसे नहीं बंधता।

जह मज्जं पिबमाणो अरदीभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव ॥१६६॥

जैसे कोई पुरुष अरुचि पूर्वक मद्यपान करता हुआ बदहोश नहीं होता वैसे ही द्रव्यके उपभोगमें अनासक्त ज्ञानी भी कर्मसे बद्ध नहीं होता।

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होदि ॥१६७॥

कोई तो विषयोंका सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता और कोई विषयों का सेवन नहीं करते हुए भी सेवन करता है। जैसे कोई पुरुष विवाहादि प्रकरणमें लगा होने पर भी उस कार्यका स्वामी न होनेसे विवाहादि प्रकरण-का कर्ता नहीं होता।

सम्यग्दृष्टीका भाव

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१६८॥

कर्मोंके उदयका विपाक जिनेन्द्रदेवने अनेक प्रकारका कहा है । किन्तु वे सव मेरे स्वभावरूप नही हैं । मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ ।

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१६६॥

राग नामक पुद्गलकर्म हैं । उसीके उदयके विपाकसे यह रागरूप भाव होता है । यह मेरा भाव नहीं हैं । मै तो एक ज्ञायक भाव हूँ ।

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाण मुणदि जाणगसहावं ।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥२००॥

इस प्रकार सम्यग्दृष्टी अपनेको ज्ञायक स्वभाव जानता है । और तत्त्वको जानता हुआ कर्मके विपाकरूप उदयको छोड़ता है अर्थात् उसमे ममत्वबुद्धि नही करता ।

रागी सम्यग्दृष्टी नहीं है –

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥२०१॥
अप्पाणमयाणतो अणप्पयं चावि सो अयाणतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणतो ॥२०२॥

जिसके परमाणु बराबर भी रागादि भाव विद्यमान है, वह समस्त आगमका धारी होते हुए भी आत्माको नहीं जानता । और आत्माको नहीं जानता हुआ वह अनात्मा–आत्मासे भिन्न पदार्थोंको भी नहीं जानता । इस तरह जब वह जीव और अजीव तत्त्वको नहीं जानता तो वह सम्यग्दृष्टी कैसे हो सकता है ?

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियद ।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंत सहावेण ॥२०३॥

आत्मामे अपदभूत द्रव्यकर्मों और भावकर्मोंको छोड़कर, स्वभावरूपसे अनुभूयमान नियत, स्थिर इस एक आत्मभावको ही ग्रहण करो ।

आभिणि सुदोहि मण केवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥२०४॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान ये सब एक ही पद हैं (क्योंकि ज्ञानके सब भेद एक ज्ञानरूप ही हैं)। यही वह परमार्थ है जिसको प्राप्त करके आत्मा निर्वाण प्राप्त करता है।

णाणगुणेण[1] विहीणा एदं तु पदं बहू वि ण लभंते ।
तं गिण्ह णियदमेदं[2] जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२०५॥

ज्ञान गुणसे रहित बहुतसे जीव इस ज्ञानपदको प्राप्त नहीं करते। अतः यदि कर्मोसे छूटना चाहता है तो इस नियत ज्ञानपदको ग्रहण कर।

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो होहदि[3] तुह उत्तमं सोक्खं ॥२०६॥

हे भव्य ! तू इस ज्ञानमे सदा लीन हो, इसीमे सदा सन्तुष्ट रह, इसीसे तृप्त हो। ऐसा होनेसे तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा।

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥२०७॥

अपनी आत्माको ही नियमसे अपना परिग्रह जानता हुआ कौन ज्ञानी ऐसा कहेगा कि यह पर द्रव्य मेरा द्रव्य है ?

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीविदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ ॥२०८॥

यदि पर द्रव्य मेरा परिग्रह है तो मैं जड़पनेको प्राप्त हुआ। किन्तु मैं तो ज्ञाता ही हूँ अतः परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है।

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।
जम्हा तम्हा गच्छदु तहा वि ण परिग्गहो मज्झ ॥२०९॥

कोई छेदन करो, वा भेदन करो, वा कोई उठाकर ले जाओ, अथवा

---

१. –गुणेहि, ता० वृ० । २. सुपदमेदं, ता० वृ० । ३ 'तो होहदि', ता० वृ० ।

प्रलयको प्राप्त होओ, अथवा यहां वहां जाओ, तथापि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१०॥

जिसको इच्छा नहीं हैं उसको अपरिग्रही कहा है। और ज्ञानी धर्मकी इच्छा नहीं करता, अतः ज्ञानीके धर्मका परिग्रह नहीं है। वह तो धर्मका केवल ज्ञायक है।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२११॥

जिसके इच्छा नहीं हैं उसे अपरिग्रही कहा है। और ज्ञानी अधर्मकी इच्छा नहीं करता, अतः उसके अधर्मका परिग्रह नहीं है। वह तो उसका ज्ञाता है।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१२॥

जिसके इच्छा नहीं है उसे अपरिग्रही कहा है। और ज्ञानी भोजनकी इच्छा नहीं करता अतः उसके भोजनका परिग्रह नहीं है। वह तो उसका ज्ञातामात्र है।

अपरिग्गहो अणिच्छो [1]भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१३॥

जिसके इच्छा नहीं है उस अपरिग्रही कहा है। और ज्ञानी पीनेकी वस्तुकी इच्छा नहीं करता। अतः उसके पानका परिग्रह नहीं है। वह तो उसका ज्ञायकमात्र है।

[2]एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ ॥२१४॥

इत्यादिक अनेक प्रकारके सब भावोंकी ज्ञानी इच्छा नहीं करता। वह सर्वत्र निरालम्ब होता हुआ नियमसे ज्ञायकभावरूप ही है।

---

१. 'भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी' –ता० वृ०। २. 'इच्वादु एदु'-ता० वृ०।

ज्ञानीके भोगोंकी इच्छा भी नहीं है –

उप्पण्णोदयभोगो वियोगबुद्धीए तस्स सो णिच्च ।
कखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥२१५॥

उत्पन्न हुआ कर्मके उदयका भोग ज्ञानीके सदा विराग बुद्धिसे ही होता है। और अनागत उदय की इच्छा ज्ञानी नहीं करता। अर्थात् ज्ञानीकी प्राप्त हुए भोगमे तो हेय बुद्धि रहती है और आगामी भोगोंकी वह इच्छा नही करता।

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभयं ।
त जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कखइ कया वि ॥२१६॥

जो अनुभवन करता है और जो अनुभव किया जाता है ये दोनों वेदक भाव और वेद्यभाव प्रतिक्षण विनाशी हैं। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कभी भी उन दोनों भावोंकी इच्छा नही करता।

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥२१७॥

वन्ध और उपभोगके निमित्त संसार सम्वन्धी और शरीर सम्वन्धी अध्यवसानोके उदयमे ज्ञानीको राग उत्पन्न नहीं होता। आशय यह है कि कुछ अध्यवसान तो शरीरसम्वन्धी होते हैं और कुछ अध्यवसान संसार सम्वन्धी होते है। संसार सम्वन्धी अध्यवसान तो वन्धके निमित हैं और शरीरसम्वन्धी अध्यवसान भोगमे निमित्त हैं। वन्धमे निमित्त अध्यवसान तो रागद्वेष मोह आदि हैं और उपभोगमें निमित्त अध्यवसान सुख दुःखादि हैं। इन सवमे ही ज्ञानी राग नहीं करता।

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि [1]रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोह ॥२१९॥

ज्ञानी सव द्रव्योंमे रागादि नही करता. अतः कीचड़मे पड़े हुए सुवर्ण की तरह वह कर्मोंके मध्यमे रहते हुए भी कर्मरूपी रज से लिप्त नहीं

१ 'कम्मरएण-' ता० वृ० ।

होता। किन्तु अज्ञानी सबद्रव्योंमे रागी होता है। अतः कीचड़मे पड़े हुए लोहकी तरह कर्मोंके मध्यमें स्थित अज्ञानी कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है।

शंखके दृष्टान्त द्वारा ज्ञानीके बन्धका अभाव बतलाते हैं—

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो काउं ॥२२०॥

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं [1]ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥२२१॥

जइया स एव संखो सेदसहाव तयं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२२२॥

तह णाणी वि हु जइया णाणसहावत्तय पयहिदूण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२२३॥

जैसे, सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त अनेक द्रव्योंको भोगते हुए भी शंखके श्वेतपनको कोई काला नहीं कर सकता। उसी प्रकार अनेक प्रकारके सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त द्रव्योंको भोगते हुए भी ज्ञानीके ज्ञानको अज्ञानरूप नहीं किया जा सकता। और जब वही शंख अपने श्वेतपनेको छोड़कर कृष्णपनेको प्राप्त होता है तो श्वेतपनेको छोड़ देता है। वैसे ही ज्ञानी भी जब अपने ज्ञानस्वभवको छोड़कर अज्ञान रूपसे परिणमन करता है तब अज्ञानपनेको प्राप्त होता है।

पुरिसो जह को वि इह वित्तिणिमित्त तु सेवए रायं।
तो सो वि देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२४॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्त।
[2]तो सो वि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२५॥
जह पुण सो[3] च्चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवए रायं।
तो सो ण देइ राया विविहे[4] भोए सुहुप्पाए ॥२२६॥

---

१ 'ण वि सक्कदि रागदो णेदुं'—ता० वृ०। २—'तो सो वि कम्मरायो देदि सुहुप्पादगे भोगे'—ता० वृ०। ३ 'सो चेव णरो'—ता० वृ०। ४ 'विविहसुहुप्पादगे भोगे'—ता० वृ०।

अर्थात् उनकी इच्छा नहीं करता, उस आकांक्षा रहित आत्माको सम्यग्दृष्टी जानना चाहिये।

निर्विचिकित्सा गुणका कथन

जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३१॥

जो आत्मा सभी वस्तुधर्मोंके प्रति ग्लानि नहीं करता उस निर्विचिकित्सा गुणके धारीको सम्यग्दृष्टी जानना चाहिये।

अमूढ़दृष्टी गुणका कथन

जो हवइ असम्मूढो चेदा [1]सद्दिट्ठी सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥

जो चेतयिता आत्मा सब भावोंमें अमूढ़ है, यथार्थ दृष्टिवाला है उस अमूढदृष्टिको सम्यग्दृष्टी जानना चाहिये।

उपगूहन गुणका कथन

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३३॥

जो सिद्धभक्तिसे युक्त है और मिथ्यात्व रागादि विभावरूप सब धर्मोंका उपगूहक अर्थात् प्रच्छादक अथवा विनाशक है। उस उपगूहनकारीको सम्यग्दृष्टी जानना चाहिये।

स्थिति करण गुणका कथन

उम्मग्गं गच्छंतं [2]सगं पि मग्गे ठवेदि जो अप्पा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३४॥

जो आत्मा उन्मार्गमें जाते हुए अपनेको भी मार्गसे स्थापित करता है उस स्थितिकरण गुणसे युक्त आत्माको सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

वात्सल्य गुणका कथन

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३५॥

---

१ सव्वेसु कम्मभावेसु—ता० वृ०। २ 'सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं'—ता० वृ०।

जो मोक्षमार्गमें स्थित आचार्य, उपाध्याय और साधुओंके प्रति वात्सल्यभाव करता है उस वात्सल्यभावसे युक्त आत्माको सम्यग्दृष्टी जानना चाहिये।

प्रभावना गुणका कथन

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३६॥

जो आत्मा विद्यारूपी रथमें चढ़कर मनरूपी रथके मार्गमें भ्रमण करता है, उस जिनेश्वरके ज्ञानकी प्रभावना करनेवालेको सम्यग्दृष्टी जानना चाहिये।

—०—

बन्ध-अधिकार

बन्धके कारण

जह णाम को वि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेदि सत्थेहि वायामं ॥२३७॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकदलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघादं ॥२३८॥
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहि करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु[1] किं पच्चयगो दु[2] रयबंधो ॥२३९॥
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण[3] कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४०॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चेट्ठासु।
रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रयेण ॥२४१॥

जैसे कोई पुरुष अपने शरीर पर तेल आदि चिक्कण वस्तु मलकर और धूलसे भरे हुए स्थानमें खड़ा होकर शस्त्रोंके द्वारा व्यायाम करता है

---

१. 'चिंतिज्जइ'—आ०। २. 'दु तस्स रय'—ता०वृ०। ३. अकाय-आ०।

अर्थात् शस्त्र संचालन करता है। तथा ताड़, तम्बाखू, केला, बांस, अशोक आदिके वृक्षोंका छेदन भेदन करता है। और इस तरह सचेतन और अचेतन द्रव्यों का उपघात करता है। इस तरह नाना प्रकारके साधनोंके द्वारा उपघात करनेवाले उस मनुष्यके धूलसे धूसरित होनेका क्या कारण है यह निश्चयसे विचार करो। उस मनुष्यके शरीरमे जो तेल आदि स्निग्धपदार्थ लगा हुआ है उसके द्वारा ही वह धूलसे सम्बद्ध होता है, यह निश्चयसे जानना चाहिये। शेप शारीरिक चेष्टाओंके द्वारा वह धूलसे लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार बहुत प्रकारकी चेष्टाओंको करता हुआ मिथ्यादृष्टि अपने उपयोगमे रागादि भावोंको करता है और इसीसे वह कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है।

सम्यग्दृष्टिके बन्ध नहीं होता

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिये संते।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहि वायामं ॥२४२॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकदलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥२४३॥
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किं पच्चयगो ण रयबधो ॥२४४॥
जो सो[1] दु णेहभावो तम्सि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४५॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे रागादी ण[2] लिप्पदि रएण ॥२४६॥

किन्तु जब वही मनुष्य समस्त तेल आदि स्निग्ध पदार्थोंको शरीरसे दूर करके, धूलसे भरे हुए स्थानमे शस्त्रोंके द्वारा व्यायाम करता है। तथा ताड़ तम्बाखु, केला, बांस, अशोक आदिके वृक्षोंको छेदता भेदता है और सचेतन तथा अचेतन द्रव्योंका उपघात करता है। इस तरह नाना प्रकारके साधनोंके द्वारा उपघात करने वाले उस मनुष्यके धूलसे लिप्त न होनेका क्या कारण है यह निश्चयसे विचार करो। उस मनुष्यके शरीरमे जो स्निग्धता है उसीके द्वारा वह धूलसे लिप्त होता है यह निश्चयसे जानो,

---

१. सो असोह भावो—आ०। २. 'णेव बज्झदि रयेण'—ता० वृ०।

शेष काय चेष्टाओंके द्वारा नहीं। इसी प्रकार अनेक प्रकारके मानसिक, वाचनिक और कायके व्यापारोंमें लगा हुआ सम्यग्दृष्टी अपने उपयोगमें रागादि नहीं करता। अतः वह कर्मरूपी रजसे लिप्त नहीं होता।

मिथ्यादृष्टिके भाव और उनका निराकरण

जो मरणादि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अरणाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

जो मानता है कि मैं अन्य प्राणियोंकी हिंसा करता हूँ और अन्य प्राणि मेरी हिसा करते हैं वह मूढ़ और अज्ञानी है। और जो ऐसा नहीं मानता वह ज्ञानी है।

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पएणत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं ॥२४८॥

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पएणत्त।
आउ ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं ॥२४९॥

जिनेन्द्रदेवने आयुकर्मके क्षयसे जीवोंका मरण कहा है। और तू अन्य प्राणियोंकी आयुका हरण नहीं करता तो तूने उनका मरण कैसे किया? जिनेन्द्रदेवने आयुकर्मके क्षयसे जीवोंका मरण कहा है और अन्य जीव तेरी आयुको नहीं हरते। तब उन्होंने तेरा मरण कैसे किया?

जो मरणादि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तहिं।
सो मूढो अरणाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

जो मानता है कि मै अन्य प्राणियोंको जिवाता हूँ और अन्य प्राणि मुझे जिवाते हैं वह मूढ़ और अज्ञानी है। और जो ऐसा नहीं मानता वह ज्ञानी है।

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वरहू।
आउ च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं ॥२५१॥

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वरहू।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं ॥२५२॥

जीव आयुकर्मके उदयसे जीता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। और तू किसीको आयु नहीं देता। तब तूने उनको जीवदान कैसे किया। आयुकर्म

के उदयसे जीव जीता है, ऐसा सर्वज्ञ भगवानने कहा है। और तुझे अन्य जीव आयु नहीं दे सकते तब उन्होंने तुझे जीवनदान कैसे दिया।

दुःख सुख भी स्वकर्मोदयसे होता है —

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥

जो ऐसा मानता है कि मैं जीवोंको दुखी अथवा सुखी करता हूँ, वह मूढ़ अज्ञानी है। और जो ऐसा नहीं मानता वह ज्ञानी है।

[1]कम्मोदएण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिद-महिदा कहं कया ते ॥२५४॥
[2]कम्मोदएण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण[4] दिंति तुहं कदो सि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥२५५॥
[3]कम्मोदएण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण[5] दिंति तुह कह त सुहिदो कदो तेहिं ॥२५६॥

यदि सब जीव कर्मके उदयसे दुखी और सुखी होते है और तू उन्हें कर्म देता नहीं, तव तूने उन्हे दुखी अथवा सुखी कैसे किया? यदि सब जीव कर्मके उदयसे दुःखी और सुखी होते है और अन्य जीव तुझे कर्म देते नही तब उन्होंने तुझे दुःखी कैसे किया? यदि सब जीव कर्मके उदयसे दुखी और सुखी होते हैं और अन्य जीव तुझे कर्म देते नहीं, तब उन्होंने तुझे सुखी कैसे किया?

जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदएण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदएण चेव खलु।
तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥

जो मरता है और जो दुखी होता है वह सब कर्मके उदयसे होता है। अतः मैंने मारा, मैंने दुखी किया, ऐसा तेरा अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है?

१-२-३-कम्मणिमित्त सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता — ता० वृ०। ४. —ण देसि तुमं कह त सुहिदो कदो तेहिं'—ता० वृ०। ५. —ण देसि तुमं कह त दुहिदो कदो तेहिं—ता० वृ०।

किया जाता है उससे पापका बन्ध होता है। तथा सत्यमें, अचौर्यमें ब्रह्मचर्यमें और अपरिग्रहपनेमे जो अध्यवसान किया जाता है, उससे पुण्य कर्मका बंध होता है।

बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं है –

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बधो अज्झवसाणेण बंधो त्ति ॥२६५॥

किन्तु जीवोंका जो अध्यवसान होता है वह वस्तुके आश्रयसे होता है। तथापि वस्तुसे बन्ध नहीं होता, अध्यवसानसे बन्ध होता है।

अतः उक्त मति मिथ्या है –

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बधेमि तह विमोचेमि।
जा [1]एसा मूढमदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२६६॥

अतः मैं जीवोको दुखी अथवा सुखी करता हूँ, उन्हे बाँधता तथा छुड़ाता हूँ, ऐसी जो तेरी मूढ़ मति है वह निरर्थक होनेसे मिथ्या है।

क्योंकि—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झति कम्मणा जदि हि।
मुच्चति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं ॥२६७॥

यदि अध्यवसानके निमित्तसे जीव कर्मसे बँधते हैं और मोक्षमार्गमे स्थित होकर कर्मबन्धनसे छूटते है तो तू क्या करता है। अर्थात् बाँधने और छुड़ानेका तेरा अभिप्राय व्यर्थ ही है।

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए।
देवमणुरा य सव्वे पुण्णं पाव च णेयविह ॥२६८॥

धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२६९॥

जीव अध्यवसानके द्वारा तिर्यञ्च, नारक, देव, मनुष्य इन सब पर्यायोंको और अनेक प्रकारके पुण्यकर्मों और पापकर्मोंको करता है। तथा

---

१ 'एसा तुज्झमदी'—ता० वृ०।

जीव अध्यवसानके द्वारा धर्म अधर्म, जीव अजीव, और लोक अलोक इन सबको अपना करता है।

किन्तु जिनके यह अध्यवसान नहीं होता उन्हे कर्मबन्ध नहीं होता –

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७०॥

ये पहले कहे गये तथा इसी प्रकारके अन्य अध्यवसान जिनके नहीं हैं वे मुनि शुभ और अशुभ कर्मसे लिप्त नहीं होते।

अध्यवसानके नामान्तर

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२७१॥

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थवाची हैं।

उपसंहार

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छय[1]णयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

इस प्रकार निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनयको निषिद्ध जानो। तथा निश्चयनयका आश्रय लेने वाले मुनि निर्वाणको प्राप्त करते है।

व्यवहार का आश्रय तो अभव्य भी लेता है –

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥

जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तपको करता हुआ भी अभव्य अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

अभव्य एकादशांगका पाठी होकर भी अज्ञानी है –

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२७४॥

१–णयसल्लीणा—ता० वृ०।

मोक्षका श्रद्धान न करनेवाला जो अभव्यजीव है यद्यपि वह शास्त्रोंको पढ़ता है, किन्तु ज्ञानका श्रद्धान न करने वालेका शास्त्रपठन लाभकारी नहीं है ।

शायद कोई कहे कि अभव्यके धर्मका श्रद्धान है, उसका उत्तर –

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्त ण दु सो कम्मक्खयणिमित्त ॥२७५॥

वह अभव्यजीव भोगके निमित्त रूप धर्मका श्रद्धान करता है, उसीकी प्रतीति करता है, उसीकी रुचि करता है तथा उसीका आलिगन करता है । परन्तु कर्मक्षयके निमित्त रूप धर्मकी न तो श्रद्धा करता है, न प्रतीति करता है, न रुचि करता है और न उसे अपनाता है ।

व्यवहार और निश्चयका स्वरूप

आयारादी णाण जीवादिदंसण च विण्णेयं ।
छज्जीव[1]णिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥२७६॥
आदा खु मज्झ णाण आदा मे दंसण चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाण आदा मे संवरो जोगो ॥२७७॥

ज्ञानका कारण होनेसे आचारांग आदि शास्त्रको ज्ञान, श्रद्धानका आश्रय होनेसे जीवादि तत्त्वको सम्यग्दर्शन जानना चाहिये तथा चारित्रका आश्रय होनेसे छै कायके जीव चारित्र है ऐसा व्यवहारनय कहता है । किन्तु निश्चयसे मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, मेरा आत्मा ही सम्यक्चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही संवर और योग (ध्यान) है ।

रागादिको कर्मबन्धका कारण कहा है तब रागादिका कारण क्या है, यह बतलाते हैं –

जह फलिहमणी सुद्धो ण सय परिणमदि रागमादीहिं ।
रज्जि[2]ज्जदि अण्णेहि दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

---

१. छज्जीवाण रक्खा—ता० वृ० । २ रंगिज्जदि—मु० ।

जैसे शुद्ध स्फटिकमणि स्वयं रागादि रूप परिणमन नहीं करता, किन्तु अन्य रक्त आदि द्रव्योंके द्वारा वह रक्त आदि रूप परिणमन करता है। इसी प्रकार शुद्ध ज्ञानी आत्मा स्वयं रागादिरूप परिणमन नहीं करता। किन्तु अन्य रागादि दोषोंके द्वारा वह रागी आदि होता है।

ज्ञानी रागादिका कर्ता क्यों नहीं है, यह बतलाते हैं —

ण य रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं ॥२८०॥

ज्ञानी रागद्वेष मोहको अथवा कषाय भावको (कर्मोदय रूप निमित्तके विना) स्वयं अपना नहीं करता है। और इसलिये वह ज्ञानी उन रागादि भावोंका कर्ता नहीं है।

किन्तु अज्ञानी रागादि भावोंका कर्ता है

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रागादी बंधदि पुणो वि ॥२८१॥

रागरूप द्वेषरूप और कषायरूप द्रव्यकर्मोंका उदय होनेपर जो रागादिरूप भाव होते है उनरूप परिणमन करता हुआ अज्ञानी पुनः रागादिका बन्ध करता है।

अतः यह बात ठहरी

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमतो रागादी बंधदे चेदा ॥२८२॥

रागरूप, द्वेषरूप और कषायरूप कर्मका उदय होनेपर जो भाव होते हैं, उनरूप परिणमन करता हुआ आत्मा रागादिका बन्ध करता है।

सम्यग्ज्ञानी रागादिका अकर्ता कैसे है, यह बतलाते हैं —

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं।
एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा ॥२८३॥

अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं।
एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा ॥२८४॥

जाव[1] अपडिक्कमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वदि आदा ताव दु कत्ता सो होदि णादव्वो ॥२८५॥

अप्रतिक्रमण (पहले भोगे हुए विषयोंका स्मरण करना) दो प्रकार है। उसी तरह अप्रत्याख्यान (आगामी विषयोकी चाहरूप) भी दो प्रकारका जानना चाहिये। इस उपदेश (परमागम) के द्वारा आत्माको अकारक कहा है। द्रव्य और भावके भेदसे अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है। उसी तरह द्रव्य और भावके भेदसे अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका है। इस उपदेशके द्वारा आत्माको अकारक कहा है। जब तक आत्मा द्रव्य और भावका अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है तबतक वह कर्ता होता है ऐसा जानना चाहिये। आशय यह है कि आगममें जो अप्रत्याख्यान और अप्रतिक्रमणको द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका कहा है, वह यह बतलाता है कि द्रव्य और भावमे निमित्त नैमित्तिकपना है। अतः पर द्रव्य निमित्त है, रागादि भाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यानको कर्तापनेरूप निमित्तपनेका उपदेश व्यर्थ हो जायगा और ऐसा होनेपर अकेला आत्मा ही रागादि भावका निमित्त ठहरेगा। तब नित्यकर्तृत्वका प्रसंग आनेसे मोक्षका अभाव हो जायगा। इसलिये आत्माके रागादि भावोंका निमित्त पर द्रव्यको ही मानना चाहिये। अतःआत्मा रागादिका अकारक है। तथापि जबतक वह आत्मा निमित्तभूत पर द्रव्यका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं करता तबतक नैमित्तिकभूत रागादि भावोंका न प्रतिक्रमण करता है और प्रत्याख्यान करता है। और जब तक रागादि भावोका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं करता, तबतक कर्ता ही है।

अन्य उदाहरणसे द्रव्य और भावमें निमित्तनैमित्तिकपने का समर्थन—

आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा दु जे णिच्चं ॥२८६॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पुग्गलमयं इमं दव्वं ।
कह तं मम होदि कयं जं णिच्चमचेदणं उत्तं ॥२८७॥

अधःकर्म आदि जो पुद्गल द्रव्यके दोष हैं (उन्हे ज्ञानी नहीं करता)। तब जो सदा परद्रव्यके गुण है उन्हे ज्ञानी आत्मा कैसे

---

१. 'जाव ण पच्चक्खाणं अपडिक्कमणं च' – ता० वृ०।

कर सकता है ? अधःकर्म और औद्देसिक पुद्गलमय द्रव्य हैं। तो जिन्हें सदा अचेतन कहा है वे मेरे किये कैसे हो सकते हैं ॥ आशय यह है कि मुनिको दिया जानेवाला आहार यदि पापकर्मसे युक्त होता है तो उस आहारको अधःकर्म दोपसे दूषित कहा गया है। तथा जो आहार ग्रहण करनेवाले साधुके निमित्तसे बनाया जाता है उसे औद्देशिक कहते हैं। जो मुनि इसप्रकार के आहार का, जो कि पुद्गलद्रव्य है, प्रत्याख्यान नहीं करता वह उसके निमित्तसे होनेवाले भावका भी प्रत्याख्यान नहीं करता। और जो मुनि उसका प्रत्याख्यान करता है वह उसके निमित्तसे होनेवाले भावका भी प्रत्याख्यान करता है। इसप्रकार सब द्रव्योंमे और भाव मे निमित्त नैमित्तिकपना होता है। जो पर द्रव्यको ग्रहण करता है उसके रागादि भाव भी होते है। और वह उन रागादि भाव का कर्ता होता है और उससे उसके कर्मबन्ध होता है। किन्तु जब आत्मा यह जानता है कि अधःकर्म आदि पुद्गल द्रव्यके दोप हैं उन्हे आत्मा नहीं करता तो वह निमित्तभूत पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ नैमित्तिकभूत भावका भी, जो बन्धका कारण है, प्रत्याख्यान करता है। इस तरह निमित्तभूत समस्त परद्रव्यका त्याग करनेवाला आत्मा नैमित्तिकभूत भावका भी त्याग करता है। इस तरह द्रव्य और भावमें निमित्तनैमित्तिकपना है।

मोक्ष–अधिकार

बन्धके स्वरूपको जानने मात्रसे मोक्ष नही मिलता –

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्मि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मदसहावं कालं च वियाणदे तस्स ॥२८८॥
जइ ण वि [1]कुणदि च्छेदं ण [2]मुच्चए तेण बंधणवसो तं।
कालेण उ बहुएण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥२८९॥
इय कम्मबंधणाणं [3]पएसठिइपयडिमेवमणुभावं।
जाणंतो वि ण मुच्चइ [4]मुच्चइ सो चेव जदि सुद्धो ॥२९०॥

---

१ कुव्वदि–ता० वृ०। २ ण मुंचदि तेण कम्मबंधेण–ता० वृ०। ३ पएस पयडिट्ठिदीय अणुभाग–ता० वृ०। ४ मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो–ता० वृ०।

जैसे बन्धनमें चिरकालसे बंधा हुआ कोई पुरुष उस बन्धनके तीव्र अथवा मन्द स्वभावको अर्थात् ढीलेपने और दृढपनेको तथा कालको कि यह बन्धन इतने समयसे है, जानता हैं। किन्तु वह पुरुष उस बन्धनको नहीं कटाता इसलिये उससे नहीं छूटता। अतः बन्धनके अधीन हुआ वह पुरुष वहुत काल बीतने पर भी उस बन्धन से छुटकारा नहीं पाता। इसी तरह जीव कर्मबन्धनोंके प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभागको जानता हुआ भी मुक्त नहीं होता। परन्तु यदि वह शुद्ध होजाये तो मुक्त होजाता है।

बन्धका विचार करते रहनेसे भी मोक्ष नहीं मिलता –

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं।
तह बंधे चिंततो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं ॥२६१॥

जैसे बन्धनसे बंधा हुआ मनुष्य बन्धका विचार करनेसे छुटकारा नहीं पाता उसी तरह जीव भी बन्धका विचार करनेसे मोक्षको प्राप्त नहीं करता।

बन्धका छेदन करनेसे मोक्ष मिलता है –

जह बंधे [1]छित्तूण य बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे [2]छित्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ॥२६२॥

जैसे बन्धनसे बंधा हुआ पुरुष बंधको काटकर मोक्ष (छुटकारा) पाता है वैसे ही जीव बन्धको काटकर मोक्षको प्राप्त करता है।

बंधाण च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो [3]विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदि ॥२६३॥

जो बन्धोंके स्वभावको और अपने स्वभावको जानकर बन्धोंके प्रति विरक्त होता है वह पुरुष कर्मोंसे मुक्त होता है।

आत्मा और बन्धके पृथक् होनेका साधन

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२६४॥

जीव और बन्ध अपने अपने नियत लक्षणोंसे छेदे जाते है अर्थात् दोनोंके लक्षण जुदेजुदे हैं उन अपने-अपने लक्षणोंसे वे दोनों भिन्न-भिन्न

१–२ 'मुत्तूण'–ता० वृ०। ३ ण रज्जादि–ता० वृ०।

किये जाते हैं। और प्रज्ञारूपी छीनीसे छेदे जानेपर वे दोनो जुदे जुदे होजाते हैं।

आत्मा और बंधको अलग करनेसे लाभ

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहि णियएहिं।
बंधो छेदेदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥२६५॥

जीव और वन्ध अपने-अपने नियत लक्षणोंसे छेदे जाते हैं। उनमेंसे बंधको तो छोड़देना चाहिये और आत्माको ग्रहण करलेना चाहिये।

प्रज्ञाके द्वारा आत्मा और बन्धको जुदा करने पर भी आत्माको कैसे ग्रहण किया जाये? इस प्रश्नका समाधान –

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णाए व घित्तव्वो ॥२६६॥

वह आत्मा कैसे ग्रहण किया जाता है? वह आत्मा प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण किया जाता है। जैसे प्रज्ञाके द्वारा उसे बंधसे भिन्न किया वैसे ही प्रज्ञाके द्वारा उसे ग्रहण करना चाहिये।

प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण करनेका उपाय

पण्णाए घेत्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥२६७॥

प्रज्ञाके द्वारा आत्माको इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये–जो चेतयिता है वह तो निश्चयसे मैं हूं। वाकीके जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये।

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥२६८॥

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥२६९॥

प्रज्ञाके द्वारा आत्माको इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये–जो द्रष्टा (देखनेवाला) है वह निश्चयसे मैं हूं। वाकी जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये। प्रज्ञाके द्वारा ऐसे ग्रहण करना चाहिये, जो

ज्ञाता (जाननेवाला) है वह तो निश्चयसे मै हूं । बाकीके जो भाव हैं वह मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये ।

को णाम भणिज्ज बुहो णादुं सव्वे पराइए[1] भावे ।
मज्झमिणंति य वयणं जाणतो अप्पयं सुद्धं ॥३००॥

समस्त भावोंको परकीय जानकर आत्माको शुद्ध जानता हुआ कौन ज्ञानी 'ये मेरे हैं' ऐसा बोलेगा ।

दृष्टान्त द्वारा उक्त कथनका समर्थन

थेयादी अवराहे कुव्वदि जो सो दु संकिदो होदि ।
मा बज्झेज्जं[2] केण वि चोरो त्ति जणम्हि वियरंतो ॥३०१॥

जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि ।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कया वि ॥३०२॥

एवं हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा ।
जो पुण णिरवराहो णिस्संको हं ण बज्झामि ॥३०३॥

जो पुरुष चोरी आदि अपराधोंको करता है वह तो लोकमे विचरता हुआ, मुझे कोई चोर जानकर पकड़ न ले ऐसा शंकित रहता है । किन्तु जो पुरुष अपराध नहीं करता, वह लोकमे निर्भय होकर घूमता है उसे बांधे-जाने की चिंता कभी भी उत्पन्न नहीं होता । इसीप्रकार अपराधी आत्मा मै अपराधी हूं अतः मै बांधा जाऊंगा इसप्रकार शंकित रहता है । किन्तु यदि वह निरपराधी होता है तो 'मैं नहीं बांधा जाऊंगा' इसप्रकार निःशङ्क रहता है ।

अपराधका स्वरूप

संसिद्धिराधसिद्धि[3] साधिदमाराधिदं च एयट्ठो ।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराहो ॥३०४॥

जो पुण णिरवराहो चेदा णिस्संकिओ दु सो होदि ।
आराहणाए णिच्च वट्टेइ अहंति जाणतो ॥३०५॥

---

१. परोदये—ता० वृ० । २. बज्झेउहं—ता० वृ० । ३ –सिद्ध आ० मु० ।

संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित ये सब शब्द एकार्थवाची हैं। 'राध' अर्थात् पर द्रव्यको छोड़कर शुद्ध आत्माकी सिद्धिसे जो रहित है वह आत्मा अपराध है॥ तथा जो आत्मा निरपराध होता है वह निःशङ्क होता है। और 'मै शुद्ध आत्मारूप हूं' ऐसा जानता हुआ सदा आराधनारूपसे वर्तता है अर्थात् वह सदाकाल आराधक है।

व्यवहारनयावलम्बी कहता है कि शुद्धात्माकी उपासनासे क्या लाभ है? क्योंकि प्रतिक्रमण आदिके करनेसे ही आत्मा निरपराध होता है। सापराधका जो प्रतिक्रमण आदि नहीं करना है वह विषकुम्भ है, प्रतिक्रमण आदिका करना अमृतकुम्भ है क्योंकि वह अपराधको दूर करता है। इसका उत्तर—

> पडिकमण पडिसरण [1]परिहारो धारणा णियत्ती य।
> णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो ॥३०६॥
>
> अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
> अणियत्ती य अणिंदागरुहासोही अमयकुंभो ॥३०७॥

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि ये आठ प्रकारका विषकुम्भ है। और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा, अशुद्धि ये आठ अमृत कुम्भ है॥ आशय यह है कि अज्ञानीजनोंमे प्रचलित जो अप्रतिक्रमण-प्रतिक्रमण न करना आदि है वह तो स्वयं ही शुद्धात्मसिद्धि स्वभाव न होनेसे विषकुम्भ ही है। किन्तु जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि है वह यद्यपि समस्त अपराधरूपी विषको कम करने मे समर्थ होनेके कारण अमृत कुंभ है, तथापि जो प्रतिक्रमणादिसे विलक्षण अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है उसपर जिनकी दृष्टि नही है उनके लिये वह द्रव्य प्रतिक्रमण स्वकार्य करनेमे असमर्थ होनेसे तथा विरुद्धकार्यकारी होनेसे विषकुम्भ ही है। अप्रतिक्रमणादिरूप जो तीसरी भूमि है वह तो स्वयं शुद्धात्मसिद्धि स्वरूप होनेसे समस्त अपराधरूपी विषके दोषोंको दूर करनेके कारण साक्षात् अमृतकुम्भ रूप है। इसलिये वह व्यवहारसे द्रव्य प्रतिक्रमणादिको भी अमृतकुम्भपना सिद्धकरता है। उसीसे आत्मा निपराध होता है। उसके

---

१. परिहरण—ता० वृ०।

अभावमें द्रव्य प्रतिक्रमणादि भी अपराधरूप हैं। अतः तीसरी भूमिकाके द्वारा ही निरपराधपना होता है उसी की प्राप्तिके लिये द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

दृष्टान्तपूर्वक आत्माके अकर्तापनेका कथन

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं त तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहि दु पज्जएहिं कणय अणण्णमिह ॥३०८॥

जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणेहि ॥३०९॥

ण कुदोच्चि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होइ ॥३१०॥

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥३११॥

जो द्रव्य जिन गुणोंसे उत्पन्न होता है उन गुणोंसे उस द्रव्यको अभिन्न जानो। जैसे लोकमें कटक (कपड़ा) आदि पर्यायोसे सुवर्ण अभिन्न है॥ जीव और अजीवके जो परिणाम सूत्रमें कहे है, वह जीव अथवा अजीव उन परिणामोंसे अभिन्न है॥ यतः किसीसे भी उत्पन्न नही हुआ, इसलिये वह आत्मा किसीका कार्य नहीं है। और किसीको उत्पन्न नहीं करता इसलिये वह किसीका कारण भी नही है॥ ऐसा नियम है कि कर्मकी अपेक्षा कर्ता होता है और कर्ताकी अपेक्षा कर्म (कार्य) उत्पन्न होते हैं। इसके सिवाय अन्य किसी रीतिसे कर्ताकर्मभावकी सिद्धि देखनेमें नही आती।

अज्ञानकी महिमा

चेया उ पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥

एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णपच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए॥३१३॥

आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। प्रकृति भी आत्माके निमित्तसे उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। इसप्रकार पारस्परिक निमित्तसे आत्मा और प्रकृति दोनोका वन्ध होता है और उससे संसार उत्पन्न होता है।

जा एसा पयडीअट्ठं चेया णेव विमुंचए।
अयाणओ भवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजमो॥३१३॥
जया विमुंचए चेया कम्मफलमणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी॥३१५॥

जव तक यह आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न होना और विनष्ट होना नहीं छोड़ता तवतक वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टी है और असंयमी है। और जव आत्मा अनन्त कर्मफलको छोड़ देता है तव वह ज्ञायक है, दर्शक है, मुनि है और विमुक्त है। अर्थात् जवतक आत्माको भेद ज्ञान नहीं है तवतक वह मिथ्यादृष्टि और वन्धक है। भेद ज्ञान होनेपर वह ज्ञाता दृष्टा मात्र है।

यही वात आगे कहते हैं—

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उदियं ण वेदेइ॥३१६॥

अज्ञानी प्रकृति (जड़) के स्वभावमें स्थित होता हुआ कर्मोंके फलको भोगता है। किन्तु ज्ञानी उदयमे आये हुए कर्मफलको जानता है, भोगता नहीं है।

अज्ञानी भोक्ता है—

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति॥३१७॥

अच्छी तरहसे शास्त्रोंको पढ़कर भी अभव्य प्रकृतिके स्वभावको छोड़ता नहीं है। ठीक ही है, गुड़ मिश्रित दूधको पीते हुए भी सर्प निर्विष नहीं होते।

ज्ञानी भोक्ता नहीं है–

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मफल वियाणेइ ।
महुर कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होई ॥३१८॥

वैराग्यको प्राप्त हुआ ज्ञानी मीठे कडुए अनेक प्रकारके कर्मफलको जानता है। अतः वह अवेदक है, कर्मफलका भोक्ता नहीं है।

ण वि कुव्वदि ण वि वेयइ णाणी कम्माइ बहुपयाराइ ।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥३१९॥

ज्ञानी बहुत प्रकारके कर्मोंको न तो करता है और न भोगता है। किन्तु पुण्य और पापरूप कर्मबन्धको और कर्मफलको जानता है।

ज्ञानी कर्ता और भोक्ता नही है, इसका दृष्टान्त –

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणदि य बधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥३२०॥

जैसे आंख दृश्य वस्तुओंको न करती है और न भोगती है, केवल देखती है। वैसेही ज्ञान अकारक और अवेदक है–कर्ता भोक्ता नहीं है, वह बन्ध, मोक्ष, कर्मका उदय और निर्जराको केवल जानता है।

परको कर्ता माननेसे लौकिक जनों और श्रमणोंके धर्ममें अन्तर नहीं रहता

लोगस्स कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।
समणाणं पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काये ॥३२१॥

लोगसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ[१] ण दीसइ विसेसो ।
लोगस्स कुणइ विण्हू समणाण[२] वि अप्पओ कुणदि ॥३२२॥

एवं ण को वि मोक्खो दीसइ लोयसमणाण दोण्हं पि ।
णिच्चं कुव्वंताण सदेवमणुयासुरे लोगे ॥३२३॥

लौकिक जनोंके मतमे विष्णु देव, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि प्राणियोंको करता है, इसी तरह यदि श्रमणोंके मतमे भी आत्मा छ कायके जीवोंको करता है तो लोक और श्रमणोका एकमत होजाता है और

---

१ –पडि इत्यदि पाठः तात्पर्य वृ०। २ 'दुण्हं पि समण लोयाणं'– तात्पर्यवृत्तौ।

अह जीवो पयडी तह पोग्गलदव्वं कुणादि मिच्छत्त ।
तम्हा दोहि कदं तं दोण्णिवि भुंजंति तस्स फलं ॥२३०॥
अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं ।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥२३१॥

यदि मोहकर्मकी मिथ्यात्व नामक प्रकृति आत्माको मिथ्यादृष्टि करती है तो तुम्हारे मतमें अचेतन कर्मप्रकृति मिथ्यात्व भावकी कर्ता ठहरती है ॥ अथवा यह जीव पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वकर्मको करता है ऐसा मानाजाये तो पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि ठहरता है, जीव नहीं ॥ अथवा जीव तथा प्रकृति दोनों पुद्गलद्रव्यको मिथ्यात्व भावरूप करते हैं ऐसा माना जाय तो चूंकि दोनोंने उसे किया है, इसलिये दोनोंको उसका फल भोगना चाहिये । अथवा न तो प्रकृति और न जीव पुद्गलद्रव्यको मिथ्यात्व भावरूप करता है, यदि ऐसा मानाजाये तो पुद्गलद्रव्य स्वयं ही मिथ्यात्व भावरूप है, यह बात मिथ्या नहीं है ॥

आगे कहते हैं कि आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है–

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहि ।
कम्मेहि सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहि ॥२३२॥
कम्मेहि सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जदि णिज्जदि असंजमं चेव ॥२३३॥
कम्मेहि भमाडिज्जदि उड्ढमहो चावि तिरियलोयम्मि ।
कम्मेहि चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि ॥२३४॥
जम्हा कम्मं कुव्वदि कम्मं देई हरदि ज किंचि ।
तम्हा उ सव्वजीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥२३५॥
पुरिसित्थियाहिलासी इत्थी कम्मं च पुरिसमहिलसदि ।
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी ॥२३६॥
तम्हा ण को वि जीवा अबंभचारी दु अम्ह[1] उवदेसे ।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि[2] इदि भणियं ॥२३७॥
जम्हा घादेदि परं परेण घादिज्जदेदि सा पयडी ।
एदेणत्थेण दु किर भण्णदि परघादणामित्ति ॥२३८॥

---

१ तुम्ह –ता० वृत्तौ । २ ज –ता० ।

तम्हा ण को वि जीवोवघादगो[1]अत्थि अम्ह[2] उवदेसे ।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घादेदि इदि भणियं ॥३३९॥
एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसं समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वादि अप्पा य अकारया सव्वे ॥३४०॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणोकुणदि ।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एवं [3]मुणंतस्स ॥३४१॥
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि ।
ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहिओ य कादुं जे ॥३४२॥
जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं खु ।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ य कहं [4]कुणदि दव्वं ॥३४३॥
अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं ।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि ॥३४४॥

कर्म जीवको अज्ञानी करते हैं, और कर्म जीवको ज्ञानी करते हैं, कर्म जीवको सुलाते हैं और कर्म जीवको जगाते हैं ॥ कर्म जीवको सुखी करते हैं और कर्म जीवको दुखी करते हैं। कर्म जीवको मिथ्यात्वकी ओर लेजाते है और कर्म जीवको असंयमकी ओर ले जाते हैं ॥ कर्म जीवको अधोलोक ऊर्ध्वलोक और मध्यलोकमे भ्रमण कराते हैं, जो कुछ भी शुभ अथवा अशुभ है वह सब कर्म ही करते हैं। कर्म ही करता है, कर्मही देता है, कर्म ही होता है। चूंकि जो कुछ करता है वह सब कर्म ही करता है अतः सब जीव अकारक हैं ॥

तथा पुरुषवेद कर्म स्त्रीकी अभिलाषा करता है और स्त्रीवेदकर्म पुरुष की अभिलाषा करता है यह आचार्य परम्परासे आई हुई श्रुति है। इसलिये हमारे आगममे कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं हैं; क्योंकि कर्म ही कर्मकी अभिलाषा करता है ऐसा कहा है। तथा जो परको घातता है और जो परके द्वारा घाता जाता है वह प्रकृति है। इसे ही परघातकर्म कहते हैं। अतः हमारे उपदेश (मत) मे कोई भी जीव घात करनेवाला नहीं है क्योंकि कर्म ही दूसरेका घात करता है ऐसा कहा है ॥ इसप्रकार सांख्यमतका उपदेश है। जो श्रमण इसप्रकार का उपदेश करते हैं उनके

---

१ 'जीवो उवघादगो' –ता० । २ 'तुह्म' ता० । ३ –'भणंतस्स' –ता० । ४ 'भणसि'–ता० ।

मतमे जो कुछ करती है प्रकृति ही करती है। आत्मा तो सब अकारक ही हैं कुछ नहीं करते हैं॥

अथवा यदि तू ऐसा मानता है कि मेरा आत्मा स्वयं ही आत्माको करता है तो ऐसा जाननेवाला तेरा यह स्वभाव भी मिथ्या है। क्योंकि आगममे आत्माको नित्य असंख्यात प्रदेशी कहा है। उसे उससे हीन अथवा अधिक नहीं किया जा सकता। तथा विस्तारकी अपेक्षा जीवको लोक प्रमाण जानना चाहिये। उससे क्या वह हीन अथवा अधिक होता है? यदि नही होता तो आत्मा आत्मद्रव्यका कर्ता कैसे हुआ? अथवा यदि ऐसा मानता है कि ज्ञायक भाव तो ज्ञानस्वभावसे स्थित रहता है तो आत्मा स्वयं आत्माका कर्ता नहीं है, यह स्थिर हुआ।

आगे क्षणिकवादका निषेध करते हैं—

केहिंचि दु पजएहिं विणस्सदे णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयतो ॥३४५॥
केहिंचि दु पज्जएहि विणस्सदे णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४६॥
जो चेव कुणदि सो[1] चिय ण वेदए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४७॥
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४८॥

चूंकि जीव कतिपय पर्यायोंकी अपेक्षा नाशको प्राप्त होता है और कुछ पर्यायोंकी अपेक्षा नाशको नहीं प्राप्त होता, अतः जो भोगता है वही करता है अथवा अन्य करता है ऐसा एकान्त नहीं है। तथा चूंकि जीव कुछ पर्यायोंकी अपेक्षा नाशको प्राप्त होता है और कुछ पर्यायोंकी अपेक्षा नाशको नहीं प्राप्त होता। अतः जो करता है वही भोगता है अथवा दूसरा ही भोगता है ऐसा एकान्त नहीं है। जो करता है वही नहीं भोगता, ऐसा जिसका सिद्धान्त है, वह जीव मिथ्यादृष्टी और अनार्हत (अर्हन्त भगवानके मतको न माननेवाला) है। अन्य करता है और अन्य भोगता है, जिसका ऐसा सिद्धान्त है उस जीवको मिथ्यादृष्टी और अनार्हत जानना चाहिये। [आशय यह है कि बौद्ध मतवाले प्रत्येक वस्तुको क्षणिक मानते है॥ क्षण क्षणमें वस्तु नष्ट होती

---

१ 'सो चेव वेदको'–ता० वृत्तौ।

है और नई उत्पन्न होती है ऐसा उनका सिद्धांत है। ऐसी स्थितिमें जो करता है वह भोगता नहीं है और जो भोगता है वह कर्ता नहीं है। किन्तु जैन सिद्धान्तमें प्रत्येक वस्तु द्रव्य दृष्टिसे नित्य और पर्याय दृष्टिसे अनित्य है। अतः जो करता है वही भोगता है या जो भोगता है वही करता है ऐसा एकान्त नहीं है; क्योंकि पर्याय दृष्टिसे करनेवाला जुदा है और भोगनेवाला जुदा है। तथा कर्ता दूसरा है और भोगता दूसरा है ऐसा भी एकान्त नहीं; क्योंकि द्रव्य दृष्टिसे जो करता है वही भोगता है।

आगे कहते हैं कि—व्यवहार दृष्टिसे कर्ताकर्म भिन्न हैं किन्तु निश्चय दृष्टिसे दोनों एक है—

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥३४९॥
जह सिप्पिओ दु करणेहि कुव्वदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥३५०॥
जह सिप्पिओ दु करणाणि गिण्हदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणाणि दु गिण्हदि ण य तम्मओ होदि ॥३५१॥
जह सिप्पिओ कम्मफलं भुंजइ ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होदि ॥३५२॥
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि ॥३५३॥
जह सिप्पिओ दु चिट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो से।
तह जीवो विं य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो से ॥३५४॥
जह चिट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्च दुक्खिदो होदि।
तत्तो सिया अणण्णो तह चिट्ठंतो दुही जीवो ॥३५५॥

जैसे शिल्पी (कारीगर) कुण्डल आदि कर्मको करता है अर्थात् सोनेके कुण्डल वगैरह बनाता है, किन्तु वह कुण्डलमय नहीं हो जाता। वैसे ही जीव भी पुण्य पाप रूप कर्मको करता है; किन्तु वह पुद्गल कर्ममय नहीं होता। जैसे शिल्पी हथौड़ा आदिके द्वारा कर्म करता है किन्तु हथौड़ा आदि मय नहीं होता, वैसे ही जीव मन वचन कायके व्यापार रूप योगके द्वारा कर्मको करता है किन्तु तन्मय नहीं हो जाता। जैसे शिल्पी हथौड़ा आदि उपकरणोंको ग्रहण करता है किन्तु तन्मय नहीं होता। वैसे ही

जीव योगरूप करणोंको ग्रहण करता है किन्तु तन्मय नही होता। जैसे शिल्पी अपने द्वारा बनाये गये कुण्डलादिका फल भोगता है किन्तु फलमय नहीं हो जाता, वैसे ही जीव कर्मफलको भोगता है किन्तु तन्मय नही होता। इस प्रकार व्यवहार नयका दर्शन संक्षेपसे कहा। अब निश्चयनय-का कथन सुनो जो परिणामविषयक है। जैसे शिल्पी चेष्टा करता है अर्थात् मनमें विचारता है कि मै इस तरहसे कुण्डलादि बनाता हूँ और वह उस चेष्टासे अनन्य होता है। वैसे ही जीव भी अपने परिणाम रूप कर्मको करता है और वह उससे अनन्य होता है। जैसे शिल्पी उक्त चेष्टा करता हुआ मानसिक खेदसे सदा दुखो होता है और वह उस दु.खसे अभिन्न होता है, वैसे ही अपने परिणामोको करता हुआ जीव भी दु:खी होता है।

दृष्टान्तपूर्वक व्यवहार और निश्चयका पुनः कथन करते है--

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया य सा होदि।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह पस्सगो दु ण परस्स पस्सगो पस्सगो सो दु ॥३५७॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सो दु ॥३५८॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सो होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं त तु ॥३५९॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणदि णादा वि सयेण भावेण ॥३६१॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सदि जीवो वि सयेण भावेण ॥३६२॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहइ[1] णादा वि सयेण भावेण ॥३६३॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मादिट्ठी सहावेण ॥३६४॥

---
१ विरमदि--ता० वृत्तौ।

एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो ॥३६५॥

जैसे खिरिया मिट्टी पर अर्थात् भीत आदिकी नहीं है, खिरिया मिट्टी तो खिरिया मिट्टी ही है। वैसे ही ज्ञायक अर्थात् जानने वाला आत्मा परका नहीं है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। जैसे खिरिया मिट्टी परकी नहीं है, खिरिया मिट्टी तो खिरिया मिट्टी ही है। वैसे ही दर्शक अर्थात् देखने वाला आत्मा परका नहीं है, दर्शक तो दर्शक ही है। जैसे खिरिया मिट्टी परकी नहीं है, खिरिया मिट्टी तो खिरिया मिट्टी ही है। वैसे ही संयमी आत्मा परका नहीं है, संयमी तो संयमी ही है। जैसे खिरिया मिट्टी परकी नहीं है, खिरिया मिट्टी तो खिरिया मिट्टी ही है। वैसे ही दर्शन अर्थात् श्रद्धान परका नहीं है, दर्शन तो दर्शन ही है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्रके विषयमें निश्चयनयका कथन है। अब उसके सम्बन्धमें संक्षेपसे व्यवहारनयका कथन सुनो।

जैसे खिरिया मिट्टी अपने स्वभावसे पर द्रव्य दीवार आदिको सफेद करती है वैसे ही ज्ञाता भी अपने स्वभावसे पर द्रव्यको जानता है। जैसे खिरिया मिट्टी अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है वैसे ही जीव अपने स्वभावसे परद्रव्यको देखता है। जैसे खिरिया मिट्टी अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है वैसे ही ज्ञाता भी अपने स्वभावसे परद्रव्यका त्याग करता है। जैसे खिरिया मिट्टी अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि स्वभावसे परद्रव्यका श्रद्धान करता है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्रके विषयमें व्यवहारनयका निर्णय कहा। अन्य पर्यायोंके विषय में भी ऐसा ही जानना चाहिये।

सम्यग्दृष्टिका पर द्रव्योंमें राग न होने का कारण—

दंसण-णाण-चरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे विसये ।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥३६६॥
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे कम्मे ।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्मि ॥३६७॥
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे काये ।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥३६८॥

णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स।
ण[1] वि तहिं पोग्गलदव्वस्स को वि घादो दु णिद्दिट्ठो ॥२६६॥
जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु ॥२७०॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा ।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादि ॥२७१॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र रंचमात्र भी अचेतन विषयमें नहीं है। अतः आत्मा उन अचेतन विषयोंमें किसका घात करता है, अर्थात् किसीका भी नहीं। दर्शन ज्ञान चारित्र अचेतन कर्ममें रंचमात्र भी नहीं है। अतः आत्मा अचेतन कर्ममे किसका घात कर सकता है ? दर्शन ज्ञान चारित्र अचेतन कायमे रंचमात्र भी नहीं हैं। अतः आत्मा कायमे क्या घात सकता है ? घात ज्ञानका दर्शनका और चारित्रका कहा है। पुद्गल द्रव्यका वहाँ जरा घात नहीं कहा।अर्थात् ज्ञान दर्शन और चारित्रका घात होने पर पुद्गल द्रव्यका जरा भी घात नहीं होता। इस तरह जीवके जो कोई गुण हैं वे परद्रव्योंमे नहीं हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टिका विषयोंमे राग नहीं है। राग द्वेष मोह जीवके ही अनन्य परिणाम हैं। इसलिये शब्दादि विषयोंमे रागादि नहीं हैं।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके गुणोंको उत्पन्न नहीं करता–

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरदे गु[2]णुप्पादो।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जते सहावेण ॥२७२॥

अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणोंकी उत्पत्ति नहीं की जा सकती। अतः सब द्रव्य अपने अपने स्वभावसे उत्पन्न होते हैं।

णिंदिद-संथुद-वयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि ।
ताणि सुणिदूण रूसदि तूसदि य पुणो अहं भणिद। ॥२७३॥
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणद तस्स जदि गुणो अण्णो।
तम्हा ण तुमं भणिदो किंचि वि किं रूससि अबुहो ॥२७४॥
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणदि सुणसु मति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदु सोदविसयमागदं सद्दं ॥२७५॥

---

१ ण वि तम्हि कोवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो'–ता० वृ०।
२ 'गुणविघाद'–ता० वृ०।

असुहं सुहं व रूव ण तं भणदि पिच्छ मति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदु' चक्खुविसयमागदं रूवं ॥३७६॥
असुहो सुहो व गंधो ण त भणदि जिग्घ मति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदु' घाणविसयमागदं गंध ॥३७७॥
असुहो सुहो व रसो ण भणदि रसय मति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदु' रसणविसयमागदं तु रसं ॥३७८॥
असुहो सुहो व फासो ण तं भणदि फुससु मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदु' कायविसयमागदं फासं ॥३७९॥
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदु' बुद्धिविसयमागदं तु गुणं ॥३८०॥
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदु' बुद्धिविसयमागदं दव्वं ॥३८१॥
एवं[1] तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥३८२॥

निंदा और स्तुति वचन रूप बहुतसे पुद्गल परिणत होते हैं। उनको सुनकर अज्ञानी जीव 'मुझे कहे है' ऐसा मानकर गुस्सा करता है अथवा खुश होता है। पुद्गल द्रव्य शब्द रूप परिणमन करता है। यदि उसका गुण तुझसे भिन्न है तो तुझे कुछ भी नहीं कहा, तू अज्ञानी होता हुआ क्यों रोप करता है। शुभ अथवा अशुभ शब्द तुझसे यह नहीं कहते कि हमें सुनो। और आत्मा भी श्रोत्र के विषय रूपसे आये हुए शब्दोंको ग्रहण करनेको नहीं जाता। शुभ अथवा अशुभ गंध तुझसे नहीं कहते कि मुझे सूँघ। आत्मा भी घ्राण इन्द्रियके विषय रूपसे आये हुए गन्धको सूँघनेको नहीं जाता। अशुभ अथवा शुभ रस तुझसे नहीं कहता कि मुझे चाख। और आत्मा भी रसना इन्द्रियके विपय रूपसे आये हुए रसको ग्रहण करनेको नहीं जाता। अशुभ अथवा शुभ स्पर्श तुझसे नहीं कहता कि मुझे स्पर्श कर। और आत्मा भी स्पर्शन इन्द्रियके विपय रूपसे आये हुए स्पर्शको ग्रहण करनेको नहीं जाता। अशुभ अथवा शुभ गुण तुझसे नहीं कहता कि मुझे जान। और आत्मा भी बुद्धिके विषय रूपसे आये हुए गुणको ग्रहण करनेको नहीं जाता। अशुभ अथवा शुभ द्रव्य तुझसे नहीं कहता कि मुझे जान। और आत्मा भी बुद्धिके विपय रूपसे आये हुए

१ 'एवं तु जाणिदव्वस्स उवसमेणेव गच्छदे मूढो —ता० वृ०।

द्रव्यको ग्रहण करनेको नहीं जाता। ऐसा जानकर भी यह मूढ़ जीव उपशम (शान्त) भावको प्राप्त नहीं होता। और कल्याणकारी बुद्धिको प्राप्त न करता हुआ स्वयं पर वस्तुको ग्रहण करनेका मन रखता है।

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का स्वरूप

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥३८३॥
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झइ भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा ॥३८४॥
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपदि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेददि सो खलु आलोयणं चेदा ॥३८५॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चं[1] पडिक्कमदि जो य।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा ॥३८६॥

पूर्वमे किया हुआ जो अनेक प्रकारका विस्तार वाला शुभ और अशुभ कर्म है उससे जो आत्माको निवृत्त करता है अर्थात् दूर हटाता है वह आत्मा प्रतिक्रमण स्वरूप है। भविष्यमे जो शुभ और अशुभ कर्म जिस भावमे बंधको प्राप्त होगा, उस भावसे जो आत्माको दूर करता है वह आत्मा प्रत्याख्यान है। वर्तमानमे उदयको प्राप्त हुआ तथा अनेक प्रकारका विस्तार वाला जो शुभ और अशुभ कर्म है, उस दोषको जो आत्मा अनुभव करता है वह आत्मा आलोचना है। जो सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता, है वह आत्मा चारित्र है। [आशय यह है कि चारित्रमे प्रतिदिन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना करनेका विधान है। पहले लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिको प्रतिक्रमण कहते हैं। भविष्यमे लगनेवाले दोषोंके त्यागको प्रत्याख्यान कहते हैं। और वर्तमान दोषोंकी विशुद्धिको आलोचना कहते हैं। चूँकि यहाँ निश्चय चारित्रका कथन है अतः यहाँ निश्चय प्रतिक्रमणादिका स्वरूप बतलाया है]

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८७॥
वेदंतो कम्मफलं मए कदं मुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८८॥

१—'णिच्चं पि जो पडिक्कमदि'—ता० वृ०।

वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।
सो तं पुणो वि बंधदि वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८६॥

कर्मोंके फलको भोगता हुआ जो जीव कर्म फलको अपने रूप करता है, वह दुःखके बीजरूप आठ प्रकारके कर्मका फिर भी बंध करता है। कर्मफलका वेदन करनेवाला जो जीव ऐसा मानता है कि यह कर्मफल मैंने किया है, वह दुःखके बीजरूप आठ प्रकारके कर्मोंको फिर भी बाँधता है। कर्मोंके फलको भोगता हुआ जो जीव सुखी अथवा दुखी होता है, वह दुःखके बीजरूप आठ प्रकारके कर्मका फिर भी बंध करता है।

आगे ज्ञानको सब वस्तुओंसे भिन्न बतलाते हैं—

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण जाणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥३९०॥
सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण जाणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥३९१॥
रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण जाणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥३९२॥
वण्णो णाणं न हवदि जम्हा वण्णो ण जाणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥३९३॥
गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण जाणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥३९४॥
ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण जाणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति ॥३९५॥
फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो ण जाणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥३९६॥
कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण जाणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥३९७॥
धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण जाणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाण अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥३९८॥
णाणमधम्मो ण हवदि जम्हा धम्मो ण जाणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाण अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥३९९॥
कालो णाण ण हवदि जम्हा कालो ण जाणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति ॥४००॥

आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण जाणदे किंचि ।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥४०१॥
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा ।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्ण ॥४०२॥
जम्हा जाणदि णिच्च तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४०३॥
णाणं सम्मादिट्ठी दु संजमं सुत्तमगपुव्वगयं ।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ॥४०४॥

शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ भी नहीं जानता। अतः शास्त्र अन्य है और ज्ञान अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द किञ्चित् भी नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप किचित् भी नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण किञ्चित् भी नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। गन्ध ज्ञान नहीं है क्योंकि गन्ध किञ्चित् भी नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और गन्ध अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। रस ज्ञान नहीं है क्योंकि रस किञ्चित् भी नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और रस अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श रंचमात्र भी नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म किञ्चित भी नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। धर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म किञ्चित् भी नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और धर्म अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। अधर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म किञ्चित् भी नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और अधर्म अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। काल ज्ञान नहीं है क्योंकि काल किञ्चित् भी नहीं जानता। अतः ज्ञान अन्य है और काल अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश जरा भी नहीं जानता। अतः आकाश अन्य है और ज्ञान अन्य है ऐसा जिनदेव कहते है। अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान अचेतन है। अतः अध्यवसान अन्य है और ज्ञान अन्य है। किन्तु चूँकि जीव सदा जानता है इसलिये ज्ञायक जीव

ज्ञानी है। और ज्ञानको ज्ञायकसे अभिन्न जानना चाहिये। ज्ञानीजन ज्ञानको ही सम्यग्दृष्टि, ज्ञानको ही संयम, ज्ञानको ही अंग और पूर्व रूप सूत्र, ज्ञानको ही धर्म अधर्म और ज्ञानको ही प्रव्रज्या मानते हैं।

आत्मा न कुछ ग्रहण करता है और न कुछ छोडता है —

अत्ता जस्स अमुत्तो ण हु सो आहारओ हवदि एवं।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पोग्गलमओ दु ॥४०५॥
ण वि सक्कदि घित्तुं जं ण विमोत्तुं जं च जं परद्दव्वं।[1]
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि ॥४०६॥
तम्हा दु जो विसुद्धो चेया सो चेव गिण्हए किंचि।
णेव विमुचइ किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाण ॥४०७॥

इस प्रकार जिसका आत्मा अमूर्तिक है वह आहारक नहीं है। आहार मूर्तिक है क्योंकि वह पौद्गलिक है। जो पर द्रव्य है उसे न वह ग्रहण कर सकता है और न वह छोड़ सकता है। उस आत्माका ऐसा कोई प्रायोगिक अथवा स्वाभाविक गुण है। अतः जो विशुद्ध आत्मा है वह जीव और अजीव द्रव्योंमेसे न तो कुछ ग्रहण ही करता है और न कुछ छोड़ता ही है।

आगे कहते हैं कि केवल द्रव्य लिंग मोक्षका कारण नहीं है—

पासंडीलिंगाणि[2] व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥४०८॥
ण दु होइ मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसण-णाण-चरित्ताणि सेवंति ॥४०९॥

बहुत प्रकारके मुनिलिंगोको अथवा गृहस्थलिंगोंको धारण करके मूढ़जन ऐसा कहते हैं कि यह लिंग मोक्षका मार्ग है। परन्तु लिंग मोक्षका मार्ग नहीं है। क्योंकि शरीरसे ममत्व न रखनेवाले अर्हन्तदेव लिंगको छोड़कर दर्शन, ज्ञान और चारित्रका सेवन करते हैं।

दर्शन ज्ञान और चारित्र ही मोक्षका मार्ग है—

ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडी गिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसण-णाण-चरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४१०॥

मुनियों और गृहस्थोंके लिंग, ये मोक्षका मार्ग नहीं हैं। जिनदेवने दर्शन ज्ञान और चारित्रको मोक्षका मार्ग कहा है।

---

१ 'जं ण मुचदे चेव जं परं दव्वं'—ता० वृ०। २ पाखंडिय—ता० वृ०।

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिदे।
दंसण-णाण-चरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४११॥

चूँकि द्रव्यलिग मोक्षका मार्ग नहीं है अतः गृहस्थों और मुनियोंके द्वारा गृहीत लिगको छोड़कर मोक्षके मार्ग दर्शन, ज्ञान और चारित्रमे आत्माको लगा।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं[1] चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥

हे भव्य! मोक्ष मार्गमे आत्माको स्थापित कर, उसीका ध्यान कर, उसीका अनुभव कर तथा उसीमे सदा विहार कर, अन्य द्रव्योंमे विहार मत कर।

लिंगके मोही समयसारको नहीं जानते–

पासंडीलिंगेसु[2] व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णायं समयसारं ॥४१३॥

जो बहुत प्रकारके मुनिलिङ्गोंमे अथवा गृहस्थ लिंगोंमें ममत्व करते हैं उन्होंने समयसारको नहीं जाना।

लिंगके विषयमें व्यवहार और निश्चयनयका मत

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण[3] इच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

व्यवहारनय मुनिलिंग और गृहीलिग दोनोंको ही मोक्षका मार्ग कहता है। किन्तु निश्चयनय मोक्षके मार्गमें सब लिगोंको (किसी भी लिगको) नहीं चाहता।

समयसार ग्रन्थका महत्व

जो समयपाहुडमिणं पढिदूण य अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाहिदि चेदा सो पावदि[4] उत्तमं सोक्खं ॥४१५॥

जो आत्मा इस समय प्राभृतको पढ़कर और अर्थ तथा तत्त्व रूपसे उसे जानकर उसके अर्थमें स्थिर होता है वह उत्तम सुखको प्राप्त करता है।

---

१ 'ठवेहि वेदयदि झायहि'–ता० वृ०। २–पाखंडी–ता० वृ०। ३–णओ दु णिच्छदि–ता० वृ०। ४ होहि–पाठान्तरम्।

कुन्द-कुन्द प्राभृत संग्रहके पारिभाषिक तथा विशिष्ट शब्दोंकी सूची

ऊ

ए

औ

क

ख

ग

घ

त

द

ह

नामसूची

२४ तीर्थङ्करों के नाम

१ ऋषभ, २ अजित, ३ संभव, ४ अभिनन्दन, ५ सुमति, ६ पद्मप्रभ, ७ सुपार्श्व, ८ चन्द्रप्रभ, ९ सुविधि, या पुष्पदन्त, १० शीतल, ११ श्रेय, १२ वासुपूज्य, १३ विमल, १४ अनंत, १५ धर्म, १६ शान्ति, १७ कुन्थु, १८ अर, १६ मल्लि, २० सुव्रत, २१ नमि, २२ अरिष्ट नेमि, २४ पार्श्व और २४ वर्धमान। पृ० १५५

अंगों और पूर्वोंके नाम

आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्या प्रज्ञप्ति, नाथधर्मकथा या ज्ञातृ धर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरोपपाद दश, प्रश्न व्याकरण, विपाक सूत्र और दृष्टिवाद ये बारह अंगोंके नाम हैं। दृष्टिवादके पाँच भेद है—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग पूर्व और चूलिका। पूर्वके चौदह भेद है—उत्पाद पूर्व अग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्ति नास्ति प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्य-प्रवाद, आत्म प्रवाद, कर्म प्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याण नाम, प्राणावाद, क्रियाविशाल और लोक-विन्दुसार पृ० १५६

मुनियोंके नाम

निर्वाण भक्तिमें आगत पुराण पुरुषों तथा तीर्थ स्थानोंकी नामावली